व्यक्तिवादी एवं नियतिवादी
चेतना के संदर्भ में
उपन्यासकार भगवतीचरण वर्मा

रविशंकर विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० उपाधि के लिए
स्वीकृत शोध-प्रबन्ध

६१-एफ, कमलानगर, दिल्ली-११०००७

उपन्यासकार भगवतीचरण वर्मा

व्यक्तिवादी एवं नियतिवादी चेतना के संदर्भ में

डॉ० रमाकान्त श्रीवास्तव

दीपा (पत्नी) को

प्राक्कथन

प्रस्तुत ग्रंथ 'व्यक्तिवादी एवं नियतिवादी चेतना के संदर्भ में उपन्यासकार भगवतीचरण वर्मा' मेरा शोध-प्रबंध है। प्रबंध का मूल शीर्षक 'व्यक्तिवादी एवं नियतिवादी चेतना के संदर्भ में भगवतीचरण वर्मा के उपन्यासों का अनुशीलन' था, जिसपर रविशंकर विश्वविद्यालय, रायपुर (मध्य प्रदेश) से पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गई। शोध-प्रबंध कुछ परिवर्तन-परिवर्धन के साथ आपके हाथ में है।

भगवती बाबू हिन्दी के श्रेष्ठ उपन्यासकारों में हैं। उनके संपूर्ण साहित्य में व्यक्तिवादी और नियतिवादी विचारधारा के दर्शन होते हैं। इस विचारधारा को भगवती बाबू अपनी जन्मजात सहज प्रवृत्ति मानते है। स्पष्ट है कि भगवती बाबू के कृतित्व का मूल्यांकन व्यक्तिवादी और नियतिवादी दर्शन और उस दर्शन की शास्त्रीयता से हटकर स्वयं उनके दृष्टिकोण को समझे बिना असंभव है। मेरा प्रयास रहा है कि व्यक्तिवाद और नियतिवाद की विचार-वीथियों का अवलोकन अवश्य हो किन्तु मैं मुख्यत: उनके दृष्टिकोण को सामने रखूं। भगवती बाबू के दृष्टिकोण से मेरा तात्पर्य है—उनकी कृतियों को पढ़कर समीक्षक ने जो समझा और स्वयं भगवती बाबू का उस संदर्भ में मत।

व्यक्तिवादी और नियतिवादी विचारधाराओं के शास्त्रीय पक्ष का अधिक मंथन मेरे विषय के अनुकूल नहीं था अत: प्रथम अध्याय में मैंने इन विचार-धाराओं का सामान्य परिचय ही दिया है और यह पड़ताल करने का प्रयास किया है कि पूर्वी और पश्चिमी मानस को इन दर्शनों ने किस तरह प्रभावित किया है। भगवती बाबू के संपूर्ण कृतित्व पर यदि दृष्टिपात किया जाय तो यह समझना सरल हो जाता है कि वे अपनी सहज प्रवृत्ति से ही नियतिवादी हैं। उन्होंने काफी लिखा है और हर विधा मे लिखा है। दूसरे अध्याय में उनके सर्जन सामर्थ्य के विविध आयामों को इसी आधार पर परखा गया है। तीसरे अध्याय में भगवती

बाबू की 'पतन' से लेकर 'प्रश्न और मरीचिका' तक की कथायात्रा का विवरण है। उनके उपन्यासों पर चर्चा करते समय मैंने उनकी मूल चेतना को पकड़ने का प्रयास किया है। उपन्यासों के कथ्य जगत् की विस्तृत चर्चा चौथे अध्याय में है। जिन प्रश्नों को भगवती बाबू ने अपने उपन्यासों में बार-बार उठाया है उनका विश्लेषण इसमें हो सका है।

पांचवें और छठे अध्याय में उपन्यासों के वस्तु-संगठन और चरित्र-सृष्टि पर विचार किया गया है। भगवती बाबू के पात्र उनकी व्यक्तिवादी और नियति-वादी चेतना से आकार ग्रहण करते हैं। छठे अध्याय में शास्त्रीयता का मोह त्याग कर काफी कुछ नया कहने का मैंने प्रयास किया है। भगवती बाबू हिन्दी के उन लेखकों में हैं जिनकी कृतियों के कैनवास विशाल रहे हैं और उनपर भारतीय समाज अपनी कितनी ही समस्याओं के साथ अंकित है। सामाजिक परिवेश और उसकी समस्याओं के प्रति भगवती बाबू के दृष्टिकोण की चर्चा सातवें अध्याय में की गई है। आठवें अध्याय मे भगवती बाबू के आधुनिकता-बोध तथा नौंवे में आव-धिक उपन्यासों पर विचार किया गया है। दसवे अध्याय में भाषा-शैली पर चर्चा विशेषकर इस दृष्टि से की गई है कि उपन्यासकार के जीवन-दर्शन ने उसकी शैली को किस तरह प्रभावित किया है। अंतिम अध्याय में भगवती बाबू के समकालीन उपन्यास-लेखकों से उनकी तुलना करते हुए उनका मूल्यांकन किया गया है।

परिशिष्ट में भगवती बाबू के वे पत्र संकलित हैं जो उन्होंने प्रश्नों के उत्तर देने के लिए लिखे। साथ ही है इन पंक्तियों के लेखक के साथ एक खुली बातचीत। साक्षात्कार में मैंने भगवती बाबू से आज के कुछ ज्वलंत प्रश्न भी पूछे ताकि उन महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर भी उनके विचार इस पुस्तक में प्राप्त हो सकें। इस बीच भगवती बाबू की नवीनतम कहानियों का संकलन 'मोर्चाबंदी' प्रकाशित हुआ अत: उसपर एक टिप्पणी भी परिशिष्ट में जोड़ दी गई है।

भगवती बाबू के कथा-सागर में गोते लगाते समय मैंने कई बार भगवती बाबू को अपने अनुभवो का सहभागी बनाया। पत्रों के द्वारा मेरे प्रश्नों और सशंयों का निवारण करना उनके जैसे व्यस्त व्यक्ति के लिए कितना भारी कार्य था इसकी कल्पना की जा सकती है। उन्होंने पत्रों तथा साक्षात्कार के माध्यम से मेरे प्रश्नों का समाधान किया इससे मेरा कार्य सुगम तो हुआ ही साथ ही उसे गरिमा भी मिली। उन्हें मैं जितने भी धन्यवाद दूं कम है।

शोध-प्रबंध लिखते समय अग्रजतुल्य, मेरे निर्देशक डॉ० हरिशंकर शुक्ल (हिन्दी विभाग, दुर्गा महाविद्यालय, रायपुर) मेरे अंतर्वर्ती प्रेरणा स्रोत रहे हैं। उनके कुशल मार्ग-दर्शन में ही यह कार्य संभव हो सका। वे मेरे अत्यंत आत्मीय हैं और हमारे संबंधों में औपचारिकता नहीं है किन्तु उनके और मनोरमा भाभी के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित किये बिना मैं कर्त्तव्य-भार से मुक्त नहीं हो सकता।

इस प्रबंध का अधिकांश खैरागढ़ में रहकर लिखा गया है। खैरागढ़ जैसी छोटी जगह की अपनी समस्याएं होती हैं जिनसे निपटने में मेरे मित्र श्री दिलीप कुमार घोष रजिस्ट्रार, इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, (खैरागढ़) सदैव सहायक हुए। श्री शशिकुमार गहरवाल ने अत्यंत श्रमपूर्वक टंकण-कार्य किया। मेरे आत्मीय बंधु लाल चंद्रकुमार सिंह और पूर्णिमा भाभी का सहयोग मैं जीवन-भर नहीं भूल सकता। इस कार्य में मेरे छात्र इंद्र कुमार जैन, दिलीप नामदेव और रमेश पंवार ने भी हाथ बंटाया। इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ तथा सागर विश्वविद्यालय के ग्रंथालय अधिकारियों का सहयोग भी अविस्मरणीय है। मेरे मित्र श्री शम्भूदयाल श्रीवास्तव 'स्तव' ने इस ग्रंथ का मुखपृष्ठ बनाकर मेरे आग्रह की रक्षा की। इन सभी सज्जनों को मैं हृदय की गहराई से धन्यवाद देता हूं।

वाणी प्रकाशन के महेशजी ने ग्रंथ के प्रकाशन का कार्य शीघ्रता से पूरा किया इसके लिये वे भी हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं।

अंत में···मेरे अनुज श्रीकांत ने अपनी समस्त व्यस्तताओं के उपरांत समय-समय पर जो तत्परतापूर्ण सहयोग दिया और दीपा (पत्नी) ने ग्रंथ लेखन के दौरान मुझे सारी चिन्ताओं से मुक्त रखा इसके लिये··· (क्या 'धन्यवाद' शब्द छोटा नहीं ?)

रमाकांत श्रीवास्तव

संवत् २०३४
चंद्र कुटीर
खैरागढ़

विषय सूची

अध्याय १

हिन्दी उपन्यास की विकास यात्रा के व्यक्तिवादी एवं नियतिवादी स्वर

व्यक्तिवाद और उसकी परिव्याप्ति

व्यक्तिवाद न केवल एक विचारधारा और दर्शन है बल्कि एक जीवन पद्धति भी है। यह विचारधारा जीवन-पद्धति का रूप अपने व्यापक प्रभाव के कारण धारण कर सकी। न केवल चिंतन के क्षेत्र को बल्कि राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्र को भी इस जीवन-दर्शन ने प्रभावित किया। समाज और व्यक्ति के रिश्ते तथा समाज के स्वरूप पर इस विचारधारा ने गहराई से विचार किया है। आज सम्पूर्ण विश्व दो खेमों में विभाजित है, इसका कारण भी विश्व में व्याप्त व्यष्टि-मूलक और समष्टिमूलक विचारधाराएं हैं। सम्पूर्ण प्रजातांत्रिक ढांचे का आधार ही व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा व्यक्ति की गरिमा का स्वीकार है। व्यक्ति के मौलिक अधिकार इस विचारधारा का परिष्कृत रूप तथा ठोस उपलब्धि है।

व्यक्तिवाद का जन्म

व्यक्तिवाद का प्रारम्भ यूरोप में हुआ। प्रचलित शब्द 'व्यक्तिवाद' अंग्रेजी शब्द 'इनडिवीजुअलिज्म' का अनुवाद है। सबसे पहले व्यक्तिवाद शब्द का प्रयोग राजनीति के क्षेत्र में हुआ। धीरे-धीरे आर्थिक, सामाजिक, नैतिक और साहित्यिक क्षेत्र में भी यह विचार, नीति और जीवन-दर्शन के रूप में उभरा। यों तो कुछ दार्शनिक और नैतिक प्रश्नों के आधार पर व्यक्तिवादी चिंतन की झलक प्रौटे-गोरस जैसे दार्शनिक के सिद्धांतों और इपीक्यूरियन विचारधारा में प्राप्त होती है किन्तु इसे सामाजिक क्षेत्र में स्पष्टत: एक कार्यक्रम के रूप में स्थान आधुनिक युग में ही प्राप्त हुआ। राजनैतिक और इसीलिए सामाजिक क्षेत्र में भी —जाहिर है

कि राजनैतिक और सामाजिक समस्याओं को अलग करके देखना अब असंभव है—इस सिद्धांत को मूर्त रूप प्रदान करने में तीन विश्व-प्रसिद्ध-क्रांतियों का हाथ रहा है। व्यक्तिवादी विचारधारा को दार्शनिक चिंतन के स्तर से उतारकर ठोस यथार्थ पर स्थापित करने में 'अमेरिका की स्वातंत्र्य-क्रांति,' 'फ्रांस की राज्य-क्रांति' और 'यूरोप की औद्योगिक क्रांति' का सर्वाधिक हाथ रहा है।[1] वास्तव में परंपरा, व्यवस्था और संस्था के मुकाबले व्यक्ति की सत्ता का आरोपण उन्हीं क्रांतियों के द्वारा हुआ। मनुष्य व्यवस्थारूपी मशीन का एक पुर्जा नहीं है बल्कि सम्पूर्ण व्यवस्था ही उसकी सुख-सुविधा के लिए है—इस सिद्धांत का प्रतिपादन इन क्रांतियों के माध्यम से हुआ। अमेरिका के स्वातंत्र्य-संग्राम के अवसर पर टामस जैफर्सन द्वारा तैयार किए गए ऐतिहासिक घोषणा-पत्र की कुछ शर्तें मनुष्यमात्र के बुनियादी अधिकारों को सामने रखती हैं :

१. केवल अंग्रेज नहीं, सभी मनुष्य ईश्वरप्रदत्त कतिपय अविच्छेद्य अधिकारों से युक्त हैं। जिनमें जीवन, स्वतंत्रता और आनन्द की उपलब्धि मुख्य है।

२. सभी शासक अपनी उचित शक्तियों को शासितों की स्वीकृति से प्राप्त करते हैं।

३. अत्याचारी शासक को उलट देना और सर्वप्रिय शासन की, यदि आवश्यकता हो तो, अस्त्रों-शस्त्रों के बल से भी, स्थापना करना न्यायोचित है।

क्रांतियों का योगदान

सम्पूर्ण विश्व को प्रभावित करने वाली इन प्रसिद्ध क्रांतियों के पहले घोर सामंती युग था। सारे विश्व में राज्य और राजा के संबंध में दैवी सिद्धांत प्रचलित था जिसके अनुसार राजा ईश्वर का प्रतिनिधि था। सामान्य व्यक्ति के अधिकारों की कोई कल्पना नहीं थी किन्तु सत्रहवीं शताब्दी से जनशक्ति का जागरण हुआ और उसके विस्तार के प्रयास किए गए। जनशक्ति की पहली विजय इंग्लैंड मे हुई। चार्ल्स प्रथम को प्रजा के सामने आत्म-समर्पण करना पड़ा। इतना ही नहीं १६८८ में इंग्लैंड में राज्यक्रांति हुई और शासन पार्लियामेंट के हाथों में आ गया। सभ्यता के इतिहास में राजा के दैवी अधिकारों को नकारने की यह पहली घटना मानी जा सकती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि किसी भी प्रकार के शासन-तंत्र को मनुष्य की सुविधा के अनुसार तथा समय के अनुसार परिवर्तित किया जा सकता है।

अमेरिका का स्वातंत्र्य-संग्राम इस बात पर आधारित था कि किसी भी देश को किसी अन्य भूखण्ड को उपनिवेश का दर्जा देकर उसके शोषण का अधिकार नहीं है। विश्व में आधुनिक चिंतन के लिए मार्ग इसी संग्राम ने खोला। कितने

1. E. D. Breadly : Short History of the French Revolution, Page No. 1

ही विद्वान यह स्वीकार करते हैं कि यदि अमेरिका का स्वातंत्र्य-सग्राम न हुआ होता तो फ्रांस की राज्यक्राति और यूरोप की औद्योगिक क्रांति का त्वरित प्रभाव न हुआ होता। व्यक्ति-स्वातंत्र्य की भूमिका अमेरिका के इस संग्राम ने ही तैयार की। फ्रांस की राज्यक्रांति एक राजनैतिक घटनामात्र रह जाती यदि उसने व्यक्ति के अधिकारों की इतनी सशक्त वकालत न की होती। यह क्रांति केवल लुई सोलहवें को अपनी आंधी में उडाने मे ही समर्थ नही हुई बल्कि इसने समता, स्वतंत्रता, बंधुता जैसे शाश्वत सिद्धांतों की सुदृढ़ नीव डाली। यह कहना अत्युक्ति नहीं है कि सम्पूर्ण आधुनिक युग की जीवन-पद्धति और चितन के हर क्षेत्र को इस क्रांति से प्रेरणा मिली है।

यूरोप की औद्योगिक क्राति राजनैतिक क्रांति नही थी किन्तु यह एक बड़ा भारी सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन था। यह परिवर्तन इतना व्यापक और तीव्र था कि सारे समाज के सामाजिक और आर्थिक ढांचे को इसने प्रभावित किया। इसने मानव के चितन-क्षेत्र को भी प्रभावित किया। नवीन यंत्रो के आविष्कार ने मनुष्य की आस्था को प्राचीन परंपराओं से हटाकर विज्ञान की शक्ति पर केन्द्रित किया। उद्योगों ने समाज का शहरीकरण किया जिससे मनुष्य को एक बिलकुल नई जीवन-पद्धति को अपनाने के लिए बाध्य होना पड़ा। आपसी सबधों और परंपराओं पर मनुष्य ने नये सिरे से विचार किया। औद्योगीकरण ने आर्थिक क्षेत्र में भी व्यक्तिवादी चितन को प्रश्रय दिया।

इन क्रांतियों ने इतिहास को झकझोरा और व्यक्ति की गरिमा की-ओर मानव समुदाय को सोचने के लिए बाध्य किया। अठारहवी शताब्दी तक विचार-धारा बिलकुल स्पष्ट रूप धारण करके सामने आई। इस शताब्दी में मानववाद की जोरदार वकालत की गई। वाल्टेयर और रूसो जैसे विचारकों का गहरा प्रभाव इस काल में परिलक्षित होता है। ये दोनों ही विचारक मानव के अधिकारों के कट्टर समर्थक थे। वाल्टेयर ने अत्याचार और निरंकुशता का घोर विरोध किया। समाज में पनपने वाली व्यक्ति-संचालित अथवा सस्था-संचालित—किसी भी तरह की निरंकुशता को उसने गलत बताया। यूरोप में बुद्धिवाद को जो प्रश्रय मिला उसमें वाल्टेयर के विचार बड़े सहायक सिद्ध हुए। बुद्धिवाद और प्रत्यक्ष ज्ञान पर विश्वास करने की प्रवृत्ति ने ही चर्च और उसके पारलौकिक सिद्धांतों की साख गिराई। इस गिरती हुई साख को रूसो के विद्रोही साहित्य ने एक और गहरा धक्का दिया। यों रूसो ने किसी क्राति की ओर संकेत नही किया। उसे इस तरह की क्रांति की आशा भी न रही होगी किन्तु उसके विचारों ने मनुष्य के मस्तिष्क मे वे विचार-बीज छिड़के जिनसे क्रांति का अंकुर फूटा।[1]

---

1. Rousseau did not preaeh revolution, probably he did not expect one.

आधुनिक युग और व्यक्तिवाद

आज व्यक्तिवाद को एक विचारधारा के रूप मे मान्यता मिल चुकी है और विश्व भर मे इसका प्रसार-प्रचार है। आधुनिकता का सबसे बड़ा लक्षण व्यक्ति-स्वातंत्र्य माना जाता है। आज बोहेमियन जीवन के प्रति झुकाव तथा हिप्पीवाद का फैलाव व्यक्तिवादी विचारधारा की स्वीकृति का परिणाम है। अपने व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन के अनुसार, समाज के समस्त बधनों को तोडकर, जीवन बिताने की आकांक्षा इसके मूल मे विद्यमान है। आज समाज या सरकार को भी इससे किसी तरह की परेशानी नही होती। स्वीडन जैसे देश का समाज इस बात का प्रमाण है कि इस विचारधारा का चरम रूप भी आज किसी तरह की उलझनो या सघर्षो का कारण नही रह गया है। स्वीडन मे विवाह सस्था का करीब-करीब अंत हो गया है। किसी बच्चे का पिता कौन है इसके लिए वहा के समाज और सरकार को चिता नही होती क्योंकि वह बच्चा उस समाज में एक पूर्ण इकाई के रूप मे स्वीकृत है तथा उसके पालन का भार सरकार पर है। यह व्यक्तिवादी विचारधारा से ही सभव हो सका।

ईसापूर्व पांचवी शताब्दी के करीब ग्रीक विचारको द्वारा व्यक्तिवादी चितन की झलक मिली थी। इस चिंतन ने जब स्पष्ट रूप धारण किया तब राज्य और समाज के कानूनों तथा परपराओं ने व्यक्ति की स्वतंत्रता में बाधाएं उत्पन्न की। क्रांतियों ने इस बाधा को समाप्त किया। धीरे-धीरे यह चिंतन दार्शनिक जामा पहनकर पक्का हुआ और आज इसे पूर्ण मान्यता मिल चुकी है। व्यक्ति और समाज के सबंधो की छान-बीन करके व्यक्तिवादी दर्शन ने आज यह स्वीकार कर लिया है कि व्यक्ति अपने मे पूर्ण है किन्तु राज्य और समाज को आवश्यक बुराई के रूप में स्वीकार करना होगा।

व्यक्तिवाद मानव-स्वातंत्र्य के प्रश्न को हर दिशा से जोड़ता है और मानता है कि प्रत्येक मनुष्य अपने विषय में सबसे अच्छी तरह स्वयं ही सोच सकता है।[1] इस विचारधारा ने राजनीति, अर्थशास्त्र, धर्म, मनोविज्ञान, दर्शन और कला के क्षेत्रों को गहराई से प्रभावित किया। विभिन्न स्तरो पर व्यक्तिवादी चिंतन को

But his books and ideas certainly sowed the seed in men which blossomed out in revolution. The Glimpes of world History—Nehru, Page No. 338

1. The Individualistic theory of human nature holds that the interests of the normal adult are best served by allowing him maximum freedom and responsibility for choosing his objectives and means for obtaining them, and active accordingly.

Encyclopaedia Britannica. Volume 12, Page No. 162

किस तरह मान्यता प्राप्त हुई इसपर सक्षेप में विचार करने से व्यक्तिवाद की रूप-रेखा अधिक स्पष्ट हो सकेगी।

राजनैतिक व्यक्तिवाद

व्यक्तिवाद के लिए सर्वाधिक संवेदनशील क्षेत्र राजनीति का है। इसका प्रारम्भ भी राजनीति के क्षेत्र में ही हुआ। वस्तुत. व्यक्तिवादी दर्शन राजनैतिकवाद बनकर ही व्यावहारिक स्वरूप धारण करता है। व्यक्तिवाद का सीधा संबंध व्यक्ति और शासन के बीच स्वतंत्रता के सीमा-निर्धारण से है। व्यक्तिवाद का वैकल्पिक नाम 'स्वेच्छाचारिता' है। इसका उद्‌गम फ्रेंच शब्द 'लैसेज फेयर' (Laissz faire) से है जिसका अर्थ है—'रहने दो।' तात्पर्य यह है कि जो जैसा है उसे वैसा ही रहने दो। उसमे किसी तरह का हस्तक्षेप कही से न हो—विशेष कर शासन की ओर से। जैसा कि हम पहले विचार कर चुके है कि व्यक्तिवाद की अस्पष्ट रूपरेखा—स्फुट विचारो के रूप मे—काफी पहले से ही बन रही थी किन्तु राजनैतिक और सामाजिक सिद्धांत के रूप में यह आधुनिक युग की उपज है।

जान स्टुअर्ट मिल ने व्यक्तिवाद की रूप-रेखा अपनी पुस्तकों 'आन लिबर्टी' और 'रिप्रेजेंटेटिव गवर्नमेंट' के माध्यम से स्पष्ट की। मिल ने यह माना है कि राज्य न केवल नैसर्गिक सस्था है बल्कि उसी सस्था मे व्यक्ति को पूर्ण सुख मिल सकता है। यदि राज्य इस तरह का सुख नही दे सकता तो उसे अन्य सामाजिक व्यवस्थाओ को कार्य करने देना चाहिए।[1] मिल ने प्रत्येक व्यक्ति को अपना 'संरक्षक' घोषित करते हुए स्वतत्रता को इन शब्दो मे पारिभाषिक किया, "स्वतंत्रता केवल उसीको कहा जा सकता है कि हम निजी ढग से अपने निजी कल्याण का उस समय तक अनुमरण करते रहें जब तक हम अन्यो को वंचित करने की चेष्टा नही करते अथवा अन्य लोगों के लाभों की प्राप्ति के लिए उनके निजी यत्नो में बाधा नही डालते। प्रत्येक व्यक्ति अपने शारीरिक, मानसिक एव आध्यात्मिक स्वास्थ्य का सबसे अच्छा सरक्षक है।" मिल हर तरह के व्यक्ति—यहा तक कि झक्की व्यक्ति तक को समूह के अत्याचार से सरक्षण देने की कल्पना करता है।

व्यक्तिवाद का चरम स्वरूप (Absolute indıviduatısm) हर्बर्ट स्पेन्सर के विचारों मे दिखलाई पड़ता है। अपनी विचारधारा के पक्ष मे उसने वैज्ञानिक तर्क दिया। डार्विन के विकासवाद के आधार पर उसने राज्य को एक आवश्यक सस्था वतलाया। उसने कहा कि मानव-सभ्यता का विकास इस तरह हुआ है कि

---

1 C. E. M. Joad : Indıvıdualısm—Modern polıtıcal Theory, Page No. 24

मनुष्य को एक विकसित वातावरण, सगठित समाज राज्य के रूप में ही प्राप्त हो सकता है। जब राज्य का बनना एक अनिवार्य स्थिति है तो ऐसी स्थिति में व्यक्ति की स्वतंत्रता के प्रति सजगता आवश्यक है। 'अस्तित्व के लिए संघर्ष' (Struggle for exislence) और 'योग्यतम ही जिये' (Survival of the fittest)—इन सिद्धांतो को ही उसने सामाजिक व्यवस्था का चरम सत्य माना। हर किसी-को बिलकुल स्वतंत्र छोड़ दिया जाए तो राज्य के साथ वे ही उन्नति कर सकेंगे जो योग्य है। इस प्रक्रिया मे अयोग्य नष्ट हो जायेगे। स्पेन्सर इसके लिए चिंता करने की आवश्यकता नही समझता। स्पेन्सर ने व्यक्तिगत स्वतंत्रता को इतना अधिक महत्त्व दिया है कि अत मे उसका सिद्धांत, किसी न किसी रूप मे, व्यक्ति के प्रति क्रूर हो उठता है। 'योग्यतम ही जिये' सिद्धांत पर उसने अपना ध्यान इतना अधिक केन्द्रित कर दिया कि बूढ़ों, बच्चो, बीमारों और निराश्रितों को किसी भी तरह का प्रश्रय देने का वह विरोध करता है।

कालातर में प्रारम्भिक व्यक्तिवाद के दोष कम हुए और आधुनिक व्यक्ति-वाद अपेक्षाकृत संतुलित हुआ।[1] राज्यव्यवस्था मे विद्यमान व्यक्ति-स्वातत्र्य के वाधक उपकरणों का अनुभव करने के उपरांत भी व्यक्तिवादी विचारक यह मानने लगे हैं कि राज्य का अस्तित्व समाप्त नही हो सकता। नार्मन एंजेल आधुनिक युग के प्रमुख राजनीतिक विचारक है। अपनी पुस्तक 'दि ग्रेट इलूजन' मे उन्होंने राज्य की सत्ता से अधिक महत्त्व अन्तर्राष्ट्रीयतावाद को दिया है। मानव पर राज्य की सत्ता का शासन उन्हें प्रिय नही है। राज्य की शासन की संकुचित सीमा मे वे मनुष्य की समस्याओं का समाधान नही देखते। आधुनिक व्यक्तिवाद के दूसरे प्रसिद्ध विचारक ग्राहम वॉलेस है। वे राज्य को बहुत अधिक शक्ति देना उचित नही समझते। राज्य को जितनी शक्ति मिलेगी व्यक्ति का महत्त्व उतना ही कम होगा। अपनी पुस्तक 'दि ग्रेट सोसायटी' में 'अति विकसित राज्य' की शक्ति मे उन्होंने अविश्वास प्रकट किया है।

राजनैतिक व्यक्तिवाद के क्षेत्र मे मिस फॉलेट को हम आधुनिकतम विचारक स्वीकार कर सकते है। उनके प्रसिद्ध ग्रंथ 'दि न्यू स्टेट' में व्यक्तिवाद का नया रूप दिखलायी पड़ता है। वे राज्य से अधिक समुदायों और संगठनों को महत्त्व देती हैं। किन्तु समुदाय मे भी वे 'व्यक्ति' को विशेष महत्त्व देती हैं। इस तरह वे हर स्थान पर शासकीय दवाव एवं कानून की अनिवार्यता को आवश्यक नहीं मानती। उनके सिद्धांत में व्यक्ति और समाज में विरोध नही दिखाई पड़ता बल्कि ये सहयोगी मालूम पड़ते है। सहयोग की स्थिति के उपरांत भी उन्होने व्यक्ति को ही प्राथमिकता दी है।

---

1. John Dewey : Individualism : Old and New, Page No. 71

आर्थिक व्यक्तिवाद

आर्थिक व्यक्तिवाद का अर्थ है व्यापार के क्षेत्र में व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता का अवसर। इस विचारधारा का आधार यह है कि राज्य स्वतन्त्र विनिमय मे व्यवधान न बन सके। एडम स्मिथ और बैथम तथा उनके अनुयायियों के विचारों के माध्यम से इग्लैंड मे उन्नीसवी शताब्दी मे व्यक्तिवादी चितन नई ऊंचाइयों तक पहुंचा।[१] एडम स्मिथ आर्थिक क्षेत्र में किसी तरह की उलझन में न पड़कर 'प्राकृतिक स्वतन्त्रता के सीधे और सरल नियम' का समर्थन करता है। यह विचारधारा मानती है कि राज्य को व्यापार तथा आर्थिक क्षेत्र मे किसी तरह का हस्तक्षेप नही करना चाहिए और न व्यक्ति को पूरी स्वतन्त्रता दे देनी चाहिए। इन विचारको ने अनुभव के आधार पर यह तर्क दिया कि जब-जब राज्य ने कोई व्यापार अपने हाथ मे लिया है तभी राज्य असफल हुआ है। इतिहास यह बतलाता है कि आर्थिक क्षेत्र मे व्यक्ति के कार्य ही सफल हुआ करते है।

आधुनिक विश्व के दो प्रमुख गुटो में प्रजातान्त्रिक गुट यह मानता है कि आर्थिक क्षेत्र मे व्यक्तिगत व्यापार को अधिकाधिक सुविधा प्राप्त होनी चाहिए। प्रजातंत्र का आधार ही व्यक्तिगत स्वतंत्रता है अतः आर्थिक क्षेत्र में भी यह पद्धति काफी दूर तक व्यक्ति को छूट देती है। इस संदर्भ मे समकालीन भारतीय समाज की स्थिति पर विचार करना अप्रासगिक न होगा। भारतीय राजनीतिज्ञों और समाजशास्त्रियों तथा जनता का एक वर्ग यह मानता है कि व्यापार में राष्ट्रीयकरण की प्रवृत्ति असुविधाजनक है। साथ ही, भारतीय अनुभवों के आधार पर, एक असफल नीति है। भारतवर्ष में राष्ट्रीयकरण की नीति से भारतीय समाज की तकलीफे कम नही हुई है और यह देखा गया है कि जिस क्षेत्र में राष्ट्रीयकरण की नीति अपनाई गई है उसी क्षेत्र में सरकार को घाटा हुआ है।

आर्थिक क्षेत्र मे व्यक्तिवाद का समर्थन आज विश्व के बडे हिस्से मे किया जाता है किन्तु आज उसका स्वरूप बदल गया है। आर्थिक क्षेत्र मे निरंकुश स्वाधीनता का समर्थन आज नही किया जाता। ससार-भर में किसी न किसी रूप मे आज राज्य के अंकुश को स्वीकार कर लिया गया है। आर्थिक क्षेत्र की पूर्ण स्वतंत्रता से उत्पादन और उपयोग की जो भयकर समस्याएं उत्पन्न हुई उनका कोई निदान अर्थशास्त्रियों के पास नहीं था। वस्तुतः आर्थिक क्षेत्र मे व्यक्तिवादी सिद्धात अपूर्ण साबित हुआ।[२] आज राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्र के सभी महत्त्व-पूर्ण कार्य सामूहिक स्तर पर सम्पन्न होते है। आज व्यक्तिगत स्तर पर इन कार्यों

1. Encyclopaedia Britannica : Volume 12, page 163
2. Ibid :

को सम्पन्न नहीं किया जा सकता बल्कि संगठनों और संस्थाओं के माध्यम मे ही किया जा सकता है। आर्थिक स्वतंत्रता के दुष्परिणामों के कारण ही साम्यवाद के सिद्धांत का उदय हुआ। आज असाम्यवादी देशों मे भी आर्थिक क्षेत्र में शासन के अंकुश का किसी न किसी रूप मे समर्थन किया जाता है। प्रजातांत्रिक व्यवस्था में भी यह विश्वास किया जाता है कि वाणिज्य के क्षेत्र की पूर्ण स्वतंत्रता आर्थिक शोषण को जन्म देती है।

दार्शनिक व्यक्तिवाद

दार्शनिक स्तर पर व्यक्ति के महत्त्व को भी पश्चिमी विचारकों ने स्वीकार किया। दार्शनिक स्तर पर व्यक्तिवाद का स्वीकार व्यक्ति के अहम् को महत्त्व प्रदान करके हुआ। व्यक्ति के अहम् की घोषणा किस स्तर तक हो सकती है यह, रेक्स स्टिर्नर के १८४४ मे प्रकाशित ग्रंथ 'दि इगो ऐण्ड हिज ओन' के इस उद्धरण से व्यक्त होता है :

"और इसीलिए केवल मै ही मूल तत्त्व हूं, मैं जब इन सबसे अपने-आपको मुक्त कर लेता हूं, जो मै नही हूं तो क्या बच रहता है ? और कुछ नहीं— मात्र मैं ।"

"मैं—बहुत सारे मैं में से एक नही हूं, मैं केवल एक और एकमात्र मै हूं।"

"मेरी स्थापना है कि मैं एकमात्र हू। यह सही है कि मुझमें और दूसरे मे कुछ साम्य है, किन्तु यह केवल तुलना और प्रतिबिंब मे ही प्रकट होता है। वस्तुत मै अतुलनीय और एकमात्र हूं।"[१]

व्यक्तिवादी दर्शन इस उग्र रूप में एक लम्बी चिंतनधारा के बाद आया है। दार्शनिक स्तर पर इसकी अस्पष्ट झलक काफी पहले ग्रीक विचारकों मे ही दिखलाई देने लगी थी। सौफिस्ट, साक्रेटीज, एपीक्यूरियन और स्टोइक के विचारों में व्यक्तिवादी विचारधारा के बीज दिखलाई देते है। साक्रेटीज ने नैतिक जीवन के लिए तर्क का आश्रय लिया, परंपराओं का नही। एपीक्यूरियन ने अपने विचारों मे प्रकट व्यक्ति-सुख को प्रधानता दी। किन्तु इन विचारों को हम प्रारम्भिक विचार ही कह सकते है।

व्यक्तिवादी विचारधारा ने धीरे-धीरे दार्शनिक भूमिका ग्रहण की। वस्तुत: शक्ति के समूहीकरण के विरोध में व्यक्तिवाद उभरकर सामने आया। इस व्यक्तिवाद के लिए एकमात्र यथार्थ 'मै' था और समूचा संसार इसी 'मैं' की शासित सत्ता थी।[२] नैतिकता, न्याय तथा समाज की अन्य धारणाओं को व्यक्तिवादियों ने 'बंधनदात्री बकवास' कहकर नकारा। सभी बातों के केन्द्र मे उन्होंने व्यक्ति को

---

१. मैक्स स्टिर्नर : दि इगो ऐण्ड हिज ओन।

२. प्रकाश दीक्षित : अस्तित्ववाद और नई कविता, पृष्ठ ३७।

रखने की वकालत की। यहां तक कि परंपरा से चली आती हुई नैतिकता की सामाजिक व्याख्या से भी उन्होने इंकार किया। स्टिनर के पूर्व हीगेल ने भी स्वीकार किया था कि "एक सभ्य समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपने-आपका उद्देश्य होता है और अन्य उसके लिए कुछ भी नही होते।"[१]

आधुनिक युग मे व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन अपनी पूरी तीव्रता से यूरोप के अस्तित्ववादी आदोलन मे उभरा। जर्मनी मे शुद्ध काव्य का आंदोलन चलाने वाली नीत्शे के विचारो ने अस्तित्ववादी विचारधारा को जन्म दिया। यद्यपि नीत्शे के विचार अधिनायकवाद का समर्थन करते है किंतु उसने परंपरागत धर्म, आदर्श और नैतिकता मे इकार कर दिया। यहां तक कि उसने ईश्वर की मृत्यु की घोषणा कर दी। उसने यह माना कि इन्द्रियातीत जगत् का सम्पूर्ण निषेध करने के पश्चात् मनुष्य केवल मनुष्य रह जाता है। एक अनन्त अन्धकार मे घिरे हुए मनुष्य के कार्यो के परिणामो का उत्तरदायित्व स्वयं उसपर है।[२]

अस्तित्ववादी दर्शन मे व्यक्तिवादी विचारधारा का गहनता से समावेश कीर्केगार्द ने किया। उसने "ईसाइयत को भी सामूहिक चेतना नही माना। उसने तर्क दिया कि 'ईसाई सभ्यता व्यक्तिगत आत्म-इकाइयों के समूह के अतिरिक्त कुछ नही और वह अपने वैयक्तिक निर्णय के कारण ईसाई की आस्था पर विश्वास करते हुए रहते है।"[३] कीर्केगार्द के दर्शन में तीन बाते अत्यत महत्त्वपूर्ण है—सत्य, निर्वाचन और ईश्वर। सत्य उसके लिए वैयक्तिक है जो बाहर से नही आता। देकार्त की प्रसिद्ध उक्ति 'मै सोचता हूं, इसीलिए मै हू' को कीर्केगार्द के दर्शन ने 'मैं हूं इसलिए मै सोचता हूं' मे परिवर्तित कर दिया।[४] इस प्रकार कीर्केगार्द चितन और विचारो को पूर्णत. व्यक्ति की सम्पत्ति स्वीकार करता है।

जर्मन अस्तित्ववादी चितक मार्टिन हेडेगर मानता है कि मनुष्य 'मृत्यु के साक्षात्कार' के क्षणों मे जीवन को सारगर्भित बनाता है। वह मानता है कि समाज के व्यामोहों और आदर्शो से मनुष्य उसी समय मुक्त होता है। ज्यापाल सार्त्र को आधुनिक अस्तित्ववादियो का पुरोधा माना जा सकता है। सार्त्र भी व्यक्ति को अधिक महत्त्व देता है। एक स्थल पर उसने कहा है कि व्यक्ति के निर्णय का अर्थ समस्त मानवता का निर्णय होता है क्योंकि अपने निर्णयों द्वारा व्यक्ति एक विशिष्ट मानसिक मानव-अस्तित्व के आदर्श को मूर्त रूप मे समाज के समक्ष अपने सकल्पात्मक समर्थन द्वारा प्रस्तुत करता है।[५]

---

१. दि इडिविजुअल ऐण्ड सोसाइटी . बी० बाइखोवस्की द्वारा उद्धृत।
२ प्रकाश दीक्षित · अस्तित्ववाद और नई कविता, पृष्ठ ४१।
३. फ्रैंक थिली ए हिस्ट्री आफ फिलोसफी।
४ अस्तित्ववाद और नई कविता (प्रकाश दीक्षित) से उद्धृत, पृष्ठ 43।
5. E. L. Allen : Existentialism within, Page 81.

दार्शनिक स्तर पर व्यक्ति के अनुभव और प्रत्यक्ष ज्ञान को भारतीय मनीषा ने कम ही स्वीकारा है। प्रत्यक्ष एव स्थूल जगत् को मिथ्या समझने की तथा ऋषि-वाक्य को प्रमाण समझने की प्रवृत्ति ने हमेशा इस देश के बुद्धिजीवी को प्राचीन सिद्धांतों के प्रति आतंकित किया है। आत्मा की महानता को स्वीकारने के उपरांत भी व्यक्ति की स्वाधीनता के प्रति आकर्षण भारत मे एक लम्बे काल तक नही मिलता। व्यक्ति के विचार-स्वातंत्र्य के महत्त्व को खुले स्वर मे समर्थन केवल चार्वाक-दर्शन में मिलता है जिसमे व्यक्ति के प्रत्यक्ष अनुभव को ही सर्वोपरि स्थान दिया गया है। व्यक्ति के सुख को सर्वोच्च स्थान देते हुए ही चार्वाक की प्रसिद्ध उक्ति सामने आई —

यावत् जीवेत् सुखम् जीवेत्, ऋणम् कृत्वा घृतम पीवेत्।
भस्मी भूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

चार्वाक-दर्शन का घनघोर विरोध इस बात का प्रमाण है कि व्यक्ति को ही हमारी विचारधारा कभी केंद्र मे नही रख सकी। चार्वाक की इस उक्ति पर इतना अधिक शोर मचाया गया कि व्यक्तिगत तर्क और अनुभव के पक्ष में वह जो ठोस दलीले प्रस्तुत करता है उसे भुला दिया गया है। चार्वाक-विरोधियों ने इस उक्ति का ढोल पीट-पीट कर चार्वाक-दर्शन को नितात भौतिकवादी दर्शन सिद्ध कर दिया। मुहावरा-पसंद भारतीय जन-सामान्य ने भी चार्वाक की इस उक्ति को ही उसके दर्शन का निचोड मान लिया और उसके प्रत्यक्ष ज्ञान के समर्थन को भुला दिया।

धार्मिक व्यक्तिवाद

धर्म के क्षेत्र मे व्यक्तिवाद का प्रस्फुटन प्राचीन धार्मिक रूढियों से विद्रोह के रूप में हुआ। यह मानव-सभ्यता का इतिहास रहा है कि धर्म जब रूढि अथवा संस्था का पर्याय हो जाता है तब व्यक्ति के लिए वह पग-पग पर बाधाएं उत्पन्न करने लगता है। धर्म वैसे भी व्यक्ति की स्वाधीनता पर अंकुश लगाता है तब अपने विकृत स्वरूप में तो वह निश्चय ही एक साचे से अधिक कुछ नही रह जाता। ऐसी स्थिति मे यह स्वाभाविक है कि उस सांचे को तोडकर व्यक्ति चितन की स्वतंत्रता की मांग करता है। यह एक मनोरंजक बात है कि धर्म रूढ़ियों को प्रश्रय देता है किंतु धर्म के प्रवर्तक स्वय रूढियों के विरोधी हुआ करते है। व्यक्ति की अंतरात्मा को प्रचलित मान्यताओं से अधिक महत्त्व देना व्यक्तिवाद का लक्षण है। इस आधार पर ईसा या मार्टिन लूथर, बुद्ध या महावीर जैसे सभी धर्म-प्रवर्तक परंपरा-विरोधी व्यक्तिवादी थे। धार्मिक क्षेत्र में व्यक्तिवादी भावनाएं पूर्वी एव पश्चिमी दोनों जगत् में समय-समय पर उभरी।

ईसाइयत और व्यक्तिवाद

कई विचारक यह मानते हैं कि ईसाई धर्म व्यक्ति के महत्त्व को स्वीकार करता है। पाल टिलिच जर्मनी के एक प्रसिद्ध थियोलाजियन हैं। उनकी यह मान्यता है कि ईसाई धर्म-कथाओं से यही बोध होता है कि ईश्वर ने मनुष्य को व्यक्ति रूप मे ही निर्मित किया। आदम और ईद की रचना पुरुषत्व एव स्त्रीत्व के प्रतीक रूप मे नही, बल्कि सामान्य स्त्री-पुरुष के रूप में हुई है।[1] वे यह भी मानते है कि व्यक्तिवादिता प्रत्येक वस्तु का एक अनिवार्य गुण है। निजता का बोध और व्यक्तिवादिता वस्तुतः एक ही बात है। प्रत्येक जीव की संरचना मे ही यह विचार स्वतः प्रस्फुटित है। मनुष्य चेतन प्राणी है अतः स्वाभाविक रूप से उसे अपनी निजता का बोध अन्यों से अधिक होता है। अत. यह स्वीकार करना चाहिए कि मनुष्य न केवल आत्म-केन्द्रित है बल्कि व्यक्तिवादी भी है।[2]

ईसाई धर्म में पोप के असीम प्रभाव और उसकी बातों पर आंख मूदकर विश्वास कर लेने के आग्रह पर मार्टिन लूथर ने विद्रोह किया था। पाप के कृत्यों का विरोध कर लूथर ने आत्मा की आवाज को अधिक महत्त्व दिया। धर्म की गलत रूढ़ियों का विरोध करते हुए उसने पोप एव संस्थाओ पर अविश्वास प्रकट किया। अपने विचारों को स्पष्ट करते हुए चर्च और राजा के प्रतिनिधियों की सभा में उसने यह कहा कि वह उनपर विश्वास नही करता क्योकि वे न केवल गलतिया करते रहे हैं बल्कि समय-समय पर विरोधाभास से युक्त सिद्धांतो का प्रतिपादन भी करते रहे है। उसने तर्क और अपनी अंतरात्मा की आवाज़ को ऊंचा सिद्ध करते हुए अपने-आपको अपनी अंतरात्मा के प्रति ईमानदार रहने का इच्छुक बतलाया।[3] मार्टिन लूथर का पोप और चर्च से विद्रोह ईसाइयत मे व्यक्तिवाद की पुकार है।

---

1. In the biblical creation stories God produces individual beings and not universals, Adam and eve rather than the ideas of manhood and womanhood.

   – Paul Tillich
   Systematic Theology—Volume, Page 174

2. Man not only is completely self-centered ; he also is completely individualized. —Paul Tillich.
   Systematic Theology, Volume 1 Page 175

3. I believe in neither Pope nor Councils alone, for it is perfectly well stablished that they have frequently erred, as well as contradicted themselves. Unless then I shall be convinced by the testimony of the Scriptures or by clear reason, I must be bound by those Scriptures which have been brought forward by me; yes, my conscience has been.

आधुनिक युग में इस प्रकार मे जान कॉलविन ने अपना स्वर मिलाया। जान कॉलविन धार्मिक विचारक है और उन्होने जहां एक ओर नियतिवादी दर्शन की स्थापना की वही दूसरी ओर व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का समर्थन भी किया। उनकी विश्व-प्रसिद्ध पुस्तक 'Instruction in the cristian religion' का प्रथम सस्करण १६३६ में छपा जिसके कारण उसे 'Aristottle of the Reformation' की पदवी मिली। अपनी इस पुस्तक मे उन्होंने ईसाइयत और व्यक्तिवाद की संगति बैठाई है। उन्होंने व्यक्ति-स्वातंत्र्य को व्यक्ति का आधार मानकर उसका समर्थन किया।[1]

भारतीय धर्म-चिंतन और व्यक्तिवाद

भारतीय धर्म एवं दर्शन ने व्यक्तिवाद को स्पष्ट रूप से कम कभी नही स्वीकार किया। व्यक्तिवाद के धुधले-से तत्त्व इस चितन मे अवश्य विद्यमान रहे है। आत्मा को सर्वोपरि स्वीकार करना भारतीय धर्म की विशेषता रही है। आत्मा को नित्य मानकर उसीमें सम्पूर्ण शक्ति को केन्द्रित माना गया। 'अहम् ब्रह्मोस्मि' तथा 'शिवोऽहम्' जैसे वाक्यांशो मे आत्मा की असीम शक्ति पर विश्वास रखने का भाव है। इसके साथ ही जब-जब धर्म में पाखण्ड और रूढ़िवादिता बढी, भारतवर्ष मे ऐसे धार्मिक नेता सामने आए जिन्होने प्रगतिशील विचारधारा का प्रतिपादन कर प्राचीन सिद्धातो से अधिक महत्त्व स्वीकार किया।

धार्मिक पाखण्डों ने जब मनुष्य को स्वाभाविक बंधनों से जकडा तब महावीर और गौतम बुद्ध जैसे धार्मिक नेता सामने आए और उन्होंने प्राचीन तथा निर्जीव परंपराओं का विरोध किया। अन्यायपूर्ण सामाजिक ढांचे पर धर्म की मुहर लगाकर हिन्दू समाज ने जब व्यक्ति की जाति को अधिक महत्त्व देकर उसके नैतिक

---

taken captive by these words of God. I cannot revoke any thing, nor do I wish to; since to go against one's conscience is niether safe nor right, here I stand, I cannot do otherwise.

Luther's reply at the diet of worms
on the second day of his appearence.
Page 80
Great voices of reformation—Edited by
Harry Emerson Fosdick

I. The book was prefaced by letter to Francis I, king of France, described as "one of the great opistles of the world", throbbing, "with a noble indignation against injustice, and with a noble enthusiasm for freedom and truth, not imploring" "toleration as a concession", "but claiming Freedom as a right."

The story of the Reformation
William Stevenson, page 70

दायित्वों की ओर से आखे मूदी तब गौतम बुद्ध ने कहा कि जाति से नही, बल्कि कर्म से मनुष्य का मूल्याकन होना चाहिए :

न जात्या बह्मनो होति
न ज्यात्या होति खत्तियो ।
कम्मुना बह्मनो होति,
कम्मुना होति खत्तियो ।[१]

गौतम बुद्ध का जीवन स्वयं मे यह प्रमाण है कि आध्यात्मिक उन्नति के लिए मनुष्य का ईश्वर और प्राचीन सिद्धांतों मे विश्वास करना आवश्यक नही है। स्वामी विवेकानन्द ने बुद्ध के जीवन का उदाहरण देकर यह कहा था कि किसीको यह अधिकार नही है कि नई राह पर चलने वाले व्यक्ति का मूल्यांकन करने का दावा करे ।[२]

भारतवर्ष मे आधुनिक युग मे विवेकानन्द और महर्षि अरविंद जैसे महात्मा हुए जिन्होंने ईश्वर पर गहन आस्था रखते हुए भी मनुष्य को अत्यत ऊचा स्थान दिया । विवेकानन्द तो स्पष्ट शब्दों मे कहते है कि अपने मस्तिष्क को धार्मिक सिद्धातों में मत उलझाओ ।[३] उन्होने परम्पराओं और सिद्धांतो से अधिक मनुष्य को महत्त्व दिया और उसे 'जीवित ठाकुर' कहा । धर्म को उन्होने व्यक्ति के कर्म से जोड़ते हुए कहा कि धर्म का रहस्य मतवाद में नही है ।[४] विश्व के इतिहास को मुट्ठी-भर लोगो का इतिहास स्वीकार करते हुए उन्होने कहा :—

The history of the world is the history of a few men who had faith in themselves.[5]

---

१. धम्मपद (बुद्धवचन)

2, To many the path becomes easier if they belive in God. But the life of Buddha shows that even a man who does not believe in God, has no mataphysics, belongs to no sect, and does not go to any church, or temple, and is a confessed materialist, even he can attain to the highest. We have no right to Judge him.
Lecture by Vivekanand delivered in Detroit
From selections from swami Vivekanand. page 322

3. Be moral, be brave. Be a heart—whole man strictly moral, brave unto desperation. Do not bother your head with religious theories.
The complete works of swami Vivekanand
Volume III, Page 228

4. The secret of religion lies not in theories but in practice. To be good and do good—that is the whole of religion.
Volume I, page 245

5. The complete works of Swami Vivekanand
Volume VIII, Page, 228.

मनोवैज्ञानिक व्यक्तिवाद

चेतन और अचेतन का विश्लेषण कर फ्रायड ने मानव-मस्तिष्क के अनंत रहस्यों का खुलासा किया। उसके इन सिद्धांतो को युगव्यापी प्रसिद्धि प्राप्त हो सकी। फ्रायड ने यह सिद्ध किया कि मनुष्य का अवचेतन ही अधिकाश कर्मो के लिए उत्तरदायी हुआ करता है। व्यक्ति अनजाने में जो भी कार्य किया करता है उसके लिए वह अपने अवचेतन से बाध्य किया जाता है। ऐसी स्थिति में मनुष्य का मस्तिष्क और उसका अह ही सर्वोपरि है। वह जो भी करता है अपने अहं की तुष्टि के लिए करता है। मनुष्य समाज और राज्य जैसी सस्थाओ का एक पुर्जा-मात्र नही है। वह जटिल प्रक्रियायुक्त प्राणी है। डॉ० बलभद्र तिवारी के शब्दों में 'कुल मिलाकर हम कह सकते है कि मनोवैज्ञानिक व्यक्तिवाद व्यक्ति के उन कार्यो का प्रतिनिधित्व करता है जो समाज और राज्य जैसे संस्थाओं में आश्चर्य-उत्पादक होते है।[१]

मनोविज्ञान यह मानता है, मानव के अवचेतन और समाज का संघर्ष हमेशा ही होता रहता है। समाज में रहते-रहते व्यक्ति पर सामाजिक मान्यताओं का प्रभाव पडता है और उसे बंधकर व्यवहार करने की आदत पड़ जाती है पर उसका अवचेतन हमेशा उसकी दमित इच्छाओं की पूर्ति के लिए उसे प्रेरित करता है। यहीं इस बात की आवश्यकता हो जाती है कि व्यक्ति को पर्याप्त स्वतंत्रता मिले और रूढियां उसके स्वाभाविक विकास में बाधक न बनें। यदि मनुष्य का स्वाभाविक विकास उचित परिस्थितियों में नही हुआ है तो वह समाज के लिए खतरनाक सिद्ध होगा। अपराधी वर्ग के व्यक्ति अधिकतर ऐसे ही व्यक्ति होते हैं। वस्तुतः मनोवैज्ञानिक मानते है कि मनुष्य का व्यक्तित्व एक उलझी हुई वस्तु है,[२] और मनुष्य को उसपर अभिमान होता है।

फ्रायड मनुष्य की मनोवृत्ति और अहं भाव को जीवन के परिचालन में सर्वाधिक शक्तिशाली प्रवृत्तियों के रूप में स्वीकार करता है। उसके अनुसार हर व्यक्ति का जीवन अनिवार्य रूप से इन वृत्तियों की तुष्टि की तलाश मे बीतता है। अपनी बात को वह तो यहां तक बढ़ाता है कि साहित्य और कला को वह

1. डॉ० बलभद्र तिवारी : आधुनिक साहित्य की व्यक्तिवादी भूमिका, पृ० 23
2. Personality means an integlative combination of all ours cognitive (Knowledge), affective (feeling), conative (Volitional) and even physical qualities focussed in Social medium and bearing an intrinsic meaning as the result of the individuals make up and experience.
—A. A Robac : Personality, Page 87, 88

मात्र आत्मिक अभिव्यक्ति मानता है तथा महापुरुषों के कर्मों को वह हीनता की भावना से बचने के लिए किए गए अहतुष्टि के कार्य स्वीकार करता है। फ्रायड के सिद्धांतों से सहमति या असहमति एक अलग विषय है किंतु इसमें संदेह नही कि मनुष्य को मनुष्य रूप में ही देखने की चेष्टा जिन मनीषियों ने की है उनमे फ्रायड भी एक था। मनुष्य की समस्याओं के प्रति परंपरागत ढंग से सोचने की प्रवृत्ति को उसने झकझोरा और सभी क्षेत्रों में उसकी स्थिति और उसकी सही उपयोगिता पर समाज का ध्यान केन्द्रित किया। फ्रांस की राज्य-क्राति यदि व्यक्तिवादी चिंतन का प्रारम्भ था तो मनोवैज्ञानिक स्तर पर मानव का पुन-र्मूल्याकन उस चिंतन का पुष्टिकरण था। मनुष्य की समस्त नैतिक समस्याओं का व्यक्तिगत स्तर पर मूल्यांकन का मार्ग मनोवैज्ञानिक चिंतन ने ही प्रारम्भ किया। परिस्थितियों का उस पर प्रभाव और अवचेतन की प्रेरणा से कार्य करने की मनुष्य की बाध्यता की स्वीकारोक्ति ने नैतिक मूल्यों में क्राति ला दी। आज यदि नैतिक क्षेत्र में, जिसका अधिकाधिक सबंध स्त्री-पुरुष के दैहिक संबंधों से है, व्यक्ति की स्वतन्त्र इच्छा का महत्व है तो उसका प्रारम्भ फ्रायड के सिद्धांतों से ही संभव हो सका है।

कला और साहित्य-क्षेत्र में व्यक्तिवाद

कला और साहित्य-क्षेत्र में व्यक्तिवाद का आगमन 'कला कला के लिए' सिद्धांत के रूप में हुआ। इसके अनुसार कला और साहित्य की कोई भी सामाजिक प्रतिबद्धता नही है। कला अपने-आप में ही पूर्ण उद्देश्य है। सौदर्य तथा आनंद को ही कला का प्रयोजन स्वीकार करने वाली विचारधारा मूलतः व्यक्तिवादी ही है। 'इस कलावादी चिंतन के उद्भव का स्रोत प्रथम तो कला और जीवन के घनिष्ठ संबंध को प्रतिपादित करने वाली यथार्थवादी कला-दृष्टि के प्रति उत्पन्न होने वाली विरोधी प्रतिक्रिया में, और द्वितीय, उन मध्ययुगीन मान्यताओं मे देखा जा सकता है, जिसके अनुसार कला का प्रयोजन आनंद एवं सौंदर्य जैसे तत्वों को स्वीकार किया गया है।'[1] कांट जैसे दार्शनिकों ने यह स्वीकार किया कि सौदर्य की स्थिति बाहर नही बल्कि आत्मा में है अर्थात् किसी भी वस्तु के आस्वाद का आधार नितांत व्यक्तिगत चेतना है। इस सिद्धांत से कलावादी चिंतन को बल मिला। जब इस चिंतन ने विकास पाया तो धीरे-धीरे साहित्य और कला को निरपेक्ष एवं पूर्ण स्वतंत्र मानने की प्रवृत्ति बढ़ी। साहित्य एवं कला के सामाजिक एवं नैतिक दायित्वों को इस विचारधारा ने अस्वीकार कर दिया।

'सुन्दर' की खोज को ही कला का उद्देश्य मानते हुए प्रसिद्ध चित्रकार एव

---

१ डॉ० शिवकुमार मिश्र : मार्क्सवादी साहित्य चिंतन, पृ० १२५-१२६

विचारक जेम्स ह्विस्लर ने कला के किसी तरह की नैतिकता के साथ कल्पित संबंध को अस्वीकार किया। अमूर्त कला का आंदोलन भी इसी विचार पर आधारित रहा है कि कलाकार की आतरिक भावनाओं की अभिव्यक्ति ही कला का सबसे बड़ा आधार है। अमूर्त कला के जनक पिकासो भी कला की स्वायत्त दुनिया के समर्थक थे।

प्रसिद्ध अमेरिकी कवि एवं विचारक एडगर एलेन पो ने साहित्य के 'आनंद' तत्त्व को ही सर्वोपरि माना। साहित्य को उसने सौंदर्यमूलक स्वीकार किया। काव्य का संबंध नैतिकता या सत्य जैसी बातों से जोड़ने का विरोध उसने किया और 'कविता के लिए कविता' का नारा बुलंद किया। आत्मा को तृप्ति प्रदान करने के अतिरिक्त किसी भी अन्य दिशा की ओर जाने वाली कविता को उसने भ्रष्ट माना। वाल्टर पेटर ने कलावादी सिद्धांत को—कला के बाह्य स्वरूप को महत्त्व देकर स्वीकार किया। उसने सबसे अधिक महत्त्व शैली को ही दिया। उसने काव्य की विषय वस्तु को नगण्य माना। उसके अनुसार सुन्दर शैली सामान्य से सामान्य विषय को भी महत्त्वपूर्ण बनाने की क्षमता रखती है। कला को आत्म भावना की अभिव्यक्ति का साधन मानते हुए पेटर ने घोषित किया कि कला किसी नैतिक सिद्धांत का अनुसरण नहीं करती बल्कि नैतिकता स्वयं कला का अनुसरण करती है। वाल्टर पेटर का सिद्धांत शैली को उसी तरह महत्त्व देता है जिस तरह भारत के कुछ प्राचीन आचार्य काव्य के बाह्य पक्ष—अलंकार या वक्रोक्ति को महत्त्व देते थे।

प्रसिद्ध अंग्रेज उपन्यासकार एवं चिंतक आस्कर वाइल्ड भी साहित्य के कलावादी सिद्धांत का उपासक था। उसके विचार के अनुसार कला जीवन का नहीं बल्कि जीवन कला का अनुसरण करता है। कला को उपदेश अथवा सुधार का माध्यम मानने का वह विरोध करता है। कृति यदि सुन्दरतापूर्वक लिखी गई है तो वह संतोष प्रदान करती है अन्यथा नहीं अतः कृति के सौंदर्य-पक्ष को आंखों से ओझल नहीं किया जा सकता।

कलावादी चिंतन को अभिव्यंजनावाद के प्रवर्तक क्रोचे ने अत्यंत सुदृढ़ आधार दिया। वह कला में व्यक्ति के चिंतन और दृष्टिकोण को ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान देता है। अभिव्यंजना और कला को अभिन्न मानते हुए उसने कहा—

वह यह मानता है कि कला और काव्य में मनुष्य की अंतःप्रेरणा ही सब कुछ है। कवि अथवा कलाकार अंतःप्रेरणा द्वारा ही सृजन की ओर प्रवृत होता है और अपनी कल्पना द्वारा उसे अभिव्यक्ति देता है। अभिव्यंजना को अत्यंत सूक्ष्म और व्यापक रूप प्रदान करके उसने कहा कि वह केवल शब्दों का नहीं बल्कि रंगों, रेखाओं और ध्वनियों का भी सहारा ले सकती है।

कलावादी सिद्धात ने यह माना कि सामान्य जन की तुष्टि करना कला का उद्देश्य नही है बल्कि कलाकार और साहित्यकार द्वारा अपने विचारो और भावों की अभिव्यक्ति ही उसका उद्देश्य है। अर्थात् कला अपने आपमे पूर्ण है। इसी आधार पर अमेरिका मे 'आवागर्द आंदोलन' का सूत्रपात हुआ था जिसके माध्यम से 'कला की निजी स्वायत्त दुनिया' के निर्माण की बात कही गई थी। व्यक्तिगत विचारों की अभिव्यक्ति भी इसका उद्देश्य माना गया। अंग्रेजी साहित्य में रोमेन्टिसिज़्म और हिन्दी में छायावाद का जन्म इसी विचारधारा का परिणाम था।

यूरोपीय साहित्य पर व्यक्तिवाद का प्रभाव

व्यक्तिवादी जीवन दर्शन का उद्भव एवं विकास यूरोप मे हुआ अत: यह अत्यंत स्वाभाविक है कि यूरोपीय साहित्य पर व्यक्तिवाद का गहरा प्रभाव पड़ा है। यहां हम अत्यंत सक्षेप में उस प्रभाव की चर्चा कर रहे हैं। व्यक्तिवादी जीवन दर्शन का स्पष्ट प्रभाव हमें १९वी शताब्दी मे इग्लैड के स्वच्छंदतावादी काव्य और काव्य-चितन में दिखलाई पड़ता है। यो स्वच्छंदतावादी काव्य-चितन जर्मनी में प्रारम्भ हुआ था किन्तु १९ वी शताब्दी के इंग्लैंड के स्वच्छंदतावादी चितन से वह तत्वतः भिन्न था। इंग्लैड के चितन पर स्पष्टतः फ्रांस की राज्यक्रांति का प्रभाव था जिसने नये जीवन-मूल्यों को जन्म दिया था। सामंती व्यवस्था के विरोध में व्यक्ति की स्वतत्रता का स्वर इस क्रांति के बाद सम्पूर्ण पाश्चात्य जगत में उभरा। इंग्लैड के स्वच्छदतावादी आंदोलन के मूल मे नवीन जीवन-मूल्यों के प्रति आस्था थी।

स्वच्छंदतावादी काव्य आंदोलन को पहला सबल स्वर विलियम ब्लैक का प्राप्त हुआ। ब्लैक ने साहित्य के समस्त पुराने बंधनो को अस्वीकार करके अतरात्मा का अनुशासन स्वीकार किया। यद्यपि ब्लैक ने काव्य-सृजन को दैवी-प्रेरणा मानकर अपने सिद्धांत को रहस्य-बोध से युक्त किया किन्तु इसमें संदेह नही कि व्यक्ति की स्वतंत्रता का उसने समर्थन किया। स्वच्छंदतावादी काव्य-चिंतन के प्रतिनिधि के रूप में हम विलियम वर्ड्सवर्थ और कॉलरिज का नाम ले सकते है। वर्ड्सवर्थ ने कवि की अनुभूति को ही साहित्य सृजन की मूल चेतना स्वीकार किया। वर्ड्सवर्थ के लिए व्यक्त सत्य प्रकृति और मानव ही थे। प्रकृति से अपनी आत्मा का तादात्म्य स्थापित करते हुए उसने घोषणा की—Poetry is the spontaneous over-flow of powerful feelings. वर्ड्सवर्थ की तरह कॉलरिज ने भी सहजता, सरलता और अकृत्रिमता को काव्य की आत्मा स्वीकार किया। कवि

की कल्पना को कॉलरिज ने इतना महत्व दिया कि कल्पना को उसने 'ईश्वर' का पर्याय स्वीकार किया। इस आंदोलन को और अधिक स्पष्टता प्रदान की कवि-चितक शेली ने। शेली ने अपनी सृजन प्रक्रिया में अपनी कल्पना का ही महत्व सर्वाधिक स्वीकार किया। कल्पना से युक्त आयासहीन कविता को ही वह कविता स्वीकार करता है। कवि और कविता को गरिमामंडित करते हुए शेली कवि को 'संसार का नियामक' तक स्वीकार करता है।

उपन्यास और व्यक्तिवाद

बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ में यूरोपीय उपन्यास साहित्य मे एक परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। यह परिवर्तन है परम्परागत रूढ़ियो के विरुद्ध क्रांतिकारी भावना। भौतिक विज्ञान, प्रकृति विज्ञान और मनोविज्ञान में जो विकास हुआ उसका प्रभाव उपन्यास साहित्य पर दिखलाई पड़ता है। बीसवी शताब्दी के अंग्रेजी उपन्यासों पर बर्ट्रैण्ड रसेल जैसे दार्शनिक, फ्रायड जैसे मनोविश्लेषक और क्रोचे जैसे कला चिंतक का प्रभाव पड़ा। उपन्यास साहित्य में व्यक्ति के विश्लेषण की प्रवृत्ति बढ़ी। व्यक्ति की आंतरिक गुत्थियो को इस काल के उपन्यासो में चित्रित किया गया है।

इस क्षेत्र के प्रसिद्धतम एवं विवादग्रस्त लेखक डी० एच० लारेन्स है। उनके उपन्यास 'बेटे और प्रेमी', 'प्रेमिका स्त्रियां', 'कगारू', 'लेडी चैटर्ली का प्रेमी' आदि मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में कुछ नई मान्यताओ की स्थापना करते है। इडिपस ग्रथि, समलैंगिक आकर्षण, यौन विक्षिप्ति आदि उसके उपन्यासों के विषय रहे है। यौन पिपासा का उद्दाम चित्रण उसके बहुचर्चित उपन्यास 'लेडी चटर्ली का प्रेमी' में दिखलाई पड़ता है। वस्तुत: यौन नैतिकता के सम्बन्ध में लारेन्स किसी भी प्राचीन मान्यता और आदर्श को स्वीकार नही करता। 'बेटे और प्रेमी' उपन्यास में नायक पाल की अपनी माता के पृति रुग्ण आसक्ति के चित्रण के कारण लारेन्स पर अनैतिकता का आरोप भी लगाया गया था। इस सदर्भ में बेकर ने कहा है कि वस्तुत: उसमें अनैतिकता उतनी नही थी जितनी कल्पित की जाती है।[1] लारेन्स पर इस आरोप का कारण यह था कि लारेन्स की बाते इतनी नई और साहसपूर्ण थी कि एकबारगी सभ्य समाज चौक उठा था।

इसी क्रम में डोरोथी रिचर्डसन, मई सिक्लेयर और रेबेका वेस्ट को भी व्यक्तिवादी उपन्यासकार की कोटि में रखा जा सकता है। इन उपन्यासकारों ने भी व्यक्ति के मानस के विश्लेषण को ही अपने उपन्यासों का आधार बनाया।

---

1. He was by no means the voluptuary that he is sometimes depicted"
—Baker : The History of the English Novel. Volume X, page 359

मई सिक्लेयर के उपन्यास 'तीन बहनें' का पूरा कथानक ही दमित वासना के विस्फोट को सामने रखता है। मई सिंक्लेयर के दूसरे उपन्यास 'मेरी ओलिवर' में इडिपस और इलेक्ट्रा ग्रन्थियों से ग्रस्त पात्रो की कहानी है। इसमें एक माता अपने पुत्रो को चाहती है और पुत्रियों से ईर्ष्या करती है। इसके विपरीत पिता अपने पुत्रों से ईर्ष्या करता है। इस ईर्ष्या के कारण ही पति-पत्नी का जीवन अशांतिमय हो जाता है। रेबेका वेस्ट के उपन्यास 'जज' में इडिपस ग्रंथि का ही प्राधान्य है।

वर्जीनिया वुल्फ के उपन्यासों में भी व्यक्तिवाद के दर्शन होते हैं। किन्तु उसका व्यक्तिवाद अपेक्षाकृत स्वस्थ है। उसमें सामाजिक आधार भी है। उसका प्रसिद्ध उपन्यास 'जैकब का कमरा' इस सदर्भ मे द्रष्टव्य है जिसमे एक अत्यंत संवेदनशील व्यक्ति की एक दिन की अनुभूतियां चित्रित की गई है। 'तरंगें' उपन्यास में भी छः ऐसे बालकों का जीवन प्रस्तुत किया गया है जो संघर्षमय संसार की विभिन्न परिस्थितियों से अपने व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं।

फ्रेंच उपन्यास

व्यक्तिवाद फ्रेंच साहित्य की बड़ी भारी विशेषता है। व्यक्ति-स्वातत्र्य के प्रश्न को फ्रास का साहित्य कई स्तरों पर उठाता है। यहां पर हम संक्षेप मे इस शताब्दी के कुछ उपन्यासकारो की चर्चा कर रहे है जिन्होने अपने उपन्यास साहित्य के माध्यम से व्यक्तिवादी भावनाओं को सामने रखा। इन उपन्यास-कारों ने ऐसे उपन्यास भी लिखे हैं जिनमें व्यक्ति के जीवन-मात्र का चित्रण नही है बल्कि मानवीय प्रवृत्तियों का विश्लेषण भी है।

आंद्रे जीद के सभी उपन्यास नैतिकता के प्रश्न को बडी तीव्रता से उठाते हैं। उसके उपन्यास 'चरित्रहीन', 'धोखे की टकसाली', जेनीविएव' आदि मे घूम-फिर कर नैतिकता के उलझे हुए प्रश्न ही सामने आते हैं। उसके अधिकांश उपन्यासों में समलैंगिक प्रेम की चर्चा होती है। इस कारण उसपर अनैतिकता का आरोप लगाया गया। अपराध-वासना तथा अनैतिक प्रवृत्तियों का सूक्ष्म विवरण प्रस्तुत करने में आंद्रे जीद को कुशलता प्राप्त है।

फ्रांसो मारिया के उपन्यास भी आंद्रे जीद की तरह वासना और पाप का कुशलतापूर्वक विवेचन करते है। मारिया का मानव व्यक्तित्व का विवेचन अपने ढंग का है। उसके 'जो खो गया' और 'अंधेरे के देवता' उपन्यासों मे कथानक से अधिक व्यक्तियों का अध्ययन दिखलाई पड़ता है।

आंद्रे मलरो के उपन्यास भी व्यक्तिवादी है। किन्तु व्यक्तिवाद को अपनाने के उपरांत भी उसके उपन्यास दूसरों से कुछ भिन्न है। उसके उपन्यास मानव

मन के विश्लेषण के आधार पर कुछ लिखे न होकर अनुभवो के आधार पर लिखे गए है। 'विजेता', 'राजपथ' जैसे उपन्यास चीनी विप्लव के समय लेखक के व्यक्तिगत अनुभवो पर आधारित है। मलरो की विशेषता यह है कि सामाजिक उथल-पुथल के वातावरण मे व्यक्ति के मन पर पडने वाले प्रभावों का सशक्त चित्रण वह करता है । मनुष्य के मन की आकांक्षाओ और वेदनाओं को व्यक्त करने मे उसके उपन्यास सक्षम है। ये सभी व्यक्तिवादी उपन्यास कलात्मक दृष्टि से सफल उपन्यास कहे जा सकते है। यह कहना भी अतिशयोक्ति न होगा कि सूक्ष्मता तथा कथा की सुन्दर गढ़न फ्रेंच साहित्य मे व्यक्तिवादी उपन्यासों मे सबसे अधिक दिखलाई पड़ती है।

नियतिवाद और उसकी परिव्याप्ति

नियतिवाद विश्व की प्राचीनतम विचारधाराओं मे से एक है। इस दर्शन मे नियति की शक्ति को ही सर्वोपरि माना जाता है। व्यक्तिवाद का उद्भव एवं विकास पश्चिम मे हुआ किन्तु नियतिवाद का प्रसार पूर्वी संसार में हुआ। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि इस पर भारतवर्ष में ही सबसे पहले चितन हुआ। भारत के प्राचीनतम ग्रथों मे नियतिवाद पर विचार प्राप्त होते है और इसमे संदेह नही है कि यह विचार कई पहलुओं से तथा दार्शनिक स्तर पर हुआ। उपनिषद् काल मे भी नियतिवादी विचारधारा के दर्शन हमें होते है। वाल्मीकि रामायण को विश्व का पहला महाकाव्य माना जाता है। इस महाकाव्य में नियतिवादी विचारधारा काफी गहराई से चित्रित की गई है। इससे यह सिद्ध होता है है कि भारत मे अत्यत प्राचीन काल से ही इसपर व्यापक विचार किया गया।

भारत मे 'नियति' शब्द भाग्य, दैव, प्रारब्ध, अदृष्ट, विधि, दिष्ट के समानार्थी के रूप मे स्वीकृत है। सामान्यत· ये सभी शब्द एक ही अर्थ का वहन करते है किन्तु प्रत्येक शब्द एक दूसरे से अत्यत सूक्ष्म अंतर को छिपाए हुए हैं। नियति की शाब्दिक व्याख्या 'नियम्मते आत्मा-अनयेति'[१] के अनुसार भाग्य अथवा दैव के रूप में की जाती है—जिसके निदेश (नियोग) को कोई ठुकरा नहीं सकता। माघ अपने काव्य में इसी अर्थ मे इस शब्द का प्रयोग करते है : —

आसादित्यस्य तमसा नियतेर्नियोगा—
दाकाक्षतः पुनरप क्रमणेन कालम्।[२]

१. अमरकोश—१।४।२८।
२. माघ ४।३४।

. योगवाशिष्ठ मे नियति को ब्रह्मा की एक चित्शक्ति माना गया है जो प्राणि मात्र मे सवेदनशील है। समस्त कल्पों में इस सर्वव्याप्त सत्ता का अनुशासन सभी स्वीकार करते है—

अस्तीह नियतिर्ब्राह्मी चिच्छक्ति स्पन्द रूपिणी।
अवश्यभवितव्येकसत्ता सकल—कल्पना ।।[1]

आगे चलकर मेदिनी कोश मे नियम के अर्थ मे भी इसकी चर्चा की गई किन्तु यह शब्द भाग्य तथा अदृश्य शक्ति के अर्थ मे ही अधिक प्रचलित रहा। नियति शब्द के लिए प्रयोग मे लाए जाने वाले शब्दों की चर्चा हम यहा कर रहे हैं।

दैव

व्याकरण के अनुसार दैव शब्द की व्याख्या इस क्रम में की गई—'देवात् नियतादागतम्' (नियत देव के द्वारा प्राप्त)। अमरकोशकार ने इसका अर्थ 'भाग्य' निरूपित किया है।[2] विभिन्न पुराणों में भी इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है। ब्रह्मवैवर्त पुराण में कहा गया है कि समस्त जगत् एवं प्राणियों के शुभ अथवा अशुभ जन्म एवं कर्म दैवाधीन है। संयोग और वियोग मे हेतु भूत दैव से बढकर और कुछ प्रबल नही है।[3] पौरुष एव काल की स्वीकारोक्ति के उपरांत भी दैव की शक्ति को इनसे ऊपर स्थान दिया गया है—

दैवं पुरुषकारश्च कालश्च पुरुषोत्तम।
त्रयमेतन्मनुष्यस्य पिण्डित स्यात् फलावहम् ।।[4]

प्रारब्ध

व्याकरण के अनुसार इसकी शाब्दिक व्याख्या इस रूप मे होती है—'प्रकृष्टगारब्धं स्वकार्यनमनायेति'—अर्थात् एक ऐसा अदृष्ट विशेष जो शरीर के द्वारा किसी कार्य का आरम्भ कराने वाला हो। 'प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षय.',

१. योगवाशिष्ट . प्रकरण ३। सर्ग ६२।
२. अमरकोश · १।१।२८।
३. 'दैवाधीन जगत् सर्व जन्म कर्म शुभाशुभम्।
सयोगाच्च वियोगाच्च न च दैवात् परं बलम् ।।
—ब्रह्मवैवर्त पुराण गणेश खण्ड।
४. मत्स्यपुराण-२२१।८।

जैसा स्मृति-वाक्य भी इस विचारधारा को सामने रखता है कि भोग से ही प्रारब्ध कर्मों का क्षय होता है। इसे भाग्य के ही समानार्थी स्वीकार किया गया है यद्यपि इससे कर्मफल इत्यादि बातें व्यजित नहीं होतीं जो सामान्यत: भाग्य के साथ जुड़ी रहती हैं। किन्तु कार्य के प्रारम्भ करानेवाले प्रारब्ध विशेष को ईश्वरेच्छा स्वीकार किया जा सकता है जो भाग्यवादी विचारधारा का अनिवार्य अंग है।

अदृष्ट

अदृष्ट शब्द का अर्थ जन्मांतरीय संस्कार तथा भाग्य के रूप मे प्राप्त होता है। नैषध काव्य मे श्रीहर्ष ने अदृष्ट के सामर्थ्य के विषय में लिखा है :—

अदृष्टमप्यर्थम् दृष्टवैभवात् करोति सुप्तिजैनदर्शनातिथिम् ।।[1]

भाषा परिच्छेद में अदृष्ट को एक ऐसा इंद्रियातीत अनुभव स्वीकार किया गया है जो वासनाओं से उत्पन्न होता है। यह कहा गया कि वासना से उत्पन्न इस सूक्ष्म अनुभव की समाप्ति भोग अथवा तत्वज्ञान से होती है। संकेत यह है कि साधारण जनों के सामने इसे भोगने के अतिरिक्त कोई उपाय नही है जबकि ज्ञानी जन अपने तत्वज्ञान से इस पर विजय प्राप्त कर सकते है।

विधि

विधि का शब्दार्थ स्पष्टीकरण—'विधियेते सुख दु:खे अनेनेति' के रूप मे प्राप्त होता है अर्थात् वह शक्ति जिसके द्वारा सुख एवं दु:ख का विधान किया जाय। भाग्य के अर्थ में इसका प्रयोग भारत के प्राचीन ग्रंथो में होता रहा है।[2] अमरकोश में इसके समानार्थी शब्द क्रम और विधान बताये गये हैं। यह स्पष्ट है कि शब्द का अर्थ-विस्तार होता रहा है। मेदिनीकोश में इसे काल के अर्थ मे भी प्रयुक्त किया गया है।

दिष्ट

दिष्ट शब्द का प्रयोग भाग्य की अजेय शक्ति के अर्थ में किया गया है।

---

१. श्रीहर्ष : नैषध काव्य : प्रथम सर्ग।

२. राज्यनाशं सुहृत्यागो भार्यातनयविक्रय: ।
हरिश्चद्रस्य राजर्षे: किं विधे। न कृत त्वया?
मार्कण्डेय पुराण ८।१८२।

महाभारतकार यह मानता है कि बुद्धि अथवा बल के द्वारा दिष्ट का अतिक्रमण नहीं किया जा सकता :—

ततस्ते निधनं प्राप्ताः सर्वे ससुतबान्धवाः ।
न दिष्टमत्थतिक्रान्तुं शक्यं बुद्धया बलेन वा ।[१]

ऋत

ऋत शब्द का प्रयोग सत्य तथा कर्मफल के अर्थो में किया जाता है। सत्य के अर्थ में इस शब्द का समर्थन मेदिनीकोश मे किया गया है।[२] इसी अर्थ में मनुस्मृति में ही यह शब्द प्राप्त होता है। स्मृतिकार के अनुसार 'साक्ष्य के अवसर पर अनृत् (असत्य) बोलनेवाला मनुष्य वरुण के पाशों से कई बार आबद्ध किया जाता है। अतः सैकडों बार विवश बनाये जाने पर भी ऋत-साक्ष्य ही देना चाहिये।'

साक्ष्येऽनृतं वदन् पाशैर्बध्यते वारुणैर्भृशम् ।
विवशः शतमाजातीस्तस्मात् साक्ष्यं वदेद् ऋतम् ॥[३]

ऋत शब्द का कर्मफल के अर्थ में प्रयोग कठोपनिषद् के इस मंत्र में द्रष्टव्य है—'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके।'[४] इसका प्रयोग कहीं-कही श्रुतियों में ब्रह्म के अर्थ मे भी किया गया है जैसे 'ऋतमेकाक्षर ब्रह्म'। ब्रह्म के निकटवर्ती नियामक शक्ति के रूप में स्पष्ट उदाहरण श्रीमद्भागवत में प्राप्त होता है जिसके अधीन देवता गण भी हैं। प्रियव्रत को ऋत के विषय मे समझाते हुए ब्रह्मा उसे ऐसी शक्ति निरूपित करते हैं जिसके आदेश को मानने के लिये सभी—यहां तक कि ब्रह्मा भी विवश है :—

निबोध तातेदमृतं ब्रवीमि माऽसूयितुं देवमर्हस्यप्रमेयम् ।
वयं भवस्ते तत् एष महर्षिर्वहाम सर्वे विवशा यस्य दिष्टम् ॥[५]

नियति अथवा भाग्य के समानार्थी शब्दों की व्याख्या ही यह सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि नियति को हम भारतीय धर्म और दार्शनिक चिंतन के केन्द्र में स्थित पाते हैं। भारतवर्ष के प्राचीन धार्मिक, दार्शनिक और साहित्यिक ग्रंथों में भाग्य की शक्ति को कदम-कदम पर स्वीकारा गया है। इस चिंतनधारा का

---

१. श्रीमद्भागवत। स्कध ५। अध्याय १। श्लोक १५।
२. शब्दकल्पद्रुम। १।२८५।
३. मनुस्मृति ८।८२।
४. कठोपनिषद् १।३।१।
५. श्रीमद्भागवत ५।१।११।

विश्लेषण करने से मोटे तौर पर निम्नलिखित विचार-वीथिया प्राप्त होती है।

कर्मों के फल-भोग की अनिवार्यता

भारतवर्ष की यह अत्यंत प्रचलित विचारधारा है कि मनुष्य को जन्मांतरीय कर्मों के फल भोगने ही पड़ते हैं। मनुष्य के वर्तमान जन्म की समस्त क्रियाएं उसके पूर्व जन्मों के अनुसार होती हैं। मनुष्य जैसे कर्म करेगा उसके अनुसार उसके अगले जन्मों का सचालन होगा अर्थात् मनुष्य जीवन के सुख-दु ख उसे पिछले जन्मों के कर्मो के फलस्वरूप प्राप्त होते है। मनुष्य के कर्म-फलों का नियतकर्ता ईश्वर है। श्रीमद्भागवत में ब्रह्मा प्रियव्रत से कहते हैं, 'वत्स! गुण एवं कर्म की सगति के अनुसार प्राप्त, ईश्वरोत्पादित सुख एव दुःख को हम लोग व्यवस्थित करते रहते है। ईश्वर के द्वारा पूर्वयोजित कर्म-फलों पर हम लोग उसी तरह आस्थित रहते हैं जैसे किसी नेत्रवान व्यक्ति के द्वारा ले जाये जाते हुए अंध जन।'[1] कहने का तात्पर्य यह है कि कर्मो का फल अनिवार्य रूप से भोगना ही होगा। उससे मुक्ति का कोई उपाय नहीं है।

विश्व एवं जीव-स्वातंत्र्य पर नियंत्रण

इस विचारधारा के अनुसार जीव की स्वतंत्रता का कोई अर्थ नही है। सृष्टि मे आया हुआ जीव न तो किसी कार्य के लिये स्वतत्र है और न ही उसके उद्योग एवं पुरुषार्थ उसकी सहायता कर सकते हैं। वस्तुतः उसके उद्योग एव पुरुषार्थ भी उसके वश में नही है। इस सृष्टि पर एक ऐसी अदृष्ट शक्ति का अंकुश है जो प्रत्येक घटना का नियंत्रण करती है। उस शक्ति से कोई टकरा नहीं सकता। वह शक्ति न तो जीव के पूर्वकृत कर्मो का ध्यान रखती है और न ही उसकी इच्छा-अनिच्छा का। उसे औचित्य-अनौचित्य का ध्यान भी नहीं रहता। इसके द्वारा सताये जाने पर बडे-बड़े ज्ञानी और कठोर तपस्या करने वाले इन्द्रियजित् भी लक्ष्य भ्रष्ट हो जाते हैं :—

> ऋषयोऽप्युग्रतपसो दैवेनाभिप्रपीडिताः।
> उत्सृज्य नियमांस्तीव्रान्प्रश्वन्ते काममन्युभिः ॥[2]

---

१. ईशाभिसृष्टं ह्यवरूध्मह्ऽङ्ग दुखं सुखं वा गुण-कर्म-संगात्।
आस्थाय तत्तद् यदयुंगस्क नाथश्चक्षुष्मता न्या इव नीयमाना: ॥
श्रीमद्भागवत। स्कन्ध ५। अध्याय २। श्लोक। १५

२. वाल्मीकि रामायण : अयोध्याकांड।२२।२३।

भाग्यलिपि ही अटल

इस विचारधारा के अनुसार जीव जन्म से ही अपनी भाग्यलिपि लेकर पैदा होता है। यह भाग्यलिपि ही उसके जीवन को संचालित करती रहती है। शुभाशुभ कर्म अथवा पुरुषार्थ आदि कुछ भी काम नही आते। नियंता मनुष्य के भाग्य में जो कुछ लिख देता है वही उसके जीवन मे घटित होता है चाहे वह कैसे ही कर्म क्यों न करे। यह विचारधारा मानव की स्वतंत्रता को बिल्कुल ही स्वीकार नही करती। यह मानती है कि मनुष्य के जीवन मे सुख-दु:ख पहले से ही नियत है और उसे बदला नहीं जा सकता। इस संदर्भ में भर्तृहरि का कथन द्रष्टव्य है :—

> धारा नैव पतन्ति चातक-मुखे मेघस्य किं दूषण,
> यत्पूर्व विधिना ललाट-लिखितं तन्मार्जितुं क: क्षम: ?[1]

सृष्टिचक्र आकस्मिक

यह विचारधारा मानती है कि सृष्टि किन्हीं घटनाक्रमो अथवा नियमो से सचालित नहीं है। मनुष्य के कर्म आदि भी विशेष महत्त्व नहीं रखते। अपनी इच्छा के अनुकूल ईश्वर अपने इस खेल मे परिवर्तन करता रहता है और मनुष्य के सामने इसे शिरोधार्य करने के अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय नही है :—

> अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मन: सुख-दुखयो:।
> ईश्वर-प्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं नरकमेव च ॥[2]

भारतीय जनमानस और नियतिवाद

भारतीय धर्म तथा दर्शन में नियति के हर संभव रूप पर विचार किया गया है। आज नियतिवाद की वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक व्याख्याएं भी प्राप्त हैं जिनमे ईश्वरीय शक्ति अथवा कर्म-फल आदि बातों को स्थान प्राप्त नही है। किन्तु भारतीय नियतिवाद प्रत्येक घटना के केन्द्र मे ईश्वर की इच्छा को स्वीकार करता है। प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक भारत में भाग्यवाद पर किसी भी पहलू से विचार किया गया हो किन्तु अदृष्टि की सत्ता को दैवी शक्ति के रूप मे ही स्वीकार किया गया है। सृष्टि के चक्र को मात्र कार्य-कारण-शृंखला मान कर ईश्वरीय शक्ति के प्रति नकार कही भी प्राप्त नही होता। भारतीय दर्शन में केवल चार्वाक दर्शन ही भौतिकवादी दर्शन है किन्तु यह दर्शन मिथ्या-

---

१. भर्तृहरि कृत नीति शतक · श्लोक ९२।
२. ईश्वरकृष्ण-कृत 'साख्यकारिका'—६१ पर गौडभाष्य में उद्धृत।

डंबरो तथा वैदिक परपराओ की खिलाफत ही अधिक करता है। भाग्य की शक्ति के स्थान पर पौरुष की घोषणा तथा मानवीय इच्छाशक्ति की स्पष्ट स्वीकृति उसमे भी प्राप्त नही है।

भारत का औसत मनुष्य भाग्य की शक्ति पर विश्वास करता है और उसे सर्वोपरि मानता है। हमारे जातीय मानस में नियति-विश्वास की यह भावना अत्यधिक मात्रा मे परिव्याप्त हो चुकी है।[1] नियतिवाद की कई विचारधाराओं के प्राप्त होने के उपरांत भी इस चितन के निचोड़ स्वरूप यह विचार ही प्रमुखता प्राप्त कर सका है कि जन्म से लेकर मृत्यु तक के मानव जीवन के समस्त कर्मो और घटनाओ का सूत्र ऐसी शक्ति के हाथ में है जो मनुष्य के कर्मो के अनुसार उसे फल देती है और उसे भिन्न योनियों में डालती है। मनु कहते है :—

> शुभाशुभफलं कर्म मनोवान्देह-सभवम्।
> कर्मजा गतयो नृणामुत्तमाधममध्यमाः ॥[2]

नियतिवादी विचारधारा मानवीय स्वतंत्रता तथा पौरुष पर विश्वास नही करती अतः इससे निष्क्रियता उत्पन्न होने का भय रहा है। इतिहास यह सिद्ध करता भी है कि उसने कई बार निष्क्रियता को जन्म दिया भी है। बीच-बीच मे भारतीय विचारको और दार्शनिकों ने पुरुषार्थ का समर्थन किया अवश्य है किन्तु नियति की अटल सत्ता से भारतीय बुद्धिजीवी और जन सामान्य का विश्वास कभी हटा नहीं है। यही कारण है कि कर्म योग की सबसे सबल वकालत करने वाली गीता भी भाग्यवाद का समर्थन किये बिना नही रह सकी। प्रकृति को ही गीताकार ने नियति स्वीकार किया और यह माना कि नित्य प्रति होने वाले कर्म प्रकृति पर आधारित होते हैं अतः अपने को कर्ता समझने की भावना मिथ्या है :—

> प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि नित्यशः।
> अहंकार-विमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥[3]

भारतीय साहित्य में नियतिवाद

भारतीय साहित्य मे नियतिवादी विचारधारा बिलकुल प्रारम्भ से लेकर आधुनिक युग तक अटूट शृंखला के रूप में देखी जा सकती है। वैदिक साहित्य में भाग्यवाद पर अधिक चर्चा नहीं है क्योंकि उस युग का जीवन इतना सहज और सरल

---

१. डॉ० रामगोपाल शर्मा : हिन्दी काव्य में नियतिवाद : पृष्ठ ५
२. मनुस्मृति : अध्याय १२, श्लोक ३
३. गीता : ३। २७।

था कि जीवन की गतिविधि निर्धारित करने वाली दैव या अदृष्ट जैसी किसी शक्ति पर विश्वास करने की उन्हें आवश्यकता नही पड़ी।'[1] सृष्टि की नियामक शक्ति पर उन्हें विश्वास अवश्य था किन्तु वह विश्वास मुख्यरूप से जिज्ञासा के रूप में था। उपनिषद काल तक अपने विचार मंथन के फलस्वरूप जीवन में प्राप्त होने वाले सुख-दु:ख के कारणों का उत्तर भारतीयों को कर्मफल के रूप मे प्राप्त हुआ :—

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ।।[2]

उपनिषद काल में नियतिवाद का कर्मण्यतावादी स्वरूप प्राप्त होता है किन्तु आगे चलकर धीरे-धीरे नियति पर अधिकाधिक विश्वास किया जाने लगा। पौराणिक साहित्य में नियतिवाद बिखरा पडा है। पुराण काल तक नियति को मानव जीवन को सचालित करने वाली शक्ति के रूप मे स्वीकार कर लिया गया। सम्पूर्ण पुराण साहित्य से यह विचार दिखलाई पड़ता है कि मनुष्य की शक्ति कुछ भी नही है।

संस्कृत साहित्य से प्रवाहित होती हुई भाग्यवाद की यह धारा हिन्दी साहित्य में भी आई। वीरगाथा काल के प्रसिद्ध ग्रथ पृथ्वीराज रासो में सृष्टि चक्र के मूल में ईश्वरेच्छा इन शब्दों मे स्वीकार की गई है :

दिनमान देव रवि रजनि भोर।
उग्गेइं बनै प्रभु हुकुम जोर।।
ससि सदा राति अग्या अधीन।
उग्गै प्रकाश होय कला हीन।।

हिन्दी साहित्य का भक्तिकाल तो ईश्वर के महिमागान का ही काल था अतः मनुष्य की स्वतंत्र इच्छा पर उसके अंकुश की बात पग-पग पर कही गई। निर्गुण मार्गी क्रान्तिकारी कवि कबीर भी स्वीकार करते है :—

कबीर किया कछु न होत है, अनकीया सब होइ।
जे किया किछु न होत है, तो करता औरे कोई।।

रामचरित मानस भक्तिकाल का सर्वश्रेष्ठ काव्य है। उसकी समस्त घटनाओं का संघटन एवं चरित्रों का विकास पूर्णतः नियतिवादी दृष्टिकोण से हुआ है।[3]

---

१. डॉ० रामगोपाल शर्मा : हिन्दी काव्य में नियतिवाद · पृष्ठ २९
२. कठोपनिषद : २।२।७।
३. डॉ० रामगोपाल शर्मा : हिन्दी काव्य में नियतिवाद : पृष्ठ १८१

तुलसीदास भाग्य को सर्वोपरि स्वीकार करते हुए मानवीय विवशता की बात इन शब्दों मे कहते है :—

सुनहु भरत भावी प्रबल। बिलखि कहेउ मुनि नाथ ॥
हानि-लाभ जीवन मरण। जस अपजस विधि हाथ ॥

रीतिकालीन काव्य राज्य-दरबारों मे पनपा अतः विलासमय वातावरण तक ही वह सीमित रहा। यह काव्य जनभावना से दूर रहा अतः इसमे नियतिवादी स्वर बहुत अधिक उभरकर सामने नही आ सका किन्तु उस युग की परिस्थितियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जन सामान्य मे निराशावादी नियतिवाद अवश्य पनपा होगा। भाग्यवादी दृष्टिकोण इस काल की शृंगार मे डूबी हुई रचनाओं मे भी कही-कही दिखलाई पड़ता है। 'दिनन को फेर' ने घनानंद को यह कहने के लिए बाध्य किया :

सुधा तें स्रवत विष, फूल मे जमत सूल,
तम उगिलत चंद, भई नई रीति है।
जल जारे अग, और राग करे सुरभंग,
सपति विपति पारे, बड़ी विपरीति है।

हिन्दी के आधुनिक युग का साहित्य फिर जन-भावना के समीप आया और देश के विचार-मथन को व्यक्त करने मे सक्षम हुआ। आधुनिक युग मे भी कवियो ने भाग्य की शक्ति को मुक्त हृदय से स्वीकार किया। प्रसाद ने 'आंसू' काव्य में नियति को ऐसी नटी के रूप मे स्वीकार किया है जो मानव जीवन से निरन्तर खिलवाड़ कर रही है। मनुष्य उसके समक्ष शक्तिहीन है।

नचती है नियति नटी सी
कंदुक कीडा सी करती
इस व्यथित विश्व आंगन में
अपना अतृप्त मन भरती।

पंत ने नियति को एक ऐसी निरंकुश शक्ति के रूप में चित्रित किया जो किसी भीं न्याय-सिद्धांत को नहीं मानती। वह अपने मनमाने ढंग से सृष्टि को नष्ट करती रहती है :

तुम नृशंस नृप से जगती पर चढ़ अनियंत्रित
करते हो संसृति को उत्पीड़ित, पद मर्दित।
नग्न नगर कर, भग्न भवन, प्रतिमाएं खंडित,
हर लेते हो विभव, कला कौशल चिर-संचित।

नियतिवाद पर पाश्चात्य दृष्टिकोण

सृष्टि के घटनाक्रम तथा उसमें मनुष्य की स्थिति के विषय मे केवल भारत में ही चिंतन-मनन नही हुआ है कि बल्कि सभी देशों मे किसी न किसी रूप में हुआ है। पुरुषार्थ एवं मानवीय शक्ति पर विश्वास करने के उपरात भी हर काल में हर जगह एक ऐसी विचारधारा विद्यमान रही है जो मानव पर एक अतिमानवीय शक्ति का नियंत्रण स्वीकार करती है। नियति अथवा भाग्य की सत्ता को सभी धर्मों ने स्वीकार किया।[1] अंग्रेजी में नियतिवाद के समानार्थी के रूप में डिटर-मिनिज्म, फैटालिज्म और प्रिडेस्टिनेशन शब्दों का प्रयोग किया जाता है। तीनो शब्द मनुष्य की कार्य-स्वतंत्रता को अस्वीकार करते है और उसकी अशक्यता का समर्थन करते है किन्तु तीनों शब्द तीन विभिन्न विचारधाराओ का प्रतिनिधित्व करते है।

डिटरमिनिज्म

डिटरमिनिज्म के अनुसार जगत और मानव जीवन की समस्त घटनाए अपने कारणो पर निर्भर होती हैं। कार्य और कारण की श्रृंखला ही विश्व का नियमन कर रही है।[2] यह विचारधारा मानव की स्वतंत्र इच्छा का अस्तित्व ही स्वीकार नही करती।[3] इस विचारधारा के अनुसार मनुष्य मात्र एक माध्यम है और वह उन घटनाओं और कार्यो के लिए जिम्मेदार नही है जो उसके माध्यम से होते है। जो कुछ होना है वह तो होगा ही किन्तु सब कुछ कार्यकारण-श्रृखला के रूप मे घटित होगा। पूर्व जन्म के कर्मों के फल, जन्मातरीय संस्कार आदि बातों पर यह विचारधारा कोई मत व्यक्त नहीं करती। वर्तमान के क्षण विगत घटनाओं से जन्मे हैं और वर्तमान की घटनाओं से भविष्य का जन्म होगा। मनुष्य इस घटना-क्रम मे विवश पड़ा हुआ प्राणी है। डच इतिहासकार पीटर गेल नियतिवाद को ऐसे सिद्धांत के रूप मे देखता है जिसके अनुसार हम विश्व के घटनाक्रम मे असहाय

1. The idea of an emnipotent fate over ruling all affairs of men is present in various forms in practically all relligious systems—
Encyclopaedia Britannica, Volume IX. page 109
2. The doctrine that all the facts in the physical Universe and hence also in human history, are absolutely dependent upon and conditioned by their causes.—The Dictionary of Phylosophy—page 73
3. Determinism—The name given to the theory that all events, even moral

फंसे दिखलाई पड़ते है।[1] इस सिद्धांत के अनुसार मनुष्य के कर्मो का दायित्व उस पर नही लादा जा सकता। यद्यपि इस सिद्धात के मानने वाले यह कहा करते है कि उनका सिद्धात नैतिक जिम्मेदारियों के साथ अपनी सगति स्थापित कर लेता है किन्तु इसके विरोधी इसकी आलोचना इसी आधार पर करते है कि यदि यह सिद्धांत स्वीकृत कर लिया जाय तो मनुष्य अपने अनैतिक कार्यों के लिए भी स्वयं को जिम्मेदार नही मानेगा।

फेटालिज्म

फेटालिज्म 'फेट' शब्द से बना है जिसका अर्थ भाग्य होता है। इसे 'भावी' के अर्थ में स्वीकृत करना अधिक उचित है। फेटालिज्म' के अनुसार जो कुछ घटित हो रहा है उसे घटित होना ही है।[2] यद्यपि यह शब्द 'डिटरमिनिज्म' के समानार्थी शब्द के रूप में ही प्रयुक्त होता है किन्तु डिटरमिनिज्म से इस विचारधारा का सूक्ष्म अन्तर इस रूप में स्वीकार किया जा सकता है कि यह सिद्धांत मनुष्य को घटनाओं के प्रवाह मे जकडी हुई कठपुतली मात्र स्वीकार करता है। मनुष्य की नैतिक जिम्मेदारियों को यह करीब-करीब अस्वीकार कर देता है।[3] डिटरमिनिज्म व्यावहारिक नैतिकता संबंधी सिद्धांतों से संगति बैठाने का प्रयास करता है किन्तु फैटालिज्म भवितव्यता के सामने मानवीय शक्ति को बिलकुल ही व्यर्थ मानता है।

प्रिडेस्टिनेशन

'प्रिडेस्टिनेशन' शब्द इस सिद्धात को व्यक्त करता है कि ईश्वर ने जिन मनुष्यों को पहले से चुन लिया है उन्हीकी रक्षा हो सकती है।[4] यह सिद्धांत

---

choices, are completely determined by previously existing causses opposed to indeterminism or free will.

Encyclopaedia Britannica. Volume VII, page 315

1. There are writers, like the Dutch historian Pieter Geyl, who construe it as the doctrine, according to which we are helplessly caught in the gripe of a movement proceeding form all that has gone before"—

   Determinism in history derived from Earnest Nagel. 'Determinism, free will and moral Responsibility.' Edited by Gerald Dworkin.

2. Fatalism—The attitude of mind which accepts whatever happens as having been bound or decreed to happen.

   Encyclopaedia Britannica, Vol. 9, p. 109

३. वही

4. Pre-destination—The doctrine that God had eternally chosen those

मनुष्य पर दैवी कृपा को स्वीकार करता है। आधुनिक युग में यह सिद्धांत डिटरमिनिज्म, फैटालिज्म और दैवी सरक्षण—इन तीनों से ही अलग अर्थ मे स्वीकृत किया जाता है।[१] अपने आधुनिक स्वरूप मे यह सिद्धांत मानता है कि मनुष्य के जीवन की छोटी-मोटी व्यक्तिगत घटनाएं मनुष्य की इच्छा शक्ति और स्वतंत्र निर्णय पर आधारित होती हैं किन्तु जहां तक मनुष्य जीवन की परम गति अथवा मोक्ष का प्रश्न है वह ईश्वर की इच्छा पर ही निर्भर है। यह सिद्धात किसी सीमा तक भारतीय भक्ति सिद्धांत से मिलता-जुलता है। न्यूटेस्टामेट ने मानवीय युक्ति की दैवी योजना पर जोर दिया है अतः ईसाई धर्म में इस सिद्धांत का काफी प्रसार-प्रचार हुआ।

विश्वव्यापी विचारधारा

उक्त शब्दो के पीछे छिपी विभिन्न विचारधाराओ के उपरात इन शब्दों को सामान्यत· एक ही अर्थ वहन करने वाले शब्दों के रूप मे मान्यता प्राप्त है। मनुष्य की मानवेतर शक्ति के सामने विवशता का स्वीकार उनके मूल में है। 'विभिन्न प्रकार के नियति विश्वासों ने अधिकांश जातियो के धार्मिक विश्वासों मे सर्वोपरि स्थान ग्रहण किया है एवं शासन तथा ईश्वर की सत्ता के भी ऊपर अपना अकुश लगाया है।'[२] जिस तरह भारतीय चितन यह स्वीकार करता है कि सारे प्राणी, यहां तक कि देवता भी, ब्रह्म की शक्ति के सामने बेवस है उसी तरह प्राचीन ग्रीक धर्म मे भी नियति की ऐसी सत्ता के रूप मे चित्रित किया जिसके अधीन देवता भी है।[३] पाश्चात्य समाज मे भी पूर्वी समाज की तरह नियति को भाग्य का स्वरूप ही दिया गया था और जिस तरह भारत मे भाग्य के देवता ब्रह्मा की कल्पना की गई ठीक उसी तरह पश्चिमी जगत मे भी भाग्य की देवी की कल्पना की गई। प्राचीन युग मे रोम निवासियों मे नियतिवाद का प्रचार था। धार्मिक देवी देवताओं मे नियति की देवी का महत्वपूर्ण स्थान था। ऐश्वर्यदात्री और भाग्य के रूप मे रोम च भाग्य देवी पूजी जाती थी। उसकी प्रतिभाएस्थापित की जाती थीं तथा सिक्को पर भी उसे अकित किया जाता था। होमर के काव्य

---

whom he intends to save.

Encyclopaedia Britannica, Vol. 18. p. 445

१. वही

२. डॉ० रामगोपाल शर्मा, हिन्दी काव्य मे नियतिवाद, पृ० ५

3. Greek religion had paved the way by talking of Moita or Fate, as ruler of both Gods and men, here was that idea of Law, as superior to incalculable personal decree, which would mark the essential differerce between science and mytholgy as well as between despotism and democracy. "The life of Greece."

By W. Dusant, New Yark, 1939. p. 135

मे व्यक्त धार्मिक भावनाओ की नियति से संबध है। होमर नियति की सत्ता को सर्वोच्च सत्ता स्वीकार करता है यहा तक कि ईश्वर की भी वह उसी के अधीन मानता है।

वास्तव में मनुष्य की विवशता को विश्व के अधिकांश दर्शन स्वीकार करते है। विश्व के विभिन्न देशो और जातियो मे यह विश्वास प्रचलित है। केवल विश्वास करने के तरीको मे अतर है। किसी ने उसे सूक्ष्म दार्शनिक स्तर पर स्वीकार किया और किसी ने अत्यत स्थूल स्तर पर। निग्रो जाति भाग्य पर विश्वास करती है और मानती है कि ईश्वर स्वय उपस्थित होकर कर्म के अनुसार मनुष्य को पुरस्कार अथवा दड देगा।[1] उसकी यह विचारधारा भारतीय विचार-धारा के अत्यत निकट है अंतर केवल यह है कि भारतीयों के पास दर्शन की एक लंबी परम्परा है अतः उन्होंने इसे गहराई से सोचा जबकि निग्रो जाति के पास गहराई तक जाने के लिए संस्कार नही है। तुर्को के भाग्यवाद पर तो कही-कही छींटा-कशी भी की गई है। उनके विषय मे एक व्यंग्य विचार यह है कि यदि किसी तुर्क का घर जल रहा हो तो वह आग को बुझाने का प्रयास किये बिना ही बैठा रहेगा, और यह तर्क देगा कि यदि यह अल्लाह की मर्जी है तो उसके घर को जल ही जाना चाहिए। अल्लाह की मर्जी के खिलाफ जूझना व्यर्थ है। यदि अल्लाह चाहता है कि घर न जले तो अल्लाह को आग बुझाने के लिए उसकी मदद की आवश्यकता नही है।[2]

आधुनिक युग मे भी नियतिवादी विचारधारा पाश्चात्य जगत में बराबर पनपती रही है। आधुनिक युग के विनाशकारी युद्धों ने मनुष्य के मन में मृत्यु के प्रति भय भर दिया एवं जीवन की तुच्छता का बोध कराया। यूरोप के दार्शनिकों में जो नियतिवादी विचारधारा पनपी उसमें गहरी निराशा विद्यमान रही। शापेनहावर ऐसा नियतिवादी दार्शनिक है जो हमेशा मृत्यु के भय से त्रस्त रहा उसने बार-बार यह कहा कि मनुष्य की चिंतन शक्ति और इच्छाएं स्वतन्त्र नही है। वस्तुतः वे किसी अन्य शक्ति से परिचालित हैं—'A man can surely do what he wills to do,but he can not detaind what he wills' कीर्के-गार्द, काफ्का तथा बाद मे अस्तित्ववाद को स्वीकार करने वाले दार्शनिक और साहित्यकार भी इस दर्शन से प्रभावित हुए। वैज्ञानिक दृष्टिकोण, जो कि

1, The Negro losing the joy of this world, eagerly seized upon the offered conceptions of the next; the avenging spirit of the Lord enjoining patience in this world, under sorrow and tribulation untill the great day when he should lead his dark children home—this became his comforting dream—The Souls of Black folk—p. 199

2. The Theory of good and evil, Book II, p. 330

कार्यकारण पर आधारित है और मनोवैज्ञानिक विचारधारा से नियतिवाद को और भी प्रसार-प्रचार मिला। फ्रायड की विचारधारा इसमे बड़ी सहायक सिद्ध हुई। उसने यह माना कि मनुष्य अपनी इच्छाओ के स्रोत से भी अनभिज्ञ होता है और अपने अनजाने मे अवचेतन से परिचालित होता है। मनुष्य का चेतन मस्तिष्क अत्यत असहाय है। यह विचारधारा मनुष्य को परिस्थितियो का वशवर्ती मानती है। वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को स्वीकारते हुए आधुनिक यूरोप और अमेरिका के कितने ही लेखक, दार्शनिक एव सामान्य जन नियतिवादी हैं।

पाश्चात्य साहित्य पर नियतिवादी प्रभाव

पाश्चात्य साहित्य में नियतिवादी विचारधारा स्पष्टता से देखी जा सकती है। मानव की स्वतत्न इच्छा से इकार करके उसकी 'विवशता को कितने ही पश्चिमी साहित्यकारों ने स्वीकार किया है।

शेक्सपियर

अंग्रेजी साहित्य के अन्यतम नाटककार शेक्सपियर ने अपने साहित्य में बार-बार मानव की विवशता को स्वीकार किया है। उसके नाटकों की रचना में नियतिवादी दर्शन का बड़ा भारी हाथ रहा है। वह नियति को एक क्रूर एवं अंध-शक्ति मानता है जो मनुष्य के साथ खेल करती रहती है। ऐसी आकस्मिक घट-नाएं, जिनपर मनुष्य का वश नहीं है, उसके पात्रों के जीवन को नष्ट कर देती है। 'हैमलेट' नाटक में शेक्सपियर बड़ी तीव्रता से यह प्रश्न उठाता है कि भाग्य के भीषण प्रहारों का सामना मनुष्य किस तरह करे ?[१] इस नाटक में शेक्सपियर अपने विशिष्ट व्यंग्यात्मक लहजे में भाग्य को वेश्या निरूपित करता है। हैमलेट, रोजनक्रेन्स एवं गिल्डस्टन के वार्तालाप के माध्यम से वह व्यक्त करता है कि भाग्य का बहुत दुलारा नहोना ही सबसे बड़ा भाग्य है।[२] अपने नाटकों के घटना-क्रम के माध्यम से शेक्सपियर यह सिद्ध करता है कि मानवीय प्रयास नियति की शक्ति के सामने अत्यंत तुच्छ है। 'हैमलेट' नाटक में हैमलेट अपने मित्न होरेशियो से कहता है कि मनुष्य की असफलताएं मनुष्य को यह सिखाती हैं कि उसकी योजनाओं का सूत्र उसके हाथ में नही है बल्कि अदृश्य के हाथ मे है :

---

1. Whether it is nobler in the mind to suffer the slings and arrows of outrageous fortune, or to take arms against a sea of troubles, and by opposing end them ?

—Hamlet, Act III

2. Hamlet—Act II, Scene II

'Rashly'

And praised be rashness for it, let us know, our
indiscretion sometimes serves us well when our
deep plots do pall
and that should teach us
There's a divinity that shapes our ends,
Rough—hew them how we will.

शेक्सपियर मानता है कि संघर्षों मे मनुष्य की स्थिति तुच्छ मक्खी की तरह है। 'किंग लियर' में अर्ल ऑफ एलास्टर कहता है—

As flies to wanton boys are we to the gods
they kill us for their sport.

शेक्सपियर के नाटकों में मनुष्य परिस्थितियों के सामने बिलकुल असहाय चित्रित किया गया है। डॉ० एस० पी० खत्री उसके नायकों के विषय में लिखते हैं, "हैमलेट, आथेलो, मैकबेथ, लियर इत्यादि नायक अपने मन की एकांत लगन के कारण भाग्यचक्र में फंसकर प्रताड़ित होते हैं, हत्या करते है और स्वयं भी आत्महत्या कर बैठते हैं।"[१]

जान कॉल्विन

कॉल्विन सोलहवीं शताब्दी का नियतिवादी दार्शनिक है जिसने नियतिवाद के पाश्चात्य दृष्टिकोण को काफी प्रभावित किया। उसकी विचारधारा काल्विनिज्म के नाम से प्रचारित हुई। वह मानता है कि ईश्वर ही जगत् का केन्द्रबिंदु है। ईश्वर की इच्छा ही संपूर्ण विश्व में व्याप्त है और मनुष्य पूरी तरह उस पर निर्भर है।[२] पाश्चात्य जगत् में सामान्यत: नियति को अंध-अचेतन शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है किन्तु कॉल्विन ऐसा नहीं मानता। उसकी दृष्टि में नियति ईश्वर की शाश्वत इच्छा है जो टाली नहीं जा सकती। इस तरह कॉल्विन नियति की क्रूरता को अपने विचारों में स्थान नहीं देता।

मिल्टन

मिल्टन सत्रहवी शताब्दी का विश्वप्रसिद्ध अंग्रेज कवि है। मिल्टन का

---

१. डॉ० एस० पी० खत्री, अंग्रेजी साहित्य का इतिहास, पृ० ७६

2. Generally speaking, calvinistic thought is a system in which God is made the centre of all that is and happens, God's will pervading human and cosmic events, and upon whom man is utterly and cheerfully dependent. —Dictionary of Philosophy, p. 43

नियतिवाद बहुत कुछ भारतीय कर्म-फल की विचारधारा से मिलता है। वह मानता है कि जीव के शुभाशुभ कर्मों पर उसकी नियति आधारित है। उसके अनुसार मनुष्य के दुर्भाग्य का मूल कारण उसी की बलवती भावनाएं हैं। आदमी अपनी दुष्प्रवृत्तियों का ही परिणाम भोगता है। जीवन की सार्थकता के पीछे उसके अच्छे कर्म ही होते हैं। नियति के पास मनुष्य की त्रुटियों और अपराधों का ब्योरा होता है। इन त्रुटियों और अपराधों के बदले नियति दुर्दैव तथा आपत्तियां मनुष्य पर बरसाती है। मिल्टन के जीवन की कितनी ही आशाएं टूटी थीं इसीलिए वह नियतिवादी बन गया था। उसके प्रसिद्ध ग्रंथ 'पैराडाइज लास्ट' के चरित्रांकन और विचारधारा पर उसके दर्शन का प्रभाव है।

फिट्जेरल्ड

उन्नीसवी शताब्दी का कवि फिट्जेरल्ड मनुष्य को नियति के सामने बेबस मानता है। वह नियति को एक क्रूर शक्ति के रूप में देखता है जिसके हाथों में मनुष्य विवश होकर छटपटाने के सिवाय और कुछ नहीं कर सकता। नियति का शासन इतना निरंकुश है कि उसमें न तो ईश्वर हस्तक्षेप कर सकता है और न ही मनुष्य के शुभाशुभ कर्म उसे बदल सकते हैं। संसार अंधकार से भरा हुआ है और मनुष्य उसमें भटकते हुए अपना रास्ता ढूढ़ रहा है। राह ढूढने के लिये भी मनुष्य के पास अंधी मति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

थामस हार्डी

अग्रेजी साहित्य में उपन्यासकार थामस हार्डी का स्थान महत्त्वपूर्ण है। कवि के रूप में भी थामस हार्डी की ख्याति है। थामस हार्डी कट्टर नियतिवादी है। अपने सभी उपन्यासों में उसने मनुष्य और अदृश्य की शक्ति के संघर्ष में मनुष्य को पराजित चित्रित किया है। हार्डी के सभी उपन्यासों में मनुष्य नियति के दुर्दम हाथों से कुचल दिया जाता है। उसके उपन्यासों के पात्र अकस्मात् भाग्य से पराजित हो जाते हैं और उनका सारा जीवन तहस-नहस हो जाता है। 'डेसपैरेट रेमेडीज', 'दि ट्रम्पेट मेजर', 'फार फ्राम द मैडन क्राउड', 'दि मेयर ऑफ कैस्टरब्रिज', 'टेस', 'जूड दि आब्स्क्योर' आदि सभी उपन्यासों के माध्यम से वह चित्रत करता है कि मनुष्य की कोई भी स्वतन्त्र इच्छा नहीं होती और उसका जीवन नियति के क्रीड़ा कन्दुक से अधिक कुछ नही है। हार्डी ने अपने उपन्यासों के माध्यम से दुष्कर्मो का प्रतिवाद भी किया है और माना है कि सद्-असद् कर्मो के आधार पर ही भाग्य-फल की प्राप्ति होती है।

हिन्दी उन्पयास साहित्य में व्यक्तिवाद

प्रारम्भिक उपन्यासों में व्यक्तिवादी चेतना की अनुगूंज

रेल्फ फाक्स ने कहा है कि उपन्यास की केन्द्रीय वस्तु 'व्यक्ति' है और यह विधा उसी समाज में अधिक पल्लवित होती है, जहां व्यक्ति और समाज के बीच का संतुलन बिगड़ गया हो।[१] यह विश्लेषण अपने-आपमे बिलकुल ही पूर्ण हो— यह कहना शायद कठिन है किन्तु इस बात में तथ्य अवश्य है। विश्व की अधिकांश प्रमुख भाषाओं मे सशक्त औपन्यासिक कृतियो का सृजन वास्तव में ऐसे समय हुआ जब मनुष्य और समाज आमने-सामने असंतुष्ट मुद्रा में खड़े थे। हिन्दी उपन्यास मे भी व्यक्तिवादी चितन का प्रारम्भ ऐसे समय हुआ जब सामाजिक बंधनों और परम्पराओं को आंख मूद कर स्वीकार कर लेने के लिए व्यक्ति तैयार नही था।

"पूर्व प्रेमचंद काल में व्यक्ति का महत्त्व समाज के सामने नगण्य था। उस युग में व्यक्तिवादी चितन का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि उस युग के लेखकों ने इसकी कल्पना ही नही की थी कि समाज से भी अलग किसी व्यक्ति की सत्ता हो सकती है।"[२] हिन्दी मे चिंतनप्रधान सामाजिक उपन्यासों का प्रारम्भ प्रेमचंद से हुआ। प्रेमचंद्र का पूववर्ती उपन्यासकार स्वयं भी कल्पना के तिलिस्मी संसार की सैर करता था और अपने पाठकों को भी करवाता था। प्रेमचद ने उपन्यास को यथार्थवाद की ओर मोड़ा।[३] प्रेमचंद के पूर्ववर्ती उपन्यासकारों ने साहित्य के किसी गंभीर उद्देश्य की कल्पना नही की थी। कल्पना के आकाश से हिन्दी कथा-साहित्य को यथार्थ की धरती पर उतारने का काम प्रेमचंद ने सफलतापूर्वक किया। तत्कालीन समाज का समग्र चित्राकन प्रेमचंद के साहित्य में प्राप्त होता है। हम कह सकते हैं कि प्रेमचंद का दृष्टिकोण समाज-सापेक्ष था। जीवन के प्रति प्रेमचद का दृष्टिकोण व्यापक है, इसलिए वे कही भी केवल व्यक्ति को केन्द्रबिंदु

---

1. The Novel deals with the individuals, it is the epic of struggle of the individual against society, against nature and it could only develop in a society where the balance between man and society was lost, where man was at war with his fellows or with nature.
—Fox Ralph : The Novel and the People, P. 74

२. डॉ० सुरेश सिन्हा : हिन्दी उपन्यासों में नायिका की परिकल्पना, पृष्ठ २७०

३. डॉ० रामदरश मिश्र : हिन्दी उपन्यास, पृष्ठ ६३

बनाकर नहीं चले। वे व्यक्ति के माध्यम से समाज की कथा कहते हैं।[1] समाज का यथार्थवादी चित्रण तथा उसका पथ-प्रदर्शन प्रेमचंद के उपन्यास साहित्य का उद्देश्य है।

प्रेमचद

प्रेमचद का चिंतन और लेखन समाज-सापेक्ष है किन्तु उनके साहित्य मे न केवल व्यक्ति और समाज के संघर्ष उभरते दिखलाई पड़ते है बल्कि व्यक्तिवादी चिंतन की अनुगूज भी सुनाई पडने लगती है। सामाजिक मान्यताओं के ही आधार पर व्यक्ति को अच्छा या बुरा न करार देकर वह स्वीकार करते थे कि बुरे से बुरे व्यक्ति में सद्बुद्धिया विद्यमान रहती हैं और प्रयत्न करने पर उन्हें जाग्रत् किया जा सकता है। दिखावे के धर्म का वे विरोध करते हैं।[2] 'रंगभूमि' में सूरदास के माध्यम से उन्होंने व्यक्तिनिष्ठ धर्म का उदाहरण भी प्रस्तुत किया। हिन्दी के उपन्यासों मे प्रेमचद-युग के काफी बाद व्यक्तिवादी नायकों के दर्शन होते हैं किन्तु व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन की झलक प्रेमचंद के 'गोदान' मे प्रोफेसर मेहता में दिखलाई पड़ती है। मेहता के विचार इन शब्दो में प्रकट होते है, "मैं प्रकृति का पुजारी हूं और मनुष्य को उसके प्राकृतिक रूप में देखना चाहता हूं। जीवन मेरे लिए आनन्दमय क्रीड़ा है। सरल, स्वच्छन्द जहां कुत्सा, ईर्ष्या और जलन के लिए कोई स्थान नहीं। मैं भूत की चिता नही करता, भविष्य की परवाह नहीं करता, मेरे लिए वर्तमान ही सब कुछ है। भविष्य की चिता हमें कायर बना देती है, भूत का भार हमारी कमर तोड़ देता है।"[3] प्रेमचंद के साहित्य में व्यक्तिवादी पात्र के दर्शन अवश्य होते है किन्तु वे उसी अर्थ में व्यक्तिवादी पात्र नही हैं जिस अर्थ में आज के उपन्यासों के पात्र व्यक्तिवादी कहे जाते हैं। व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन आगे चलकर इस हद तक बढा कि उसने समाज की सत्ता को पूरी तरह नकार कर एक विकृत दृष्टिकोण को जन्म दिया किन्तु 'गोदान' के प्रोफेसर मेहता स्वस्थ व्यक्तिवादी इसलिए हैं कि उन्होंने आचरण में दृढ़ता, नैतिक दायित्व और मानसिक स्वस्थता दिखलाई।[4]

---

१. डॉ० रक्षा पुरी : प्रेमचद साहित्य में व्यक्ति और समाज, पृष्ठ ७०

२. "ईश्वर की उपासना का केवल एक मार्ग है और वह है मन, वचन और कर्म की शुद्धता। अगर ईश्वर इस शुद्धता की प्राप्ति मे सहायक है, तो शौक से उसका ध्यान कीजिये, लेकिन उसके नाम पर जो हरेक धर्म में स्वाग हो रहा है, उसकी जड खोदना किसी तरह ईश्वर की बड़ी सेवा है।"—विविध प्रसग, भाग-३

सकलनकर्ता : अमृत राय, पृष्ठ १५४

३. गोदान, पृष्ठ १०७

४. डॉ० चन्द्रकान्त महादेव बादिवदेकर : हिन्दी और मराठी के सामाजिक उपन्यासो का तुलनात्मक अध्ययन, पृष्ठ २६०

हिन्दी में स्वच्छन्दतावादी साहित्य का उदय भी व्यक्तिवाद का एक लक्षण माना जा सकता है। स्वच्छन्दतावादी लेखक का जीवन-दर्शन व्यक्तिवादी होता है। उसके स्वयं के व्यक्तिगत आदर्श और मान्यताएं होती है—चाहे उसका समाज से मेल हो या न हो। समाज की, धर्म की या शासन की निगाहों से किसी की समस्या को स्वच्छन्दतावादी लेखक नही देखता। व्यक्ति को उसकी वैयक्तिकता में देखने का प्रेमी होने के कारण स्वच्छन्दतावादी उपन्यासकार ऐसे पात्रों की सृष्टि करता है जो स्वतंत्र व्यक्तित्व के 'व्यक्ति पात्र' होते है—वर्ग या टाइप नहीं।[1] इस दृष्टि से ठाकुर जगमोहनसिंह को प्रथम स्वच्छन्दतावादी (और इसीलिए व्यक्तिवादी भी) उपन्यासकार कुछ आलोचकों ने स्वीकार किया है। क्योंकि उनके उपन्यास में उनके निजी जीवन की झलक है। स्वानुभूति के आधार पर किसीके द्वारा उपन्यास लिखे जाने की यह पहली घटना थी।

जयशंकर प्रसाद

जयशंकर प्रसाद ने जिस तरह अपने काव्य में व्यक्तिवादी चितन को प्रश्रय दिया, उसी तरह अपने उपन्यासो में भी उन्होंने व्यक्तिवादी विचारधारा को स्थान दिया। जयशंकर प्रसाद सांस्कृतिक परपराओं के हिमायती थे किन्तु सामाजिक समस्याओं के प्रति उनका दृष्टिकोण व्यक्तिवादी था। सामाजिक समस्याओं का समाधान बधी-बंधाई रूढियों और परम्पराओं के द्वारा किए जाने में उनका विश्वास नही था। वे मानव-मन को किसी विशिष्ट सामाजिक ढांचे में ढाल देने का विरोध प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से करते दृष्टिगोचर होते हैं। उन्हें विशुद्ध रूप से व्यक्तिवादी नहीं कहा जा सकता पर उन्होंने अपने व्यक्तिवाद को मानवतावाद से जोड़ा। उनके अपने युग तक नारी की स्थिति अत्यंत बुरी थी और वह केवल पुरुष की वासना का शिकार हुआ करती थी। प्रसादजी चाहते थे कि नारी रूढ़ियों और परम्पराओं से मुक्त होकर एक स्वतंत्र इकाई के रूप मे जीवन यापन कर सके। "जयशंकर प्रसाद ने व्यक्तिवादी मानवतावाद के अनुरूप प्रेम का स्वच्छन्द रूप ग्रहण किया था, पर वे अनैतिकता एवं असंयम मे विश्वास नही करते थे।"[2]

व्यक्ति और समाज के संबंधों पर प्रसाद जी ने अपने साहित्य पर विचार किया है। 'तितली' उपन्यास में बाबा रामनाथ व्यक्ति की स्वतंत्र सत्ता की विवेचना इस तरह करते हैं, "भारतीय आत्मवाद के मूल में व्यक्तिवाद है, किन्तु उसका रहस्य है। युद्ध का परिणाम मृत्यु है। जीवन में युद्ध का क्या संबंध ? युद्ध

---

१. डॉ० कमल कुमारी जौहरी : हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी उपन्यास, पृष्ठ १६५
२. डॉ० सुरेश सिन्हा : हिन्दी उपन्यास, पृष्ठ २१४

तो विच्छेद है और जीवन में युद्ध सहयोग है।"[1]

'कंकाल' उपन्यास में प्रसादजी स्त्री-पुरुष समस्या पर व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से विचार करते हैं। लेखक उन पात्रों के हृदय मे महानता के दर्शन करता है जो सामाजिक दृष्टि से कुलीन नहीं है। 'कंकाल' मे प्रसाद जी सामाजिक जर्जरता और विसंगतियों पर तीव्र प्रहार करते है। समाज के ऊपर पड़ा हुआ नकली आवरण वे बड़ी बेदर्दी से हटाते हैं। वे यह भी दर्शाते है कि विवाह पैरों की शृंखला के रूप में नहीं होना चाहिए बल्कि दो आत्माओं के पवित्र बंधन के रूप में होना चाहिए। उपन्यास अपनी समग्रता में यह बतलाता है कि व्यक्ति के स्वतंत्र रहने मे ही उसका कल्याण है। रूढ़ि-जर्जर समाज के प्रति उनका विद्रोह उपन्यास में स्पष्ट है। सामाजिक विसंगतियों के चंगुल में फंसकर ही व्यक्ति गलत काम करता है। यदि व्यक्ति को कुछ अधिक स्वतंत्रता प्राप्त हो तो उसका जीवन इतना गर्हित न हो। स्वतंत्रता उसे कुठाहीन बनाएगी और उसमे नैतिकता का जन्म होगा। समाज अपने गलत किन्तु कठोर नियमों से उसमे नैतिकता नही पनपा सकता। उपन्यास मे 'भारत संघ' की कल्पना उन्होंने इसी आधार पर की। 'तितली' में भी वे अंतर्जातीय विवाह का समर्थन करते हैं। इन्द्रदेवी, जो कि वर्ग-व्यवस्था एवं धार्मिक रूढियों की कट्टर समर्थक है, नवीन जीवन सिद्धांतों को स्वीकार करती हुई दिखलाई पड़ती है।

प्रसाद की व्यक्तिवादी चेतना केवल मौलिक स्तर पर सीमित नही रह जाती बल्कि वे उसे छानकर मानसिक स्तर तक पहुचाते है। तात्पर्य यह कि व्यक्तिवादी आस्था के दुर्गुणों को परिमार्जित कर वे उसे समाज का सहयोगी तत्त्व बनाते हैं। वे नैतिकता की कल्पना बाहरी बन्धनों के माध्यम से नही करते बल्कि उसे आंतरिक प्रेरणा के रूप मे स्वीकार करते हैं। उनका व्यक्तिवाद केवल व्यक्ति के 'स्व' तक ही केन्द्रित नहीं है बल्कि वह आत्मिक उत्थान और पर-सेवा तक उसका विस्तार करते हैं। व्यक्ति स्वातंत्र्य का अर्थ वे कुछ विशिष्ट क्षेत्रों में व्यक्ति की अबाध स्वतंत्रता और व्यक्ति की सुख-सुविधा तक ही सीमित नही करते। वे चाहते है कि सामाजिक बंधनों से मुक्त होकर व्यक्ति अपना आत्मिक विकास कर सके।

वृन्दावनलाल वर्मा

यों तो वृन्दावनलाल वर्मा ऐतिहासिक उपन्यासकार हैं, किन्तु उन्होंने कुछ सामाजिक उपन्यास भी लिखे हैं। उन उपन्यासों में सामाजिक समस्याओ के चित्रण के अतिरिक्त व्यक्ति स्वातंत्र्य की तीव्र आकाक्षा भी दिखलाई पड़ती है।

---

१. प्रसाद : तितली, पृष्ठ ९६

उनके इस श्रेणी के उपन्यासों मे 'कुण्डली चक्र' और 'अचल मेरा कोई' रखे जा सकते हैं। अपने सामाजिक उपन्यासों में जिन समस्याओं का चित्रण वे करते है, उनके प्रति उनका दृष्टिकोण क्रांतिकारी है। अपनी तरफ से वे प्रगतिशील समाधान भी प्रस्तुत करने का प्रयास करते है।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी

वाजपेयी जी के उपन्यासो में व्यक्तिवादी स्वर कुछ अधिक उभरा है। प्रारंभिक उपन्यासों में इनका व्यक्तिवादी स्वरूप अधिक स्पष्ट है।[1] 'अनाथ पत्नी' मे नारी की स्वातंत्र्य की इच्छा की अभिव्यक्ति की गई है। 'प्रेम पथ' उपन्यास में वासना और कर्तव्य के अंतर्द्वंद्व को चित्रित करते समय वाजपेयी जी का व्यक्तिवादी चिंतन सामने आया है।

व्यक्तिवाद का तीव्र स्वर

व्यक्तिवाद का तीव्र स्वर उपन्यास साहित्य में भगवती चरण वर्मा तथा जैनेन्द्र कुमार जैसे लेखकों के आगमन पर सुनाई पड़ता है। प्रेमचद मूलतः सामाजिक जीवन के चितेरे थे, अतः उनके उपन्यासों मे समाज के बृहत् चित्र है, व्यक्ति के गहन चित्र नही। उनके कथानक का कैनवस बड़ा है, वह पात्र बहुल और घटना सकुल है। उनका यथार्थ भी आदर्शोन्मुख है। उनके पात्रों में अंतर्द्वन्द्व दिखलाई पड़ता है, पर न तो वे इलाचंद्र जोशी के पात्रों की तरह वैयक्तिक कुंठाओं के शिकार हैं और न ही अज्ञेय के पात्रों की तरह समाज से पूर्ण विद्रोह करते हैं। पात्रों के मनोविज्ञान को ही उन्होंने अपने लेखन का साध्य नही माना। प्रेमचंद अपने उपन्यासों में समाज को सामने रखते, पात्रों को समाज की मिट्टी से गढ़ते हैं तथा उन्हें व्यक्तित्व भी देते है।[2] व्यक्तिवाद अपने शुद्ध रूप में समाज को नकारता है। वह समाज का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नही मानता बल्कि उसे व्यक्तियों से मिलकर बना हुआ एक समूह मानता है। इस समाज को इस बात का कोई अधिकार नही है कि वह व्यक्तियों के ऊपर कोई अनुशासन या नियंत्रण रखने का प्रयत्न करे।[3]

भगवती चरण वर्मा

भगवती चरण वर्मा अपने उपन्यासों में स्पष्ट रूप से व्यक्तिवादी जीवन

---

१. डॉ० बलभद्र तिवारी : आधुनिक साहित्य की व्यक्तिवादी भूमिका, पृष्ठ २३४
२. डॉ० रामदरश मिश्र : हिन्दी उयन्यास : एक अन्तर्यात्रा, पृष्ठ ७७
३. डॉ० सुरेश सिन्हा : हिन्दी उपन्यासो में नायिका की परिकल्पना, पृष्ठ २९८

दर्शन को अपनाते हुए दिखलाई पड़ते हैं। वे इस कोटि के उपन्यासकार है जो व्यक्ति को महत्त्व देकर भी समाज की पूर्ण रूप से उपेक्षा नही करते। भगवती बाबू व्यक्ति के अहम् के समर्थक भी हैं। उनके उपन्यामों में विद्यमान व्यक्तिवाद पर विस्तृत चर्चा हम अगले अध्यायों में करेंगे।

जैनेन्द्र कुमार

जैनेन्द्र कुमार ने अपने उपन्यासों का अभीष्ट व्यक्ति को बनाया।[1] उनके उपन्यासों मे कहानी निमित्त मात्र होती है, व्यक्ति का मानस-मंथन ही उनका लक्ष्य होता है। उनका 'व्यक्ति' बहुत कुछ सामाजिक यथार्थ से निरपेक्ष एक विशिष्ट दायरे मे घूमता हुआ दिखलाई पड़ता है। कथा की दुनिया व्यक्ति-मन के भीतर अधिक चलती है, बाहर कम।[2] इसी बात पर डॉ० देवराज ने कहा है, "जैनेन्द्र को जीवन के प्रश्नों मे दिलचस्पी है, युग विशेष की समस्याओं मे नही।[3] उनके उपन्यासों मे गांधीवादी चिन्तन के प्रति अनुरक्ति दिखलाई पडती है और अपने विशिष्ट आदर्शवादी मूड में उनके पात्र समाज को न ताड़ने-फोड़ने की बात कर समाज के अस्तित्व को स्वीकार करते, से दिखलाई पड़ते है, पर तनिक गौर से देखने पर मालूम पड़ जाता है कि वे पात्र वस्तुतः लेखक के जीवन-दर्शन से परिचालित हैं और उनके कार्यों से उनके उस समाज-समर्पित-दर्शन की संगति नहीं बैठ पाती। वास्तव में व्यक्ति का मनोविश्लेषण जैनेन्द्र का प्रिय विषय रहा है अतः व्यक्ति के बाह्य समाजगत सघर्ष को छोड़कर वे व्यक्ति के अंतःसंघर्ष की सूक्ष्मता पर अपने को केन्द्रित करते हैं। उदाहरणस्वरूप हम उनके दो प्रमुख उपन्यासों की चर्चा कर रहे है।

'सुनीता' जैनेन्द्र के श्रेष्ठ उपन्यासों में से है और उसमें उनकी मनोविश्लेषणात्मक शक्ति का पूर्ण परिचय मिलता है। डॉ० गणेशन इसी उपन्यास से व्यक्तिवादी उपन्यासों का प्रारम्भ मानते है।[4] श्रीकान्त, उसकी पत्नी सुनीता तथा उसके मित्र हरिप्रसन्न के त्रिकोण के माध्यम से लेखक कथा को विस्तार देता है। प्रतिभाशाली किन्तु अव्यवस्थित हरिप्रसन्न को व्यवस्थित तथा प्रसन्न

---

१. "जैनेन्द्र ने सर्वप्रथम हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र मे सामाजिक जीवन की अपेक्षा कथानकों के लिये व्यक्ति के जीवन को चुना।"
—हिन्दी उपन्वासों में कल्पना के बदलते हुए प्रतिरूप—डॉ० शीलकुमारी अग्रवाल : पृष्ठ ४१-४२

२ डॉ० राम दरश मिश्र : हिन्दी उपन्यास · एक अंतर्यात्रा, पृ० ७८

३. डॉ० देवराज : साहित्य चितन

४. डॉ० गणेशन : हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन, पृ० २५६

रखने का आदेश सुनीता को देकर श्रीकान्त कहीं बाहर चला जाता है। हरिप्रसन्न के मन मे सुनीता के प्रति आकर्षण है। सुनीता एक अजीब-से अंतर्द्वन्द्व से गुजरती है। हरिप्रसन्न सुनीता से क्रांतिकारी दल में शामिल होने को कहता है। सुनीता जब उसके साथ जंगल जाती है तो हरिप्रसन्न उसे समूचा पाना चाहता है। सुनीता एक-एक वस्त्र उतार कर उसके सामने नग्न हो जाती है। हरिप्रसन्न इस आकस्मिक और स्पष्ट समर्पण से घबराकर पलायन कर जाता है और सुनीता लौटकर पति के साथ प्रेमपूर्ण जीवन बिताती है।

यह एक अजीब तथ्य है कि सभी व्यक्तिवादी उपन्यासकार किसी न किसी तरह क्रांतिकारी पात्रों का जिक्र करते है और यह भी कि ये पात्र भीतर से कुठित और थके हुए होते हैं। प्रस्तुत उपन्यास क्रांतिकारी पात्र की कथा को तत्कालीन परिवेश एव इतिहास से जरा भी नहीं जोड़ता। इस उपन्यास में कहीं भी समाज और इतिहास जैसी वस्तु दिखलाई नही पड़ती। हरिप्रसन्न की कुंठाओ पर ही लेखक की दृष्टि है। हरिप्रसन्न की कुंठा का संबंध यौन भावना से है अतः उसे तोड़ने में नारी ही सफल हो सकती है। लेखक अपना विशिष्ट जीवन-दर्शन लेकर चला है और उसके अनुकूल पात्र और कथानक ढलते हैं। अपने मत की स्थापना और पात्रों का मनोविश्लेषण लेखक का उद्देश्य है; साथ ही व्यक्ति के महत्त्व की स्वीकारोक्ति भी। सुनीता, जो कि केन्द्रीय पात्र है, कहती है, "कहते हो कि राष्ट्र विराट् है, व्यक्ति छोटा है। ठीक, किन्तु राष्ट्र मुझे अप्राप्य है, मेरे निकट प्राप्त तो व्यक्ति ही है।"[१]

'त्यागपत्र' जैनेन्द्र का महत्त्वपूर्ण उपन्यास है और व्यक्तिवाद के सदर्भ मे विवेच्य है। 'त्यागपत्र' नायिकाप्रधान उपन्यास है। मृणाल संभ्रांत परिवार की लड़की है, उसके माता-पिता मर चुके हैं अतः उसका बड़ा भाई उसका अभिभावक है। स्कूल में पढ़ते हुए वह स्वच्छंद जीवन बिताती है। सहेली शीला के भाई से उसका प्यार होता है जो उसके जीवन को अस्त-व्यस्त कर देता है। उसकी भाभी उसे पीटती है और कुछ दिनों में उसका विवाह एक अधेड़ व्यक्ति से हो जाता है। उसका पति उसके पुराने प्रेम-संबंध को सुनकर उसे घर से निकाल देता है। उसके बाद मृणाल एक कोयले वाले के साथ रहती है और अत तक एक के बाद एक यातनाओं को जैसे स्वयं गले लगाती है और मर जाती है। उसकी मृत्यु उसके भतीजे को हिला देती है और वह अपनी जजी से इस्तीफा दे देता है।

उपन्यास का विश्लेषण करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि मृणाल का चित्रांकन पूरी तरह लेखक के व्यक्तिगत दर्शन के आधार पर हुआ है। डॉ० रामदरश मिश्र ने ठीक ही कहा है, "ये पात्र देखने में बहुत सहज होते है, किन्तु

---

१. जैनेन्द्र, सुनीता, पृ० १४६

वास्तव मे वे विशेष प्रकार की व्यक्तिवादी भूख और लेखक के मूढ़ आरोपित दर्शन से परिचालित होते हैं।"[1]

मृणाल आत्म-पीड़ा को व्यर्थ ही क्यों अपने ऊपर ओढ़ती रहती है, यह बात समझ में आसानी से नहीं आती। समाज की वर्तमान व्यवस्था में पिसते हुए एक व्यक्ति (मृणाल) का चित्रण लेखक करता है और उसके प्रति अपनी पूर्ण सहानुभूति देता है। लेखक का पूर्ण प्रयास रहा है कि उसके जीवन-दर्शन पर खरी उतरती हुई मृणाल से पाठक की भी पूरी सहानुभूति रहे। मृणाल समाज की सारी परंपराओं और नैतिक मूल्यों की उपेक्षा करती है। अपने दर्शन के अनुसार वह अपने हर कार्य को नैतिक स्तर पर ही 'जस्टीफाई' करती है। हर दृष्टि से मृणाल एक व्यक्तिवादी पात्र सिद्ध होती है। उसके चरित्र का विरोधाभास केवल वहां उभरता है जहां वह समाज को विकृत न करने की इच्छा प्रकट करती है। यहीं प्रश्न उठ जाता है कि इस स्थिति में उसने ऐसे कार्य किये ही क्यों? नितांत व्यक्तिगत स्तर पर जीवन को क्यों जिया? जैनेन्द्र ने उसे गांधीवादी दर्शन के अनुसार आत्म-पीड़ा में आनन्द उठाते हुए भी दर्शाया है। जैनेन्द्र के उपन्यास, विशेष कर 'त्यागपत्र' के विषय में डॉ० सुखदेव शुक्ल का कथन सत्य प्रतीत होता है, "उनकी रचनाओं में व्यक्ति के नैतिक प्रश्नों का सूक्ष्म विश्लेषण अवश्य मिलेगा, किन्तु समाज के सम्मुख नैतिक प्रश्नों का उन्होंने समाधान प्रस्तुत नहीं किया है।"[2]

इलाचंद्र जोशी

इलाचंद्र जोशी अपने उपन्यासों में मनोविश्लेषणवादी सिद्ध होते हैं। व्यक्ति के आंतरिक सत्य को वे बाह्य सत्य से कहीं अधिक महत्त्व देते है। उनका विश्वास है कि विश्व की उथल-पुथल का कारण यह है कि मनुष्य अपने अतर्जीवन की उपेक्षा कर रहा है। विश्व में जो कुछ भी घट रहा है, वह व्यक्ति की अवचेतना के माध्यम से ही घट रहा है। ऐसी स्थिति मे, जबकि हम बाह्य समस्याओ के मूल में आंतरिक चेतना के रोल से अनभिज्ञ है, हमारे समाधान भी थोथे होते है।[3] मनुष्य मे अहम् भाव अत्यंत प्रबल है और जोशीजी अपने उपन्यासो के पात्रो के अहम् का विश्लेषण करते है। जोशीजी ने व्यक्ति के अतस् का अध्ययन करने की चेष्टा की है और इसमे उन्होंने मनोविश्लेषणवाद का आश्रय भी ग्रहण किया

---

१. डॉ० रामदरश मिश्र : हिन्दी उपन्यास : एक अतर्यात्रा, पृ० ८१
२. डॉ० सुखदेव शुक्ल : हिन्दी उपन्यास का विकास और नैतिकता, पृ० १२८
३. इलाचद्र जोशी : प्रेत और छाया (भूमिका), पृष्ठ ११

है, पर ये है व्यक्तिवादी उपन्यासकार।[१] व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन व्यक्ति को उसी स्थान पर पहुंचा देता है जहा अहम् ही सबसे प्रबल होता है। अहम् जितना प्रबल होगा, व्यक्ति का समाज से सघर्ष उतना ही प्रबल होगा। जोशी जी अपने उपन्यासों के माध्यम से उसी अहम् पर प्रहार करते हैं और मानव मन के सभी नकली आवरण उतार कर उसे असली रूप में हमारे सामने रख देते है। व्यक्ति में पनपता अहम् भाव वर्तमान पूजीवादी संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता है। जोशीजी अपने उपन्यासों में पूजीवादी संस्कृति की मान्यताओं पर कठोर प्रहार करते हैं। उन्होंने अपने उपन्यासों में मार्क्सवादी एव मनोविश्लेषणवादी दृष्टि-कोणों के मध्य परस्पर सामजस्य स्थापित कर व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन को विकसित करने का प्रयत्न किया है।[२] कहा जा सकता है कि उनके पात्र 'व्यक्ति' होते हैं किन्तु जोशीजी उन्हें समाज से जोड़ते है।

उनके अधिकांश उपन्यासों में एक ही समस्या विभिन्न रूप धारण करके आती है। यह समस्या है अहम् तुष्टि और दमित यौन भावना। उनके उपन्यास 'सन्यासी' का नायक नन्दकिशोर तो अहम् का पुतला है और अपने समक्ष किसी के गर्व को बर्दाश्त नहीं कर सकता। जयन्ती का गर्व तोड़ने के लिये ही वह उससे विवाह करता है। नन्दकिशोर का अहम् इतना बढ़ता है कि वह समाज, नैतिकता आदि सभी का तिरस्कार करता है। यहीं पर वह भयकर व्यक्तिवादी है। 'पर्दे की रानी' में वैयक्तिक पक्ष पूरी तरह उभरकर सामने आया है। इस उपन्यास का नायक इन्द्रमोहन और नायिका निरंजना दोनों मे ही भयंकर अहम् की भावना विद्यमान है। दोनो ही एक-दूसरे के अहम् को कुचलने को आतुर हैं। निरंजना तो इतनी अहम् पीडित है कि स्वीकार भी करती है कि क्योंकि उसके हृदय की हरियाली झुलस गई है अतः वह चाहती है कि दूसरों के स्वप्न भी उसीकी तरह झुलस जाएं। सम्पूर्ण उपन्यास हीनता की भावना तथा विकृत व्यक्तित्व के चित्रों को प्रस्तुत करता है। व्यक्तिवाद के मनोवैज्ञानिक पहलू को प्रस्तुत करते हुए उपन्यास पात्रों की वैयक्तिक समस्याओं का चित्रण करता है। 'प्रेत और छाया' का नायक पहले विकृतिपूर्ण रहता है पर अंत में उसे स्वस्थ स्वरूप प्राप्त होता है। पारस नाथ में इडिपस ग्रंथि के चित्रण के माध्यम से यह उपन्यास व्यक्तिवादी स्वर प्राप्त करता है। खन्ना परिवार की तीन बहनो से प्रणय-संबंध स्थापित करने वाला 'निर्वासित' उपन्यास का प्रेमी व्यक्तिवादी विचारधारा का है। नायक महीप भी व्यक्तिवादी स्तर पर दिखलाई पड़ता है। जोशीजी पात्रों की वैयक्तिक समस्याओं का चित्रण करते अवश्य हैं, पर सामाजिक समस्याओं का समावेश भी वे करते

---

१. डॉ० सुरेश सिन्हा : हिन्दी उपन्यास, पृ० २८४
२. वही, पृ० २८५

चलते हैं। वे व्यक्ति से समाज की ओर उन्मुख दिखलाई पड़ते हैं। 'निर्वासित' उपन्यास मे इस बात का आभास प्राप्त होता है कि जोशीजी के परवर्ती उपन्यास किस ओर बढ़ेंगे।

उनके प्रारम्भिक उपन्यास मनवैज्ञानिकता के स्तर पर व्यक्तित्व की समस्याओं के चारों ओर घूमते हैं। वे सामाजिक पक्ष से हीन नही हैं। सामाजिक चेतना के प्रति जोशीजी का झुकाव होने के कारण वे अहम् पर घनघोर प्रहार करते है, किन्तु उनके प्रारम्भिक उपन्यासों में व्यक्ति का विश्लेषण ही प्रमुख रहा है। लेखक की मार्क्सवादी चेतना उसके परवर्ती उपन्यासों मे अधिक स्पष्ट है। 'मुक्तिपथ', 'जिप्सी', 'जहाज़ का पंछी' और 'ऋतुचक्र' मे सामाजिक कुरीतियों, विसंगतियों और विषमताओं पर लेखक का आक्रोश स्पष्ट है।

अज्ञेय

अज्ञेय के उपन्यास मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में और आगे बढे। व्यक्ति का जो मनोविश्लेषण उनके उपन्यासों मे प्राप्त है वह किताबी और अस्वाभाविक नहीं लगता, बल्कि अनुभवजन्य लगता है। जैनेन्द्र जैसी ओढ़ी हुई आत्म-पीड़ा और इलाचद्र जोशी जैसा बिखराव उनमें नही है। जैनेन्द्र अथवा जोशी अपने पात्रों में स्वयं नही दिखलाई पड़ते जबकि अज्ञेय दिखलाई पड़ते है। यही कारण है कि अज्ञेय की आत्यंतिकता आश्वस्त करने वाली मालूम पड़ती है। मन की गहराई मे विचरण करने वाले अदृश्य भाव-नटों को उनके उपन्यास चलचित्र की तरह दर्शाने मे समर्थ हैं। अपने उपन्यासों को वे विशद सामाजिक सदर्भो से न जोड़कर मन:सत्यो से जोड़ते है। समाज की अपेक्षा वे व्यक्ति को अधिक महत्त्व दते हैं। इसीलिए व्यक्ति के अहम् की प्रतिष्ठा को वे सर्वोपरि मानते हैं। व्यक्ति की निरपेक्ष सत्ता का भाव उनके चिंतन मे इतना प्रधान हो उठा है कि वे समूचे समाज के प्रति अनासक्ति और तटस्थता लिए हुए जान पड़ते हैं।[1]

अज्ञेय 'अपनी दुनिया' में जीने वाले उपन्यासकार है। उन्होने स्वयं लिखा है, "शायद दो तरह के ही लोग होते है—कुछ, जो दुनिया मे, 'इस' दुनिया मे जीते है। कुछ जो अपनी दुनिया मे जीते है। मैं 'अपनी' दुनिया में रहने का आदी हूं और गहरे मे कही जानता और मानता आया हूं कि दुनिया मैं ही बनाता हूं, मैने ही बनाई है, मैं ही मिटाऊंगा।"[2] अज्ञेय के अनुभव इतने विशद और गहन है कि उनके पात्र मनोविज्ञान के आरोपित सिद्धातो के अनुसार नही चलते, बल्कि जीवन की वास्तविक अनुभूतियों से चलते है। उनके पात्र समाज की सत्ता को स्वीकार

१. डॉ० सुखदेव शुक्ल : हिन्दी उपन्यास का विकास और नैतिकता, पृष्ठ २०८

२. अज्ञेय : आत्म-चिंतन

करते हुए भी उससे विद्रोह करते है। अपनी प्रखरता के कारण वे अपने को समाज मे विलय नही करते। वे 'नदी के द्वीप' की तरह धारा से सस्कार पाते है। पर धारा के बीच अपने अस्तित्व की घोषणा भी करते है। सामाजिक मान्यताओ क प्रति वे वही तक आस्थावान है जहा तक उनकी स्वतत्रता खण्डित नही होती। उनके पात्र परपरागत पारिवारिक सीमाओ को तोड़ते है और सामाजिक सस्थाओ के प्रति अविश्वास व्यक्त करते है।

'शेखर: एक जीवनी' हिन्दी उपन्यासों मे मील का पत्थर गिना जा सकता है। व्यक्ति की इतनी सघन और स्पष्ट कटावो से युक्त तस्वीर इसके पहले प्राप्त नही होती। परिवार और समाज की घटनाओं के प्रभाव को शेखर तीव्रता से 'एब्जाब' करता है और लेखक उसे अपनी सशक्त कलम से बाधता चलता है। शेखर के मनोविज्ञान को सम्पूर्णता से लेखक उपन्यास मे सामने रखता है। नायक शेखर की कथा जीवनी के रूप मे लिखी गई है। किसी महापुरुष या स्वीकृत नायक की यह कहानी नही है कि बल्कि यह कहानी एक यथार्थ मनुष्य की है जो सड़ी-गली रूढ़ियों और निषिद्ध कटघरों के भीतर झांककर मानव जीवन का सत्य जान लेना चाहता है। शेखर स्वतंत्र चेतना से युक्त एक ईमानदार व्यक्ति है—अपने अनुभवो और जीवन के प्रति ईमानदार।

शेखर व्यक्ति के रूप में बचपन से ही सत्य को—ठोस सत्य को पा लेना चाहता है। उसके भीतर जिज्ञासा है इसीलिए हर सामान्य-सी घटना उसके लिए नये अनुभव का आधार है। वह बचपन से अनुभव करता है कि उसे ठगाया जाता है और साथ ही यह भी कि समाज जबरन उसपर थोप देना चाहता है। मानव-जन्म जैसी सामान्य घटना के लिए समाज उसे अधकार मे रखता है। उसके हर संबध और आसपास की हर घटना उसपर प्रभाव डालती है। समाज द्वारा बने-बनाए ढांचे में अपने-आपको ढालने में वह असमर्थ है। कितनी ही बार वह आहत होता है पर उसका स्वाभिमान उसे समझौता न करने को प्रेरित करता है—यहां तक कि अपने पिता से भी नही। वह अपनी बुद्धि और अनुभव के आधार पर प्रेम, समाज तथा मानवीय सबधों का पुनर्मूल्यांकन करता चलता है।

अपनी बहन शशि के प्रति शेखर का एक अजीब आकर्षण है। शशि से उसका संबंध कुछ ऐसा है जो समाज की किसी परिभाषा मे बंध नही सकता, पर शेखर अपने उस संबध के प्रति पूर्ण समर्पित है। संभवतः जीवनी के इसी प्रकरण के कारण हिन्दी के बहुत-से आलोचकों ने शेखर को भयंकर अहम्‌वादी तथा समाज-द्रोही कहा है। शेखर समाज के सामने असंतुष्ट, समझौता न करने वाली मुद्रा मे अवश्य खड़ा है पर शेखर का सारा विरोध समाज के नकली मुखौटो के प्रति है। सामाजिक विसगतियों से उसका विद्रोह है और यह विद्रोह न केवल ईमानदार है बल्कि सार्थक भी है। शेखर फार्मूलाबद्ध जिंदगी जीने वालों में खप नहीं पाता

क्योंकि उन्हीकी तरह नकलीपन ओढ़ना उसके वश में नही है। यहां तक कि परंपरा से प्राप्त ईश्वर की कल्पना को भी वह नकार देता है। शेखर बचपन से अनुभव करता है कि कभी न दीखने वाली यह अदृश्य सत्ता मनुष्य को न केवल व्यर्थ ही आतकित किए हुए है बल्कि उसके हर चितन में अपनी टाग भी अड़ाती है। वह उसे देख लेना चाहता है और महसूस करता है कि उसके बगैर भी काम चल सकता है।

शशि का साथ उसे जीवन में बहुत कुछ देता है। शशि अपने को मिटाकर शेखर को व्यक्तित्व देती है। शशि की तरह बाबा मदनसिंह से भी वह बहुत कुछ सीखता है। मदनसिंह से वह सबसे बड़ी चीज यह जानता है कि अपने अनुभव अन्यों के बने-बनाए समाधानो से कहीं अच्छे है। इस तरह 'शेखर: एक जीवनी', हिन्दी के अत्यन्त संतुलित व्यक्तिवादी उपन्यासों में से एक है। यह व्यक्ति से समाज के सघर्ष की कथा है और उस लेखक के द्वारा लिखी गई है जो अपने व्यक्तित्व के प्रक्षेपण के द्वारा ही साहित्य-सृजन करता है। शेखर के चरित्र का अहम् ही उसका केन्द्रबिंदु है।[१]

'नदी के द्वीप' उनका दूसरा उपन्यास है जो यौन-भावनाओं को केन्द्र बनाकर चलता है। चार पात्रों के आत्ममंथन को ही कथानक का स्वरूप प्राप्त हुआ है। भुवन, रेखा, गौरा और चंद्रमोहन की भीतरी दुनिया तक ही लेखक सीमित रहता है और पात्रों की उलझन और उनके अनिश्चय का ही चित्रांकन करता है। उपन्यास की कथा चार व्यक्तियों की आंतरिक संवेदनाओं की कथा है। इस उपन्यास में लेखक व्यक्ति और समाज को थोड़ा करीब लाता है और उनके बीच नदी और द्वीप के रिश्ते की कल्पना करता है। यह समाजवादियों की तरह व्यक्ति को मात्र समाज की इकाई स्वीकार नही कर लेता और न ही घोर व्यक्तिवादियों की तरह समाज को दरकिनार कर देता है। नदी के सभी द्वीप अलग-अलग हैं, किन्तु सभी एक धारा में हैं और इसीलिये धारा ही उन्हें जोड़ने के लिए एक सूत्र है। व्यक्ति और समाज का यही रिश्ता है। इस उपन्यास के पात्रों मे भी व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन दिखलाई पड़ता है। रेखा तो सभी परपराओं और नैतिक मान्यताओं को तोड़कर भुवन का गर्भ धारण करती है। 'अपने-अपने अजनबी' अज्ञेय का तीसरा उपन्यास है, जो अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन पर आधारित है। योके और सेलमा नामक दो स्त्रियों के बर्फ से दबे हुए घर में घिर जाने की यह

---

१. "शेखर की शक्ति उसके अदम्य अहकार की शक्ति है जो अभ्रभेदी त्रिशूल की तरह ऊपर की ओर बढ़ रही है। शेखर की जितनी घटनाए है, वे जैसे एक माला के मनके है, जिनका सुमेरु है उसका अहम्। उसने पाना ही जाना है, देना नही।"

—विचार और अनुभूति, डॉ० नगेन्द्र, पृष्ठ १३७

कहानी है। उस घर में दो अजनबियों के घिर जाने और विवशता मे एक-दूसरे को बर्दाश्त करने को लेखक सजीव रूप से चित्रित करता है। अस्तित्ववादी चिन्तन के मूल मे व्यक्तिवादी भावनाए विद्यमान है। अतः इस उपन्यास मे उसके भी दर्शन होते हैं। अस्तित्ववाद जीवन के परंपरागत सिद्धांत, प्रेम और ईश्वर संबंधी प्रचलित मान्यताओं को अस्वीकारता है। इस उपन्यास के पात्र भी अपने-अपने जीवन-सिद्धांतो में घिरे व्यक्तिवादी दिखलाई पड़ते है।

अश्क

व्यक्तिवादी उपन्यासों मे अश्क के उपन्यास 'गिरती दीवारें' की चर्चा आवश्यक है। अश्क को मूलतः समाजवादी चेतना से सम्पन्न कथाकार माना जाता है। 'गिरती दीवारें' मध्यवर्गीय समाज की विस्तृत पृष्ठभूमि पर रचा गया है, किन्तु चेतन हमारे सामने उस व्यक्ति के रूप मे आता है जो साजिश से भरे, रूढ़िबद्ध समाज से निरन्तर जूझ रहा है। अपने स्वाभिमान और सचित स्वप्नों के लिए वह बार-बार समाज से लोहा लेता है। अज्ञेय के शेखर की तरह वह तीव्र बुद्धिवादी तथा आभिजात्य भावना से भरा हुआ नही है। न ही उसका विद्रोह इतना उग्र है, पर चेतन भी समाज से असंतुष्ट है। वस्तुतः 'चेतन' उपन्यास आज के मध्य वर्गीय व्यक्ति का एक दस्तावेज है।

अंचल

समाजवादी चेतना से युक्त जिस लेखक मे व्यक्तिवाद के दर्शन हमें होते हैं, वह है रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'। अचल के उपन्यास 'चढ़ती धूप' में जहां एक ओर समाज की विषमता का नारा है और प्रगतिशील विचारों का समन्वय है, वहीं दूसरी ओर उनके पात्रों में तीव्र व्यक्तिवाद पनपता हुआ दिखलाई पड़ता है। 'चढ़ती धूप' की नायिका ममता नैतिकता की रूढ़िबद्ध मान्यताओं को तिलांजलि देकर पति की अपेक्षा प्रेमी को अधिक महत्त्व देती है। प्रेमी की मृत्यु पर वह पति के रहते हुए भी चूड़ियां तोड़ लेती है। अपने अस्तित्व की घोषणा ममता इन शब्दों में करती है, "यह मेरे व्यक्ति का दमन है—मेरी सत्ता का संहार है—मेरी आत्मा की अस्वीकृति है। मै ऐसी व्यवस्था को नष्ट करने में अपना सारा बल लगाऊंगी।" ममता स्पष्ट रूप से समाज का नही बल्कि, व्यवस्था का विरोध करती है किन्तु यह विरोध अपने 'व्यक्ति' के हित में वह करना चाहती है।

धर्मवीर भारती

व्यक्तिवादी उपन्यासकारों की श्रेणी में धर्मवीर भारती का नाम भी महत्त्व-पूर्ण है। भारती जी के दो उपन्यास हिन्दी जगत् को प्राप्त हुए और दोनों ही अपने

कथ्य और शैली की नवीनता से अत्यधिक ख्याति हासिल कर सके। 'गुनाहों का देवता' और 'सूरज का सातवां घोड़ा' दोनों ही व्यक्तिवादी तत्त्वों को अपने-आप में समाहित किए हुए हैं। 'सूरज का सातवा घोड़ा' मार्क्सवादी जीवन-दर्शन की ओर झुका होने के कारण तत्कालीन समाज का ही चित्रण करता है, पर 'गुनाहों का देवता' चंदर और सुधा के, रूढ़ियों से परे, रोमांटिक प्रेम की कहानी है। ये दोनों उपन्यास दो आधारों पर व्यक्तिवादी साबित होते हैं। पहला, दोनों ही पात्रों की दमित कामवासना को चित्रित करते हैं। दूसरा उपन्यासों मे लेखक व्यक्तिवादी दर्शन को लेकर सामने आता है। 'गुनाहों का देवता' के नायक और नायिका दोनों ही व्यक्तिगत स्तर पर प्रेम को जीते हैं। उनकी मान्यताएं समाज की मान्यताओं से बिल्कुल ही अलग हैं। सुधा तो समाज द्वारा स्वीकृत और आरोपित वैवाहिक पद्धति से इतनी अधिक ऊब जाती है कि अपवित्रता की हीनग्रंथि से वह ग्रसित होती है और चंदर के प्रति अपनी विशिष्ट आदर्शवादी आसक्ति को मन मे छिपाये समाप्त हो जाती है। चंदर का व्यक्तित्व तथा उसके प्रेम का आदर्श ही व्यक्तिवादी है। व्यावहारिक स्तर पर जीने वाली विनती भी सुधा के जीवन-दर्शन से आक्रांत होती है और अत में चंदर को ही आदर्श स्वीकार करती है। 'सूरज का सातवां घोड़ा' के पात्रों में भी एक ओर जहां सामाजिक पक्ष है, वहीं दूसरी ओर कामवासना से परिचालित क्रियाएं हैं। व्यक्ति-जीवन की समस्याओं में लेखक अधिक रमता है।

भिक्खु

भिक्खु का प्रसिद्ध उपन्यास 'मौत की सराय' व्यक्तिवादी विचारधारा पर आधारित है। यह उपन्यास फ्रांस की राज्यक्रांति की विशाल पृष्ठभूमि पर लिखा गया है। रानी मेरी के जीवन पर यह उपन्यास आधारित है। लुई चौदहवें तथा उसकी रानी मेरी के प्रति लेखक की सहानुभूति दिखलाई पड़ती है। वस्तुतः यह आश्चर्य की बात लग सकती है कि जिस क्रांति ने व्यक्तिवाद को जीवन-दर्शन के रूप में स्थापित किया उस क्राति के विरोधी पक्ष के प्रति सहानुभूति बतलाकर भी कोई उपन्यासकार किस तरह व्यक्तिवादी कहला सकता है ? वस्तुतः लेखक की सहानुभूति लुई और मेरी के व्यक्ति रूप के प्रति है। वह स्वीकार करता है कि किसी भी सामान्य व्यक्ति की तरह लुई और मेरी को भी जीने का अधिकार था। क्रांति को भी उनके जीवन से खेलने का अधिकार नहीं था। क्रांति ने उन्हें और उनके पुत्रों को जिस तरह अपमानित किया, वह उचित नहीं था। इस रूप मे यह उपन्यास घोर व्यक्तिवादी दिखलाई पड़ता है।

व्यक्तिवादी विचारधारा आधुनिक युग की अत्यंत प्रचलित विचारधारा है। साहित्य और कला के क्षेत्र में इसे अधिक प्रसार और प्रचार प्राप्त हो सका है।

आधुनिक हिन्दी उपन्यास साहित्य में व्यक्तिवादी विचारधारा को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है। इसका विवेचन करने का प्रयास हमने इस अध्याय में किया है। समकालीन लेखन मे पनपती व्यक्तिवादी विचारधारा पर चर्चा हम बाद के अध्याय में करेंगे।

हिन्दी उपन्यास साहित्य में नियतिवाद

प्रेमचंद-पूर्व

भारतीय जनमानस का नियतिवाद के प्रति आकर्षण प्राचीन काल से ही रहा है और किसी न किसी रूप मे वह आज भी विद्यमान है। भारतीय साहित्य में भी नियतिवाद की अटूट श्रृखला हमें दिखाई पड़ती है। स्वाभाविक है कि आधुनिक साहित्य मे भी यह विचारधारा पर्याप्त रूप से दिखलाई देती है। हिन्दी उपन्यास-साहित्य मे नियतिवादी विचारधारा अपने आधुनिक रूप में प्रेमचंदोत्तर उपन्यास-साहित्य में दिखलाई पडती है। प्रेमचद के उपन्यासों में भी इसका पूर्वाभास होता है। किन्तु प्रेमचंद-पूर्व के उपन्यासों मे दर्शन की गम्भीरता का नितांत अभाव रहा है अत: भाग्य की प्रबलता को स्वीकारने के बाद भी उनमे 'नियतिवाद' जैसा कुछ प्राप्त नहीं होता। वास्तव में प्रेमचन्द-पूर्व युग में या तो तिलिस्मी और जासूसी उपन्यासों की रचना हुई अथवा समाज-सुधार के दृष्टिकोण से उपन्यास लिखे गए। अपने विशिष्ट समाज-सुधारक कोण को सामने रखने के लिए उस युग का उपन्यासकार घटना-बहुल स्थूल कथानकयुक्त उपन्यास रचता था।

तिलिस्मी और जासूसी उपन्यासों में मानवकृत अद्भुत कारनामे ही कथानक में मुख्य हुआ करते हैं। मानवीय बुद्धि और चातुर्य ही उन घटनाओं और कारनामों के स्रोत हुआ करते हैं। इन उपन्यासों में ईश्वर निर्मित विधान के बदले मानव-निर्मित विधान का चित्रण हुआ करता है। मानव की बुद्धि और शरीर-बल की महत्ता का प्रतिपादन तिलिस्मी और जासूसी उपन्यासो में हुआ करता है। मानव की स्वतंत्र इच्छा और उसकी पूर्ति के लिए किए गए शारीरिक एवं बौद्धिक प्रयास ही ऐसे लेखन का आधार हुआ करता है। तिलिस्मी उपन्यासों मे घटनाओं के साथ आकस्मिक संयोगों का चित्रण प्रारम्भ से होता रहा है पर जासूसी उपन्यासों में संयोगों के माध्यम से कथानक को आगे बढ़ाने की प्रवृत्ति को दुर्गुण समझा जाता है। जासूसी उपन्यास में जिस नायक का चित्रण होता है, वह अपनी इच्छाओं और योजनाओं की पूर्ति अपने बलबूते पर करता है। तात्पर्य यह है कि जासूसी एवं तिलिस्मी उपन्यासों मे नियतिवादी दर्शन के विद्यमान होने की कोई भी संभावना नहीं हुआ करती।

प्रेमचंद-पूर्व युग में तिलिस्मी और जासूसी उपन्यासों के अलावा सामाजिक

उपन्यास भी लिखे गये। इन उपन्यासों में लेखक उपदेशक की मुद्रा में दिखलाई पड़ते हैं। तत्कालीन समस्याओं पर उन्होंने उपन्यासों का सृजन किया। इन उपन्यासों में कहीं-कहीं भाग्यवाद का समर्थन अवश्य मिलता है किन्तु अत्यन्त परम्परावादी ढंग से। जिन लेखकों ने हिन्दू समाजकी वर्ण-व्यवस्था को ठीक समझा उन्होंने अत्यंत पंडिताऊ ढंग से ईश्वरीय न्याय का आधार लेकर भाग्यवाद का समर्थन किया। लज्जाराम शर्मा ने 'आदर्श हिन्दू' में वर्ण-व्यवस्था का समर्थन इस तरह किया, "कोई व्यक्ति ब्राह्मण के घर पैदा ही क्यों हुआ ? इसलिए न कि भगवान उसको ब्राह्मण बनाना चाहते हैं, जब आप पुनर्जन्म मानते है, पुनर्जन्म के शुभ-अशुभ फलों से उच्च और नीच जाति मे जन्म ग्रहण करना मानते है, तब आप कैसे उसे नही मान सकते।"[1] इस युग के उपन्यासों में स्पष्ट रूप से नियति की प्रबलता का चित्रण नही है बल्कि कही-कही आनुसंगिक रूप मे यह भावना मिलती है कि मनुष्य को भाग्य के अनुसार जीवन के सुख-दुःख मिलते है अथवा उसके कर्मो के फल प्राप्त होते हैं। किशोरीलाल गोस्वामी भी अपने उपन्यास में यह आभास देते है कि मनुष्य को उसके बुरे कर्मो का फल भाग्य द्वारा मिल जाता है। अपने उपन्यास 'मदन-मोहिनी' में वे एक दुष्ट व्यक्ति की मृत्यु करवाने के बाद उसकी लाश मेहतर से फिंकवाते हैं। इस घटना का जिक्र उच्च वर्ग के लोग इस तरह करते हैं :

> 'हाय हाय बेचारे को मेहतर ने फेंका।'
> मैने कहा, 'वह इसी योग्य था।'[2]

प्रेमचंद

ईश्वरीय न्याय, परिस्थितियों का मनुष्य पर दबाव, नियति-चक्र की प्रबलता तथा मनुष्य की बेबसी का तर्कपूर्ण और दार्शनिक चित्रण प्रेमचंद के युग से हिन्दी उपन्यासों में चित्रित हुआ। प्रगतिवादी लेखन के पहले किसी न किसी रूप में नियति की प्रबलता का वर्णन हिन्दी उपन्यास-साहित्य में प्राप्त हो जाता है। प्रेमचंद की लेखन-यात्रा इस संदर्भ मे बड़ी मनोरंजक है। प्रेमचन्द का दृष्टिकोण समाज-सापेक्ष था अतः उनके उपन्यासों में न तो दर्शन की कुहेलिका है और न मनुष्य की अंतश्चेतना के विश्लेषण का प्रयास। अपनी रचनाओं में वे भारतीय समाज की विभिन्न समस्याओं से जुड़े हुए दिखलाई पड़ते हैं। उन्होंने आदर्शवादी दृष्टिकोण लेकर साहित्य के क्षेत्र मे प्रवेश किया था, साथ ही वे भाग्यवादी भी थे तथा ईश्वरीय विधान को बहुत कुछ समझते थे। 'मेरा जीवन-संघर्ष' में अपनी पेट की बीमारी के विषय में लिखते हुए उन्होंने स्वीकार किया है कि घटनाओं के उतार-

---

१. आदर्श हिन्दू : प्रथम संस्करण, भाग २ : पृष्ठ २४।
२. मदन-मोहिनी (भाग ३), पृष्ठ ४८

चढ़ाव ने उन्हें भाग्यवादी बना दिया था। 'प्रेमचन्द : घर में' के अनेक स्थलों पर प्रेमचन्द की पत्नी श्रीमती शिवरानी देवी ने यह बताया है कि ईश्वरीय विधान के प्रति प्रेमचन्द का विश्वास बाद मे भंग हुआ और अपने परवर्ती जीवन मे वे मानव को ही जीवन और जगत् का मध्यबिंदु स्वीकार करने लगे थे।

प्रेमचद के प्रारम्भिक उपन्यासो मे भाग्यवादी विचारधारा स्फुट रूप मे दिखलाई पड़ती है किन्तु नियति के चक्र मे मनुष्य के फसने का श्रेष्ठ उदाहरण उनका 'गबन' उपन्यास प्रस्तुत करता है। मध्य वर्ग के विविध सदर्भो के साथ मानव-जीवन के शाश्वत सत्यों का चित्रांकन इस उपन्यास में प्राप्त होता है। जीवन और मृत्यु की सीमा-रेखा के बीच मनुष्य की अनित्यता ही प्रबल है। इन्दुभूषण की मृत्यु के माध्यम से लेखक इसे सूक्ष्मता से चित्रित करता है। लेखक मृत्यु को जीवन का सबसे बड़ा सत्य मानता है। 'गबन' उपन्यास मनुष्य-जीवन की अनित्यता, अस्थिरता का चित्रण बड़े प्रभावशाली ढंग से करता है। नियति के चक्र के सामने मनुष्य बेबस है। रतन अपनी आयु से अधिक वृद्ध व्यक्ति से विवाह कर जीवन को सुखो पर ही केन्द्रित करने की कोशिश करती है पर पति की मृत्यु एकाएक उसके जीवन को नष्ट कर देती है। सीधी-सादी जालपा भाग्य के चक्कर मे पड़कर कलकत्ता पहुंचती है और सामर्थ्य से अधिक कार्य कर जाती है। रमानाथ भी नियति का शिकार होता है और कहां का कहां पहुंच जाता है। मूलत: 'गबन' मध्यवर्गीय परिवार के माध्यम से सामाजिक समस्याओं को ही सामने रखता है किन्तु वह नियति के थपेड़े खाने वाले मनुष्य की विवशता को भी सफलतापूर्वक सामने रख सका है।

प्रसाद

जयशकर प्रसाद की कृतियों में नियतिवाद का प्रतिपादन अत्यंत सबल ढंग से हुआ है। प्रसादजी की कविताओं और नाटकों में नियति के सामने मानव की विवशता को चित्रित किया गया है। उनके उपन्यासों में भी यह दर्शाया गया है कि अज्ञात नियति की प्रेरणा से मनुष्य के सभी कार्यों का संचालन होता है। प्रसादजी अपने पात्र के माध्यम से स्वीकार करते हैं कि नियति दुस्तर समुद्र को पार करती है। चिरकाल के अतीत को वर्तमान से क्षण-भर में जोड़ देती है और अपरिचित मानवता-सिंधु में उसीसे परिचय करा देती है जिससे जीवन की अग्रगामिनी धारा अपना पथ निर्दिष्ट करती है।[१] प्रसादजी भाग्य-वादी है और मानते है कि 'विधान की स्याही का एक बिंदु' मानव के समस्त प्रयासों पर पानी फेर सकता है। मानवीय इच्छाएं अदृश्य शक्ति और परि-

१. प्रसाद : तितली, पृष्ठ ७२

स्थितियों की विषमता के आगे अपना कोई अर्थ नहीं रखतीं। मनुष्य को अदृष्ट के सामने झुकना ही होगा क्योंकि नियति का सूची-भेद्य अंधेरा उसे चारों ओर से घेरे हुए है। 'तितली' उपन्यास में नील कोठी के परस्तर खण्ड पर बैठी शैला सृष्टि के पीछे गतिशील अज्ञात प्रेरणा पर आश्चर्य व्यक्त करती है—शैला को दृढ़ विश्वास हो गया कि जिस पत्थर पर वह बैठी है, उसीपर उसकी माता जेन आकर बैठती थी। जिस दिन से उसे वार्टली और जेन का सम्बन्ध उस भूमि से विदित हुआ है, उसी दिन से उसकी मानस-लहरियों में हलचल हुई। बाल्यकाल की सुनी हुई बातों ने उसे विश्वास दिलाया कि उसकी माता जेन ने अपने जीवन के सुखी दिनों को यहीं बिताया है। अब संदेह का कोई कारण नहीं रहा। अज्ञात नियति की प्रेरणा उसे किस सूत्र में बांधकर यहां खीच लाई है, इसपर वह आश्चर्य-चकित थी।

उपन्यास के नायक मधुवन के भटकाव का कारण भी प्रसादजी नियति को मानते हैं,—"मधुबन, नियति के अंधड़ में उड़ते हुए सूखे पत्ते की तरह, निरुपाय था। उसके पास स्वतन्त्र रूप से अपना पथ निर्धारित करने के लिए कोई साधन न था। वह जेल से छूटकर हरिहर क्षेत्र चला।"[1] उपन्यास के अंत में उन्होंने नायक को 'जीवन युद्ध का थका हारा सैनिक' कहा है।

प्रसादजी ने अपने उपन्यासों के कथानक में अप्रत्याशित घटनाओं का सहारा लेकर कथा का विकास किया है। उपन्यासों में चित्रित संयोगों को वे नियति के रूप मे चित्रित करके कार्य कारण की विवेचना से छुटकारा पा लेते हैं। कंकाल उपन्यास में सरला और मंगल का मिलन ऐसी ही घटना है। अंधा भिखारी राम-दास, नियति पर विश्वास रखकर कहता है, 'माता, अब क्षमा की भीख दो। देखती नहीं हो, नियति ने इस अंधे को तुम्हारे पास तक पहुंचा दिया। क्या वही तुमको—आंखोंवाली को—उसके पास तक न पहुंचा देगा।"[2] इस उपन्यास में घंटी भी विजय से बिछड़ने में नियति के प्रभाव को स्वीकार करती हुई कहती है, "नियति चारों ओर से दबा रही थी। और मैंने अपना कुछ न रखा था। जो कुछ था, सब दूसरी धातु का था, मेरे उपादान में कुछ ठोस न था।"[3]

भगवती चरण वर्मा

हिन्दी उपन्यास साहित्य में नियतिवाद को अपने लेखन का केन्द्रबिन्दु भगवती चरण वर्मा ने बनाया। उनके पहले उपन्यास 'पतन' से लेकर नवीनतम कृति 'प्रश्न

---

१. तितली, पृष्ठ २६४

२. ककाल, पृष्ठ १३४

३. ककाल, पृष्ठ १८८

और मरीचिका' में उनका नियतिवादी दर्शन सामने आया है। उनके उपन्यासों में चित्रित नियतिवाद पर हम आगे के अध्यायों में विस्तृत चर्चा करेंगे।

जैनेन्द्र कुमार

जैनेन्द्र कुमार मूलतः व्यक्तिवादी और मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार माने जाते हैं। उनके उपन्यासों में भाग्य और नियति की सत्ता की स्वीकारोक्ति प्राप्त होती है। वे मूलतः गांधीवादी विचारधारा के आत्मपीड़न के सिद्धात का प्रतिपादन करते है, किन्तु उनके पात्र अपनी आंतरिक प्रवृत्तियों से परिचालित दिखलाई पड़ते है। इन आंतरिक मजबूरियों के साथ ही साथ बाह्य परिस्थितियों के थपेड़े उनके पात्रों को इधर से उधर ढकेलते हैं। 'त्यागपत्र' की मृणाल इसका श्रेष्ठ उदाहरण है। यों उसके हर क्रियाकलाप के पीछे एक विशिष्ट जीवन-दर्शन की दुहाई है, किन्तु प्रत्यक्षतः वह परिस्थितियों की लहरों में तिनके की तरह डोलती है। उस स्थिति की प्रसन्न स्वीकारोक्ति ही लेखक की नियतिवादिता है। 'त्यागपत्र' के संदर्भ में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है, "नियति या भवितव्य का प्रश्न भी उपन्यास में प्रमुख बनकर आया है। परन्तु इसकी जो व्याख्या लेखक ने की है, वह साधारण नियतिवादिता या भाग्यवाद से बहुत कुछ भिन्न है। नियति या भाग्य को आशीर्वाद मानकर मृणाल प्रत्येक संकट का सामना करती है और प्रत्येक कठोर वास्तविकता को अपनी साधना का अंग बनाती है।"[१]

उनके उपन्यासों में यह बात बार-बार दोहराई गई है कि मनुष्य के जीवन का दायित्व किसी दूसरे पर नहीं है क्योंकि प्रत्येक मनुष्य अपने भाग्य से बंधा हुआ है। 'विवर्त' में भुवन मोहिनी को अपने विषय में चिन्ता करते देखकर उसके पिता कहते हैं, "सुन भुवन, एकाएक बहुत अक्लमंद मत बन, भाग्य को मानती है या नहीं ? ऐसे और तो कुछ होता नहीं, मुझे पाप चढ़ता है। जिन्दगी भगवान के यहां से मिलती है, उसे उसी राह पूरा न करना और कहीं अटका देना गलत है। तू चाहती है कि मुझे अपना जिम्मा मान ले और इस तरह अपने दिन निकाल दे ? मुझे यह सहा नहीं जाएगा।"[२] विवाहिता मोहिनी के घर उसका क्रांतिकारी प्रेमी पहुंचता है, तब वह त्रस्त और परेशान प्रेमी से कहती है, "सोचती हूं कि एक बार तुम भूल जाओ कि तुमने कुछ किया है। होता होनहार है और सब काल कराता है। ऐसा सोच कर तुम बेफिक्री से लेट जाओ।"[३]

---

१. नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य, पृष्ठ २११

२. जैनेन्द्र : विवर्त, पृष्ठ ६

३. वही, पृष्ठ २६

जैनेन्द्र ने अपने लेखन के माध्यम से बार-बार यह कहा है कि मनुष्य निर्बल है और ईश्वर सबल है। इसलिए अपने अहम् को भूलकर ईश्वर पर अवलंबित रहकर ही बल प्राप्त किया जा सकता है। मानव की अबलता के विषय में सुनीता हरिप्रसन्न से कहती है, "मैं ठीक कहती हूं हरिप्रसन्न ! प्रार्थना में शक्ति आती है। अपनी अबलता स्वीकार कर न भागना अच्छा है कि अपने सबलता के दम्भ मे पीठ दिखाकर भाग खड़े होना अच्छा है ? जिस निर्बलता ने राम का बल पकड़ा है उसका बल फिर क्यों हारे ?"[1] मनुष्य का अहम् उसके व्यक्तित्व को बिखेर देता है जबकि श्रद्धा की शक्ति उसका निर्माण करती है। अपनी शक्ति का घमंड भूलकर ईश्वर को समर्पित होने में जैनेन्द्र कुमार सार्थकता देखते हैं, "जो अहम् की शक्ति से कठोर होकर खड़ा है, वह तो खील-खील ही होगा। जो अपने में मात्र श्रद्धा की शक्ति लेकर इतना सशक्त बना है कि अहंकार के सहारे की जरूरत नहीं है, वह भला कैसे खील-खील होकर बिखर सकता है ? क्योंकि वह कठोर है ही नही। वह तो प्राण वायु की भांति शून्य है। चट्टान टुकड़े-टुकड़े हो रहेगी, पर आंधी के टुकड़े कैसे होंगे ?"[2]

इलाचंद्र जोशी

इलाचंद्र जोशी ने अपने उपन्यासों में मनोविश्लेषण-पद्धति का आश्रय लिया है। आधुनिक मनोविज्ञान यह मानता है कि व्यक्ति अपने कार्यो मे स्वतंत्र नहीं है। मनुष्य के मन की स्थिति पानी मे तैरते बर्फ खण्ड की तरह है जिसका अधिकांश भाग पानी के अन्दर होता है केवल उसका ऊपरी सिरा पानी के ऊपर होता है। मनुष्य का चेतन मस्तिष्क उसी ऊपरी सिरे की तरह है। मनुष्य के अंदर अवचेतन की अज्ञात रहस्यमयी शक्ति का चक्र चलता रहता है और मनुष्य उसीके अनुसार कार्य करने के लिए अभिशप्त है। जोशीजी के सभी उपन्यासों के मूलमें मनुष्य की यही अभिशप्तता है। उनके उपन्यासों में चित्रित नायक दुर्बल स्वभाव के अस्तित्वहीन नायक हैं जो परिस्थितियों के चक्र में पड़कर हिंसक, अनास्थावादी और क्रूर तक हो जाते हैं। अपनी कुंठाओं से मुक्त होने पर ही वे अपनी सहजता को फिर से प्राप्त करते हैं।

अज्ञेय

नियतिवादी चेतना को अज्ञेय भी स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करते है। उनके द्वारा चित्रित पात्र परिस्थितियों की हथौड़ी की मार से स्वरूप ग्रहण करते हैं।

---

१. सुनीता, पृष्ठ १३०
२. वही, पृष्ठ १३१

इस संदर्भ में एक मनोरजक तथ्य यह है कि हिन्दी उपन्यासों में चित्रित क्रांतिकारी पात्र, चाहे वे जैनेन्द्र के हों, भगवती बाबू के हों अथवा अज्ञेय के, नियतिवादी दर्शन को मानते हैं। 'शेखर : एक जीवनी' का नायक शेखर क्रांतिकारी है। उसके नियतिवादी होने की सफाई अज्ञेय उपन्यास की भूमिका में इन शब्दों में देते हैं, "क्रांतिकारी अंततोगत्वा एक प्रकार के नियतिवादी होते हैं। लेकिन यह नियतिवाद उन्हें अक्षम और निकम्मा बनाने वाला कोरा भाग्यवाद नही होता, यह उन्हें अधिक निर्मम होकर कार्य करने की प्रेरणा देता है। इसमें वह गीता के कर्मयोग से एक सीढ़ी आगे होता है—क्योंकि वह कर्ता को निरा निमित्त नही बना देता। यदि यों कहा जाए, कि क्रांतिकारी का नियतिवाद अटल नियति की स्वीकृति न होकर, जीवन की विज्ञान-सम्मत कार्य-कारण-शृंखला पर गहरा (यद्यपि अस्पष्ट) विश्वास होता है तो शायद सच्चाई के निकट होगा। मेरा ख्याल है कि आज के अधिकांश वैज्ञानिक भी कुछ इसी प्रकार के नियतिवादी हैं।"[१] अज्ञेय ऐसा समझते हैं कि आस्तिकता की समर्पणशील चेतना यदि मनुष्य के पास न हो तो नियतिवादी दर्शन ही उसे कुंठित होने से बचा सकता है। आधुनिक युग के अनास्थावादी, आक्रोशपूर्ण मनुष्य के लिए इस दर्शन को वे एक उपलब्धि मानते हैं, "तो 'शेखर : एक जीवनी' के क्रांतिकारी नायक ने अपने जीवन में इसी नियति के सूत्र को पहचानने का प्रयत्न किया है, क्योंकि उसे पहचान लेना ही जीवन को समझ लेना है। ईश्वर जो करता है, अच्छा ही करता है, अतएव प्रत्येक घटना स्वयं अपनी सिद्धि है—यह भी एक मार्ग है, लेकिन इस तर्क-परम्परा को जो व्यक्ति स्वीकार नहीं कर सकता है उसके लिये जीवन को सदय बनाने का दूसरा उपाय यही हो सकता है।"[२] अज्ञेय का यह नियतिवाद फ्रायड के मनोवैज्ञानिक नियतिवाद के निकट बैठता है।

अज्ञेय मानव-मन को प्रभावित करने वाले तीन तत्त्वों को महत्त्वपूर्ण मानते हैं—अहंता, भय और सेक्स। उपन्यास में शेखर का विकास उन परिस्थितियों के माध्यम से होता है जिन्हें वह भोगता है। नदी के द्वीप में मानव-जीवन के प्रवाह की अवशता को प्रस्तुत किया गया है। नदी की कटी हुई मिट्टी से द्वीप का बनना बतला कर उन्होंने नियति की प्रबलता को स्वीकार किया है।—"नियति के आगे मानव को अवश मान कर इस उपन्यास में अज्ञेय ने रेखा और भुवन के मिलन और विद्रोह की कहानी कही है। नियति के वश होकर भुवन और रेखा लखनऊ में मिलते हैं और उनका परिचय बढ़ते-बढ़ते आत्मीयता का,

---

१. अज्ञेय : शेखर : एक जीवनी (भूमिका), पृष्ठ ८

२. वही।

और अंत में, आत्मार्पण का रूप धारण कर लेता है।"[1] भुवन और रेखा नियति के प्रवाह में एक-दूसरे के निकट आकर फिर अलग हो जाते है। उनकी स्थिति नदी के प्रवाह में बहते हुए दो तिनकों की तरह हैं जिनके साथ बहने और अलग हो जाने पर उनका कोई भी वश नहीं है।

'अपने-अपने अजनबी' अज्ञेय का नवीनतम उपन्यास है जिसमें उनके नियतिवादी विचार अधिक स्पष्टता से सामने आए हैं। अस्तित्ववादी दर्शन को प्रस्तुत करने वाले इस उपन्यास में अज्ञेय स्पष्टतः यह स्वीकार करते हैं कि मनुष्य किसी कर्म के लिए स्वतंत्र नहीं है, यहां तक कि वह मृत्यु के वरण में भी स्वतन्त्र नही है। अज्ञेय मानते है कि जिस तरह बर्फ से ढके घर में योके और सेल्मा एक-दूसरे के साथ रहने के लिए बाध्य हैं उसी तरह इस संसार में हम सभी एक-दूसरे के अनचाहे सान्निध्य को भोगने के लिए अभिशप्त हैं। जब योके सेल्मा से कहती है कि यदि उसके वश में होता तो वह उस घर से चली जाती, तब सेल्मा गंभीर होकर कहती है, "कुछ भी किसीके वश में नहीं है, योके। एक ही बात हमारे वश की है—इस बात को पहचान लेना। इससे आगे हम कुछ नहीं जानते।"[2]

उपन्यास की स्थितियां ऐसी हैं कि उसमें जो कुछ भी घटित हो रहा है वह विवशता में घटित हो रहा है। सेल्मा योके को समझाने का प्रयास करती है कि अपने को स्वतन्त्र समझना ही सारी कठिनाइयों की जड़ है। एक स्थान पर वह कहती है, "और स्वतन्त्रता—कौन स्वतन्त्र है ? कौन चुन सकता है कि वह कैसे रहेगा, या नहीं रहेगा? मैं क्या स्वतन्त्र हूं कि बीमार न रहूं—या कि अब बीमार हूं तो क्या इतनी भी स्वतन्त्र हूं कि मर जाऊं ? मैंने चाहा था कि अंतिम दिनों में कोई मेरे पास न हो। लेकिन वह भी क्या मैं चुन सकी?"[3]—चुनने अथवा फैसला देने का अधिकार मनुष्य को नहीं है इसे अज्ञेय अपने इस उपन्यास के माध्यम से शक्तिशाली ढंग से प्रस्तुत करते है।

वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक स्तर पर नियतिवाद को स्वीकृति प्राप्त होने के कारण साहित्य में इसे सम्मान प्राप्त हुआ है। भारतीय चेतना में इस विचारधारा के प्रति सहज विश्वास प्राचीन काल से ही रहा है अतः स्वाभाविक है कि आधुनिक हिन्दी उपन्यास को इस धारा ने गहराई से प्रभावित किया। समकालीन उपन्यास साहित्य में नियतिवादी चेतना के प्रभाव पर विस्तृत चर्चा अन्तिम अध्याय में की गई है।

---

१. डॉ० सुखदेव शुक्ल : हिन्दी उपन्यास का विकास और नैतिकता, पृष्ठ २१५

२. अज्ञेय : अपने-अपने अजनबी, पृष्ठ २९

३. वही, पृ० ४७

अध्याय-२

वर्माजी की सर्जनात्मक चेतना और तत्कालीन सामाजिक परिवेश

भगवती चरण वर्मा के उपन्यासों में भारतीय समाज के यथार्थ चित्र प्राप्त होते हैं। जिस समाज और समय को उन्होंने देखा है उसकी पृष्ठभूमि पर उन्होंने अपनी कृतियों का सृजन किया। उनका प्रथम उपन्यास 'पतन' सन् १९२८ में प्रकाशित हुआ था। इस उपन्यास के प्रकाशन के पूर्व उनकी काव्यकृतियां हिन्दी-जगत् के समक्ष आ चुकी थी। यह स्पष्ट है कि भारतीय इतिहास के अत्यंत महत्त्वपूर्ण और संक्रमणशील कालखण्ड को उन्होंने देखा है। भारत का स्वाधीनता आंदोलन विश्व को चकित कर देने वाली घटना थी। यह आदोलन जहां एक ओर राजनैतिक स्वाधीनता के लिए प्रयत्नशील था वहीं दूसरी ओर वह कितनी ही सामाजिक समस्याओं से भी जूझ रहा था। नारी-शिक्षा, पर्दा-प्रथा, अछूतोद्धार, हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य, जाति-प्रथा आदि कितनी ही समस्याओं से नवजागृत भारतीय समाज उलझा हुआ था। भगवती बाबू ने इस समस्याओ से भरे काल को निकट से देखा अतः स्वाभाविक ही उनकी कृतियों में इन सभी समस्याओं का चित्रण हुआ है। उनकी कृतियों में राजनैतिक और सामाजिक परिवर्तनों को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है। कुछ कृतियां तो पूरी तरह राजनैतिक समस्याओं पर ही आधारित हैं। 'टेढ़े-मेढे रास्ते', 'भूले-बिसरे चित्र', 'सीधी-सच्ची बातें' मे स्वाधीनता-प्राप्ति से पहले के भारतीय समाज का चित्रण हुआ है और 'सबहिं नचावत राम गुसाई' तथा 'प्रश्न और मरीचिका' में स्वधीन भारत की स्थितियों का मूल्यांकन हुआ है। उनके उपन्यासों में समस्याओं का चित्रण किस रूप मे हुआ है इसपर विस्तार से चर्चा प्रबंध के आठवें अध्याय में की गई है। इस अध्याय में उस परिवेश की चर्चा की जा रही है जिसने लेखक की सर्जनात्मक चेतना को उद्बुद्ध किया। १९२० के बाद का समय भारतीय इतिहास

का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण काल है। इस काल का भगवती बाबू ने अपनी कृतियों में सूक्ष्मता से वर्णन किया है। उस काल का हर दृष्टि से विवेचन करने का प्रयास इस अध्याय में किया गया है।

राजनैतिक परिस्थिति

सन् १६२० के आस-पास का समय भारतीय राजनीति का न केवल महत्त्वपूर्ण समय था बल्कि भावी परिवर्तनों का सूचक भी था। १६१७ में विश्व-इतिहास की वह अनोखी घटना घट चुकी थी जिसने विश्व के पद-दलित देशों में नई जान फूंक दी थी। वह घटना थी रूसी क्रांति की सफलता। भारत में करवट बदलती हुई चेतना को संतुष्ट करने के लिए सन् १६१६ में ब्रिटिश सरकार ने मांटेग्यू चेम्स फोर्ड सुधार प्रस्तुत किए जिसमें यह आश्वासन था कि भारत को धीरे-धीरे स्वशासन प्रदान किया जावेगा। भारत का स्वाधीनता आंदोलन कांग्रेस के नेतृत्व में तब तक प्रारम्भ हो चुका था। वस्तुतः इसके पहले कांग्रेस का रुख ही दूसरा था। "सन् १६१६ के अंत के साथ-साथ, कांग्रेस की अनेक बातों का अंत हो गया। जन्मकाल से लेकर कांग्रेस प्रार्थना और अनुरोध के साथ चल रही थी। १६१६ में इन दोनों बातों का अंत हुआ।"[१] कांग्रेस के रवैये में इस परिवर्तन का कारण था कांग्रेस के नेतृत्व का परिवर्तन तथा कांग्रेस का यह अनुभव कर लेना कि अंग्रेज सरकार विश्व की सबसे 'न्यायप्रिय' सरकार नहीं है जैसा कि अभी तक कांग्रेस स्वयं ही प्रचारित करती थी।

मांटेग्यू चेम्स फोर्ड सुधारों के जरिये ब्रिटिश सरकार ने भारतीयों को भी शासन के कुछ अधिकार सौंपने का निर्णय किया। इन सुधारों की विभिन्न प्रतिक्रियाएं हुईं। इन्हीं विचार-विमर्शों के बीच से भारत का भावी नेता उभर कर सामने आया।[२] ब्रिटिश शासन की अद्भुत नीति यह थी कि वह एक ओर सुधारों को लागू करता था और दूसरी ओर दमनकारी कानूनों को भी प्रश्रय देता था। मांटेग्यू चेम्स फोर्ड सुधारों के बाद रोलट बिल का आना इसका सबूत था। प्रथम विश्वयुद्ध के समय भारत ने धन और जन से अंग्रेज सरकार की सहायता की थी किन्तु उस बलिदान के पुरस्कार-स्वरूप रौलट बिल देश पर थोप दिया गया। यह बिल क्रांतिकारियों के दमन की आड़ में व्यक्ति के मौलिक

---

१. केशव कुमार ठाकुर : भारत में अंग्रेजी राज्य के दो सौ वर्ष, पृष्ठ ५१६।
2. It was on this occasion that Gandhi for the first time look a leading part in the discussion of the Congress.
Struggle for Freedom (K. M. Munshi), P. 327

अधिकारों का हनन करता था। गांधी जी ने घोषणा की कि यदि सरकार ने इस बिल को वापस नहीं लिया तो सत्याग्रह का देशव्यापी युद्ध छेड़ देंगे। इसके लिए गाधीजी ने देश में सर्वत्र दौरा किया और उनका सब जगह धूमधास से स्वागत हुआ।[1] गांधी अब तक कांग्रेस और देश के निर्विवाद नेता माने जा चुके चुके थे। सत्याग्रह को देश मे चारों ओर मान्यता प्राप्त हुई और अप्रैल, १६१६ से भारतीय इतिहास के नये अध्याय का प्रारम्भ हुआ। सत्याग्रह आंदोलन के समय हिन्दुओं और मुस्लिमो ने अद्भुत एकता का परिचय दिया। इस एकता पर स्वय सरकार चकित थी।[2]

इस समय चारों तरफ अंग्रेजी सत्ता के प्रति दबा हुआ आक्रोश फूट पडा और हड़तालों तथा जुलूसों की परिणति उन कार्यों में हुई जो गांधी जी के सिद्धांतों के तथा उस प्रतिज्ञा-पत्र के विपरीत थे जिसकी घोषणा उन्होंने सत्याग्रह के पहले ही कर दी थी। पंजाब में हिंसात्मक कार्यवाही हुई जिसे शांत करने गांधी पंजाब पहुंचे किन्तु सरकार ने उन्हें गिरफ्तार करके बंबई भेज दिया। गांधी जी की गिरफ्तारी की प्रतिक्रिया के रूप में अहमदाबाद, बीरम गांव, नड़ियाद, कलकत्ता आदि में उत्पात हुए। पंजाब में उन्हीं उत्पातों का बदला लेने के लिए १८ अप्रैल 'को जलियांवाला बाग का नृशंस हत्याकांड हुआ। जनरल ओ डॉयर ने अत्यंत निर्लज्जता से अपने कार्य को उचित और 'दयापूर्ण' बतलाया। इन हिंसापूर्ण वारदातों से गांधी जी के हृदय पर बडी ठेस पहुंची और अपने कार्य को 'हिमालय की तरह महान भूल' स्वीकार करते हुए उन्होंने सत्याग्रह स्थगित कर दिया।

नई लड़ाई

सन् १६२० का वर्ष नये युग की शुरुआत लेकर आया। ब्रिटिश सरकार से मोर्चा लेने के लिए असहयोग का शंख फूंका गया। इसी समय भारतीय मुसलमानों ने तुर्की के मामले पर अपना विरोध प्रदर्शित किया। अमृतसर कांग्रेस के समय कांग्रेसी और मुस्लिम लीगी नेताओं ने इस संबंध में विचार किया और खिलाफत आंदोलन की प्रतिज्ञा की। इस तरह असहयोग आंदोलन और खिलाफत की बाग-डोर गांधी के हाथमें देदी गई। लोगों से कहा गया कि वे सरकारी उपाधियां त्याग दें, सरकारी सहायता पर चलने वाले स्कूलों और कालेजों का बहिष्कार करें और उनके स्थान पर राष्ट्रीय विद्यालय खोलें। अदालतों का बहिष्कार करें और अपने झगड़े पंचायतों में तय करें। विदेशी माल का बहिष्कार करें। यह अपने-आप में एक नई लड़ाई थी। देश में असहयोग की बिजली दौड़ गई। सारा देश नये

१. डॉ० पट्टाभि सीतारामय्या : कांग्रेस का इतिहास (प्रथम खण्ड), पृष्ठ १२६
२. वही, पृष्ठ १३४

जीवन-रस से आलोकित हो उठा। गांधीजी की अपील का देश के विद्यार्थियों पर प्रभाव पड़ा। सभी स्कूल-कालेज बंद तो नही हुए लेकिन बहुत-से विद्यार्थियों ने पढ़ाई का त्याग कर दिया और राष्ट्रीय कार्य मे वे आगे बढ़े। इस बीच कितने ही राष्ट्रीय विद्यालय खोले गए और सरकारी शिक्षा संस्थाओं को छोड़कर विद्यार्थी उनमें जाने लगे।[1] सरकार के पास इसे रोकने का कोई उपाय नही था सिवाय इसके कि वह कठोर कानूनों का उपयोग करे। सरकार ने अत्यत चालाकी से कभी हिन्दुओं को मुसलमानों के खिलाफ और कभी मुसलमानों को हिन्दुओं के खिलाफ भड़काने का प्रयास किया किन्तु वह सफल न हो सकी। पर इस आंदोलन के समय घटी हुई चौरी-चौरा की हिसक घटना ने गांधीजी को आघात पहुंचाया। उन्होंने आंदोलन स्थगित कर दिया। यह सारे देश के लिए आघात था। मार्च, १९२२ को गांधीजी गिरफ्तार कर लिए गए और उन्हें छ: वर्ष की सज़ा दी गई।

इतने विशाल देश में जिसकी सफलता के आसार हों, ऐसा आंदोलन राष्ट्रीय एकता का पूर्वाभास तो था ही, वह देशवासियों के लिए चमत्कार और अंग्रेज सरकार के लिए खतरे की घंटी थी। सरकार ने अपनी विशिष्ट नीति 'फूट डालो और राज्य करो' अपनाई तथा प्रतिगामी शक्तियों की पीठ पर हाथ फेरने लगी। १९२२ में नरेश संरक्षण बिल (Princes Potection) लाया गया जिसे असेम्बली ने ठुकरा दिया किन्तु वाइसराय रीडिंग ने उसे स्वीकृति दे दी।[2] अंग्रेजों ने समझ लिया कि भारतीय स्वाधीनता का सबसे अधिक विरोधी भारतीय सामंतवर्ग ही हो सकता है। उन्होंने प्रचार करना शुरू किया कि भारत के लिए सामंती शासन-प्रणाली बहुत उचित है। भारतीय नरेशों के मन में यह बात बैंठने लगी कि अंग्रेजी शासन और उनके हित एक ही हैं। राष्ट्रीय आंदोलन को असफल बनाने के लिए अंग्रेजी शासन अंत तक सामतवर्ग का उपयोग करता रहा। पुरुषार्थहीन सामंतवर्ग अपनी आरामदायिनी स्थिति को बनाए रखने के लिए अंग्रेज सरकार की अगुलियों पर नाचने लगा।

कौंसिल-प्रवेश

देश अब तक राजनीतिक रूप से कुछ पुष्ट हो गया था। भारत की आजादी के विषय में भी लोग अलग-अलग तरीके से सोचने लगे थे। गांधीजी के जेल जाने पर काग्रेस के कुछ कार्यकर्ता और नेता कौंसिलों की तरफ आकर्षित हुए।

---

१. केशव कुमार ठाकुर : भारत में अंग्रेजी राज्य के दो सौ वर्ष, पृष्ठ ५२६

2. It was thrown out by the assembly but certified by the Viceroy.
Struggle for Freedom : K. M, Munshi, Page 388

वे समझने लगे कि जिस दमन के द्वारा सरकार हमारे सार्वजनिक जीवन को नष्ट कर रही है कौसिलों मे जाकर उस दमन को रोका जा सकता है। इसके साथ-साथ और भी ऐसे कार्य किए जा सकते है जिनसे सरकार की शक्तियां क्षीण हो और काग्रेस को बल मिले। गया कांग्रेस मे पंडित मोतीलाल नेहरू और देशबंधु दास ने जोरदार प्रयत्न किए थे कि कांग्रेस कौसिलों में प्रवेश करना स्वीकार कर ले पर उन्हे सफलता नही मिली। देशबधु ने कांग्रेस से इस्तीफा दे दिया और मोतीलाल नेहरू के साथ मिलकर एक नई 'स्वराज्य पार्टी' का निर्माण किया।

१९२३ के चुनाव के लिए स्वराज्य पार्टी ने तैयारी शुरू की। सारे देश मे उसके लिए उत्साह की लहर दिखलाई दी। चुनाव मे स्वराज्य पार्टी को शानदार सफलता मिली। 'माडरेट और लिबरल' तो जड़ से उखाड़ दिए गए। बहुत कम समय मिलने के बाद भी इस पार्टी ने अपनी आंधी मे सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, चितामणि, हृदयनाथ कुजरू जैसे दिग्गजों को धराशायी कर दिया यह उसकी उपलब्धि थी।[1] अपने निश्चित कार्यक्रम को लेकर पार्टी ने कौसिलों में प्रवेश किया। कौसिलों के बाहर गांधीजी के कार्यक्रम को पूरा करना और हृदव से उसका समर्थन करना भी पार्टी ने अपना उद्देश्य बनाया।[2]

यह बात बाद मे पूरी नहीं हो सकी क्योंकि कौसिलें ही राजनीतिक हलचलों का केन्द्र बन गई। स्वराज्य पार्टी के नेताओं ने अपनी सारी शक्ति कौसिलों के भीतर सरकार का विरोध करने मे लगा रखी थी। इन दिनों उनको एक नशा सवार था जो सरकारी प्रगति को रोकने में व्यवहृत हो रहा था। जिनके पास गहन राजनीतिक दृष्टि थी वे समझने लगे थे कि इन दांव-पेचों से सरकार की शक्ति को क्षीण नही बनाया जा सकता। देशबधु ने 'स्टेट्समैन' के प्रतिनिधि से स्वयं बतलाया, "आज के संघर्ष में हम थक गए हैं तो सरकार भी थक गई है।" पंडित मोतीलाल नेहरू भी इस थकान के प्रति चितित थे अत: उन्होंने कहा, "बड़ी तेजी के साथ हमारे सामने वह नाजुक घड़ी आने वाली है जो हमारे प्रयत्नो को व्यर्थ साबित करने का काम करेगी इसलिए हम सबको ठोस कार्यक्रम की ओर ध्यान देने की जरूरत है।"

जब कौंसिलों की शतरज से स्वराज्य पार्टी स्वयं क्षीण होती जा रही थी तब १६ जून, १९२५ को दार्जिलिंग में देशबंधु का देहावसान हो गया। उनकी मृत्यु से स्वराज्य पार्टी का एक महत्त्वपूर्ण पुर्जा ही टूट गया। पार्टी की निर्बलता का सबसे बड़ा प्रमाण यह था कि पार्टी के ही लोग छिप-छिपकर सरकारी तबके

---

1. Considering the very short time in which the party had to prepare for the contest; its success must be regarded as vey remarkable
Struggle for Freedom : K. M. Munshi, P. 390

२. केशव कुमार ठाकुर : भारत में अंग्रेजी राज्य के दो सौ वर्ष, पृष्ठ ५४२

से मिलने लगे। स्वराज्य पार्टी ने अपने सदस्यों पर प्रतिबध लगा दिया जिसका गांधीजी ने समर्थन किया।

मुस्लिम लीग

सन् १९०६ में भारतीय मुसलमानों का एक प्रतिनिधि मंडल सर आगा खां के नेतृत्व में लार्ड मिण्टो से मिला। लार्ड मिण्टो ने उन्हें भारतीय मुसलमानों के हितों की बाबत काफी आश्वासन दिया। ब्रिटिश अधिकारियों को यहीं से हिन्दू-मुस्लिम अलगाव का साधन प्राप्त हुआ। उसी वर्ष १९०६ मे मुस्लिम लीग की स्थापना हुई। भारतीय स्वाधीनता-आंदोलन मे तथा संभावित स्वतंत्र भारत में भारतीय मुसलमानो का रोल क्या होगा? यह प्रश्न, कृत्रिम ही सही, बड़ी तीव्रता से खिलाफत आंदोलन के बाद उठा। १९२४ में खिलाफत आन्दोलन के खत्म होने पर मुस्लिम लीग की रुकी हुई गतिविधियां फिर प्रारम्भ हुई। लीग की पन्द्रहवी बैठक जो चार वर्ण से स्थगित थी. २४ मई, १९२४ मे श्री जिन्ना की अध्यक्षता मे लाहौर में हुई। इस बैठक में ही साम्प्रादायिकता की झलक मिल गई।[1]

समय बीतने के साथ लीग द्वारा फैलाई हुई कट्टरता बढ़ती गई। अंग्रेजी साम्राज्यवाद के बुद्धिमान कर्णधार इस कट्टरता को बढ़ावा दे रहे थे। साम्प्रदायिकता की भावना १९०९ के बाद ही बढ़ने लगी थी किन्तु मौलाना अबुल कलाम आजाद, हकीम अजमल खां, डॉ० अंसारी, मौलाना मुहम्मद अली आदि रांष्ट्रीय मुसलमान नेता इस जहरीली भावना से जूझ रहे थे पर दूसरे दर्जे के मुस्लिम नेता मुस्लिम जनता के अधिक निकट थे अत: वे अपनी स्थिति-रक्षा के लिए कट्टरता को बढ़ावा दे रहे थे। नतीजा यह हुआ कि प्रथम श्रेणी के नेता भी धीरे-धीरे साम्प्रादायिकता की ओर झुकते गए। अली भाई जैसे नेता, जो एकता के प्रतीक माने जाते थे तथा इकबाल जैसे राष्ट्रीय भावना के शायर भी बाद में मुस्लिम-राष्ट्र का नारा लगाने लगे। साम्प्रादायिक भावना से भरे हुए नेताओं में यह भय इस हद तक बढ़ गया कि जैसे-जैसे देश में प्रजातंत्रीय संस्थाओं का विकास होता गया वैसे-वैसे संशयग्रस्त होकर विशेष प्रतिनिधित्व और विशेष अधिकारों की मांग बढाई जाने लगी। इसी संशय से घृणा का जन्म हुआ जिसने बाद में पाकिस्तान को जन्म दिया।

---

1. The chairman of reception committee gave an economic interpretation of the communal discard by saying that as the 'Majority of the Muslim is poor and the Majority of Hindus is in better cercumstances, the poor Muslim is ready to rob the rich Hindus at the slightest provocation.' Struggle for Freedom: K. M. Munshi. P. 418

हिन्दू महासभा

लीग की स्थापना से प्रेरणा पाकर १९०९ मे पंजाब मे प्रातीय स्तर पर हिन्दू सभा का जन्म हुआ जिसमें निश्चय किया गया कि आगामी वर्ष हिन्दू महासभा की प्रतिष्ठा होगी। हिन्दू महासभा का जन्म कट्टरता की एक प्रतिक्रिया कहा जा है।[1] भारत के बहुत-से राष्ट्रवादियो के मन मे इस संगठन के प्रति शंकाए थीं जिन्हें मदन मोहन मालवीय ने दूर करने का प्रयास किया। उन्होंने तर्क दिया कि सदियों से मुसलमानों ने हिन्दूओं का धर्म-परिवर्तन किया, अंग्रेजी शासन के बाद ईसाई मिशन ने भी यही कार्य किया अतः तत्कालीन परिस्थितियों मे यह आवश्यक है कि हिन्दुओं की कोई ऐसी संस्था हो जो इस प्रवृत्ति को रोके और धर्म परिवर्तन करने वालों को लौटने का मार्ग प्रदान करें।

हिन्दू महासभा का अत्यंत चर्चित कार्य यह रहा कि उन्होंने साढ़े चार लाख मलकाना राजपूतों को पुनः हिन्दू धर्म में प्रवेश दिलवाया जो मुसलमान बन गए थे और फिर हिन्दू-धर्म में लौटने को उत्सुक थे। १९२४ में हिन्दू महासभा के सातवें अधिवेशन में बेलगांव में दो महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव रखे गए। पहले प्रस्ताव में, जो डॉ० मुंजे द्वारा रखा गया, कहा गया था कि सारे देश में हिन्दू सभाए बनाई जाएं जो हिन्दुओं के सामाजिक, धार्मिक और साथ ही राजनैतिक अधिकारों की रक्षा करे। दूसरे प्रस्ताव के अनुसार, जो श्री सत्यमूर्ति द्वारा रखा गया था, एक कमेटी का निर्माण किया गया जिसका कार्य हिन्दू-मुसलमानों की समस्या और संबंधों पर विचार करना था। हिन्दू महासभा जितने महान उद्देश्यों को लेकर बनाई गई थी वे पूरे इसलिए नहीं हो सके क्योंकि शनैः-शनैः वह सामाजिक संस्था के बदले राजनैतिक संस्था बन गई।

कम्यूनिस्ट पार्टी

भारत में साम्यवादी दल के गठन का प्रयास एम० एन० राय और उनके साथियों के द्वारा १९२१ से ही किया जा रहा था। साम्यवादी आंदोलन की परम्परागत प्रणाली के अनुसार वे लोग मजदूर वर्ग में यूनियन के निर्माण के लिए प्रयत्नशील थे और मजदूरों को साम्यवादी आंदोलन की शिक्षा भी दे रहे थे। बंबई, बंगाल और पंजाब में इनकी गतिविधियां कुछ सफल भी हुई। किन्तु एम०

---

1. The Hindu Mahasabha, a definitely communal organisation of the Hindus, was undoubtedly brought into existance as a counterpise to the All India Muslim League, the communal organisation of the Muslims.
Struggle for Freedom : K. M. Munshi, P. 419

एन० राय और उनके साथियों को विशेष सफलता तब तक नही प्राप्त हो सकी जब तक इग्लैण्ड मे कम्यूनिस्ट पार्टी का गठन नही हो गया। यों पार्टी का गठन १६२४ में हो गया था पर उसमें गतिशीलता १६२६ मे ही आ सकी जब इग्लैड की पार्टी के एजेण्ट का आगमन भारत में हुआ।[1] इस एजेण्ट ने मास्को की आर्थिक सहायता से भारत में यूनियनों की संख्या में वृद्धि की, प्रदर्शनों का आयोजन किया, अखबारों का सम्पादन किया।

किन्तु कम्यूनिस्ट पार्टी की क्रियाओं पर शीघ्र ही वज्रपात हुआ जब मेरठ षडयंत्र काड में २० मार्च, १६२६ में पार्टी के प्रमुख नेताओं सहित इकतीस सदस्य गिरफ्तार हो गए। इस गिरफ्तारी के साथ ही साथ देशव्यापी तलाशी हुई। इस तलाशी में कितने ही गुप्त दस्तावेजों का पता चला। साथ ही यह बात भी सामने आई कि साम्यवादी आंदोलन में लगे हुए कितने ही लोग यह नहीं जानते थे कि वे जिस कार्य में लगे हैं उस कार्य के पीछे कोई षड़यंत्र भी है। यह एक मनोरंजक तथ्य है कि मेरठ-कांड के मुजरिमों को जनता की पूरी सहानुभूति प्राप्त हुई। पंडित जवाहरलाल नेहरू और काटजू ने इस केस मे उनकी ओर से वकालत की। इस केस से कम्यूनिस्ट पार्टी को एक लाभ अवश्य हुआ कि पार्टी को काफी प्रचार मिला। सोमेन्द्रनाथ टैगोर ने मेरठ केस को भारत में साम्यवाद का पुख्ता आधार[2] माना।

सत्याग्रह

भारतीयों के कौसिल-प्रवेश के बाद १६२६ तक का समय भारतीय राजनीति में शीतलता का समय था। इस बीच साइमन कमीशन का जोरदार बहिष्कार अवश्य किया गया। १६३० में काग्रेस कार्यकारिणी समिति ने पूर्ण स्वाधीनता का उद्देश्य सामने रखते हुए २६ जनवरी को स्वाधीनता-दिवस मानने की घोषणा की। जिस उत्साह से स्वाधीनता-दिवस मनाया गया उससे यह तय हो गया कि देश अब किसी समझौते के लिए तैयार नहीं है।

गांधीजी ने अहिंसा को अपनी नीति घोषित करते हुए फिर सत्याग्रह की तैयारियां शुरू कर दी। ६ अप्रैल, १६३० को दण्डी में गांधीजी ने नमक कानून तोड़ा। यहां से एक महान जन-आंदोलन का सूत्रपात हुआ। सभी जगह एक अद्-भुत उत्साह दिखलाई दिया। नमक कानून के बाद सभी अवाछनीय कानूनों को तोड़ा गया। इस सत्याग्रह का फैलाव विदेशी वस्त्र-बहिष्कार और शराब की

---

1. The struggle for Freedom, K. M. Munshi, Page 421
2. "Placed Communism on a Sure Footing in India"
   Historical Development of Communist Movement in India, Page. 21

दुकानो पर धरना देने के रूप में भी हुआ। करीब नब्बे हजार लोगों ने कारावास की यात्रा की। अंग्रेजी उद्योग-धन्धे हिल गए। अंग्रेज सरकार इस अद्भुत आंदोलन के सामने अपने को असहाय अनुभव कर रही थी। सरकार की बौखलाहट उसकी दमन नीति के रूप मे सामने आ रही थी। एक ओर वायसराय इरविन गांधी से मीठी बातें करते थे और दूसरी ओर देश में दमन बढ़ रहा था। १९३१ में गोलमेज परिषद मे भाग लेने गाधीजी लंदन गए किन्तु परिषद से खाली हाथ लौटे। वास्तव में परिषद महज़ दिखावा थी। उनके भारत लौट आने के पहले ही प्रमुख नेता गिरफ्तार कर लिए गए। दमन-चक्र में और तेजी लाई गई तथा गांधी जी भी गिरफ्तार कर लिए गए। लार्ड विलिंगडन ने डींग मारी थी कि दो सप्ताहों में सारा मामला खत्म कर देंगे किन्तु आंदोलन जारी रहा। "न मालूम कहां से नये नेता निकल आए, जिन्होंने अपने-अपने ढंग से कार्यक्रम भी बना लिये और कानून-भंग का कार्य जोरों पर चलता रहा।"[1]

अड़ंगे की नीति

ब्रिटिश सरकार की नीति थी कि भारत की स्वाधीनता की मांग को किसी तरह टाला जाए। जितने भी विधान बने और मिशन बैठाए गए वे केवल दिखाने के दांत थे। आचार्य नरेन्द्रदेव का विश्लेषण था कि "संधिपत्रों की पहली धारा में वह पूर्ण स्वतन्त्रता को स्वीकार करती है और अगली धाराओं मे उसपर अनेक प्रकार के प्रतिबंध लगा देती है।" १९३५ के विधान में प्रांतों को स्वायत्त शासन का अधिकार दिया गया तो गवर्नर को 'विटो' का अधिकार दे दिया गया। आगे चलकर क्रिप्स मिशन और कैबिनेट मिशन का गठन हुआ पर ये अंग्रेजी अड़ंगा नीति के मोहरे मात्र थे। १९३५ में कांग्रेस ने भारतीय विधान स्वीकार नहीं किया था पर अपनी शक्ति का परिचय देने के लिए उसने चुनाव लड़ा और सात प्रांतों में अपनी सरकार बनाई। द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ने पर इन कांग्रेसी सरकारों ने त्यागपत्र दे दिया।

द्वितीय विश्वयुद्ध

हिटलर तथा मुसोलिनी की विस्तारवादी नीति तथा अंधी राष्ट्रीयता के कारण यूरोप पर जो महायुद्ध के बादल मंडरा रहे थे वे अब तक काफी घने हो चुके थे। फैजपुर कांग्रेस में यह निर्णण लिया गया कि यदि महायुद्ध छिडता है तो ब्रिटिश सरकार को भारत से जन और धन ले जाने से रोका जाना चाहिए। प्रथम विश्वयुद्ध में भारतीय नेताओं ने ब्रिटिश शासन की पूरी मदद की थी किन्तु इस

---

१. डॉ० राजेन्द्र प्रसाद, आत्मकथा, पृष्ठ ३६५

बार स्थिति विपरीत थी। आखिरकार १९३९ मे नात्सी जर्मनी ने यूरोपीय राष्ट्रों पर आक्रमण कर दिया। फासिस्ट शक्तियां एक ओर थीं तो दूसरी ओर मित्र राष्ट्र। युद्ध आरम्भ होते ही वायसराय ने भारत के प्रतिनिधियों की राय पूछे बगैर भारत को युद्ध में शामिल कर दिया। सम्पूर्ण वैधानिक विकास, जिसका दम भरा जाता था, ताक पर रख दिया गया। भारत से जब सहायता मांगी गई तब सरकार से पूछा गया कि वह युद्ध का उद्देश्य स्पष्ट करे तथा भारत की स्वतन्त्रता की स्पष्ट घोषणा करे।

विश्वयुद्ध के प्रति पूर्ण तटस्थ बने रहना संभव नहीं था अतः नेताओं के सामने समस्या थी कि वे क्या करें। कांग्रेस सिद्धांततः फासिस्ट शक्तियों का विरोध कर रही थी किन्तु अंग्रेजों की ओर से लड़ने का अर्थ था अपने ही ऊपर साम्राज्यवाद का शिकंजा और कस लेना। राष्ट्रीय आंदोलन की मांग थी कि इस अवसर पर ब्रिटेन पर जोर डाला जाए। पंडित नेहरू ने यह माना कि अंतर्राष्ट्रीयता के संघर्ष में राष्ट्रीयता की विजय होनी चाहिए।[1] कांग्रेस ने निश्चय किया कि अंग्रेजों का साथ नहीं दिया जाएगा। यदि सरकार युद्धोपरात स्वतन्त्रता की घोषणा करे एवं युद्धकाल में शासन के अधिकार भारतीयों को दे दे तो भारत की ओर से हार्दिक सहायता की जाएगी। दूसरी ओर गांधीजी नैतिक आधार पर कह रहे थे कि इस संकट के समय ब्रिटेन पर कोई शर्त नही लादनी चाहिए। उन्होंने अपनी पूर्ण सहानुभूति का प्रदर्शन किया। उन्होंने कहा, "इंग्लैण्ड की बरबादी के साथ भारतीय स्वतन्त्रता की रचना नहीं की जा सकती।" कम्यूनिस्ट पार्टी का मत था कि बिना किसी शर्त के भारत को ब्रिटेन का साथ देना चाहिए क्योंकि विश्व को फासिस्ट शक्तियों से बचाना आवश्यक है। मित्र राष्ट्रों में रूस के सम्मिलित होने से कम्यूनिस्ट पार्टी इस युद्ध को 'लोकयुद्ध' मान रही थी। एक अन्य मत नेता जी सुभाषचन्द्र बोस का था। वे अपनी राजनीति को राजनीति के स्तर पर स्वीकार करते हुए शत्रु के शत्रु को अपना मित्र मानकर चलने के पक्ष में थे। वे जर्मनी, इटली और जापान को मित्र मानकर ब्रिटेन से लड़ने के पक्षपाती थे। इसी आधार पर जर्मनी और जापान की सहायता से उन्होंने आजाद हिन्द फौज का गठन किया।

'भारत छोड़ो' आंदोलन

गांधीजी के द्वारा चलाया जाने वाला व्यक्तिगत सत्याग्रह वर्ष-भर चलता रहा। गांधीजी ने विशेष तौर पर ख्याल रखा कि आंदोलन भी चलता रहे और

---

1. "In the contest between nationalism and internationalism, nationalism was bound to win."

—The Discovery of India, Jawahar Lal Nehru, P. 366

सरकार अधिक कठिनाई मे न पड़े। इसी समय क्रिप्स मिशन पुरानी बोतल में नई शराब लेकर आया। इस मिशन के विषय में गांधीजी की राय थी कि यह "एक दिवालिये बैंक की गैरमियादी हुण्डी" की तरह था। भारतीय जनता के व्यापक असंतोष और ब्रिटिश सरकार की बदलती नीयत को देखकर गांधीजी ने देशव्यापी आंदोलन की योजना बनाई। अगस्त १९४२ में कांग्रेस महासमिति ने प्रस्ताव पास किया कि अंग्रेज शीघ्रातिशीघ्र भारत छोड़ दें। इतना ही नहीं, प्रस्ताव मे अन्य एशियाई देशों की स्वतन्त्रता की माग की गई। वस्तुतः इस प्रस्ताव में खुलकर यह कहा गया कि फासिज्म की ही तरह ब्रिटिश-साम्राज्यवाद का अंत संसार में हर जगह होना चाहिए। भारतीय स्वाधीनता इसका पहला कदम होगा।[1] गांधीजी सहित कांग्रेस के सारे नेता तुरन्त गिरफ्तार कर लिए गए और सारे देश में भीषण दमन-चक्र चला दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि देश की जनता भीषण रूप से उत्तेजित हो गई। नेताओं के अभाव में इस उत्तेजना ने विद्रोह का रूप धारण कर लिया। चारों तरफ रेल की पटरियां उखाड़ी जाने लगी, बिजली और फोन के तार काटे जाने लगे और सरकारी सम्पत्ति लूटी जाने लगीं। सरकार ने इतना भीषण दमन किया कि २४ सितम्बर, ४२ तक ६५८० आदमी मारे गए और हजारों घायल हुए।[2] संसार के सभी देशों से—यहां तक कि इग्लैंड से भी सरकार की कड़ी आलोचना की गई। आचार्य नरेन्द्र देव ने इस आंदोलन का मूल्यांकन इन शब्दों में किया, "इस आंदोलन ने दिखलाया कि जनता बहुत आगे बढ़ गई है, कार्यकर्ता गण पीछे रह गए है।"[3] देश की भीषण स्थिति से महात्मा गांधी के प्राण व्याकुल हो गए। आगाखा के महल में बंदी गांधीजी ने अनशन प्रारम्भ कर दिया। गांधीजी के अनशन की चिन्ता न केवल देश के सभी वर्गो और सम्प्रदायों ने की बल्कि सारी दुनिया ने की। अमेरिका से ब्रिटिश सरकार के खिलाफ आवाज उठी और मई, १९४४ में गांधीजी को मुक्त कर दिया गया।

गांधीजी ने मुक्त होते ही मुस्लिम लीग के एकमात्र अधिकारी जिन्ना से समझौते की कोशिश की ताकि भारतीय पराधीनता सहयोगी वातावरण में समाप्त हो सके। मुस्लिम लीग के विभाजन के प्रस्ताव को उन्होंने स्वीकार नहीं किया।

---

1. ···The Freedom of India was "necessary not only in the interest of India but also for the safe of the World and for ending of Nazism, Fascism, Militarism and other forms of imperialism and aggression of one nation over another."

—Struggle for Freedom, K. M. Munshi, P. 646

२. केशव कुमार ठाकुर : भारत में अंग्रेजी राज्य के दो सौ वर्ष, पृष्ठ ६३४

३. आचार्य नरेन्द्र देव, राष्ट्रीयता और समाजवाद, पृष्ठ १९०

इन्ही दिनों लार्ड वेवेल के स्थान पर लार्ड लिनलिथगो भारत के वायसराय बनाए गये। उन्होने ने भी विभाजन का विरोध किया और लीग की आलोचना के शिकार बने। १९४५ मे महायुद्ध का अंत हुआ। ब्रिटेन ने चैन की लम्बी सास ली किन्तु उस सांस मे उसे अपनी क्षीण शक्ति की लड़खड़ाहट का बोध भी हुआ। युद्धोपरांत चुनाव मे इंग्लैंड का शासन-भार वहां की मजदूर पार्टी के हाथों में आ गया। इस पार्टी ने सिद्धांततः भारत की स्वाधीनता का समर्थन किया। प्रधान-मंत्री मिस्टर एटली ने अपने एक भाषण में कहा, "हम अपने लिए जिस प्रकार स्वाधीनता चाहते हैं, ठीक उसी प्रकार की स्वतन्त्रता दूसरों को भी चाहिए। आज की अतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों का तकाज़ा भी यही है।"

भारत की राजनैतिक मांग को पूरा करने के लिए ब्रिटिश शासन की ओर से मध्यकालीन सरकार (Interim Government) बनाने के लिए कांग्रेस और लीग को आमंत्रित किया गया। लीग ने पहले इसे स्वीकार किया, फिर अस्वीकार और अंत में फिर स्वीकार किया। पर लीग इस सरकार में अड़गेबाजी के लिए शामिल हुई थी। यह तेजी के साथ अनुभव हुआ कि लीगी सदस्यों के साथ काम करना असंभव था। दरअसल लीग हर हालत में बंटवारे की स्थिति पैदा करना चाहती थी। जाति अथवा धर्म के आधार पर राष्ट्र का निर्माण करना ही भ्रांति है किन्तु फिर भी ऐसी परिस्थितियां पैदा की गई कि पाकिस्तान का निर्माण हुआ। १९४६ में चुनाव हुए और अस्थायी सरकार बनाने के लिए कांग्रेस और लीग के समझौते के सभी प्रयास विफल हुए। पडित जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में अस्थायी सरकार बनी पर उसमें मुस्लिम लीग सम्मिलित नहीं हुई। मुस्लिम लीग ने साम्प्रादायिक दंगों की शुरुआत की। आचार्य जावडेकर का कथन है, "मुस्लिम लीग द्वारा किए गए बलवे में कुछ यूरोपीय अधिकारी तथा कुछ नरेश भी शामिल हो गए थे।"[१] इस बीच माउंटबेटन वायसराय बनकर भारत आ गए थे। साम्प्रादायिकता फैलती जा रही थी और नेहरू सरकार उसे इसलिए नहीं रोक पा रही थी क्योंकि सेना वायसराय के अधिकार में थी। अंततः ३ जून, १९४७ को पाकिस्तान की मांग स्वीकार कर ली गई। ब्रिटिश सरकार भी अब भारत छोड़ने को उत्सुक थी अतः मुस्लिम-बहुल प्रांतों को पाकिस्तान और शेष को भारत के रूप में स्वतन्त्रता दे देना चाहती थी। यद्यपि देश का विभाजन संघर्ष और हिसा से भी अधिक क्रूर था पर उस समय वही सरल मार्ग दिखलाई दिया। अंततः साम्प्रादायिक दंगों के रक्तिम वातावरण में १५ अगस्त, १९४७ को भारत और पाकिस्तान दो राष्ट्र बनकर स्वतन्त्र हो गए।

---

१. आचार्य जावडेकर, आधुनिक भारत (अनु० हरिभाऊ उपाध्याय), पृष्ठ २४३

स्वाधीनता-आंदोलन में क्रांतिकारियों का योगदान

भारत के स्वाधीनता-आंदोलन में एक वर्ग ऐसा भी था जो यह अनुभव करता था कि स्वाधीनता शस्त्रों के बल पर प्राप्त की जानी चाहिए। सन् १८५७ की गदर में भारत ने शस्त्र के बल पर स्वतंत्रता हासिल करने की कोशिश की थी किन्तु वह सफल नहीं हो सका। अंग्रेजी शासन को जब यह विश्वासा-सा होने लगा कि भारत अपने लोहे की ताब भूल चुका है तभी पूना में १८९७ में चाफेकर ने अग्रेज अधिकारी रैंड और उसके एक साथी की गोली मारकर हत्या कर दी। वास्तव मे यह घटना किसी व्यक्तिगत आवेश का परिणाम नहीं थी; यह अग्रेजों के प्रति संचित घृणा का एक निश्चित परिणाम थी; यह एक विचारधारा की परिणति थी जो अत्याचारी को नष्ट करने में विश्वास रखती थी। मदनलाल धींगरा ने इंग्लैंड में सर कर्जन वाइली को गोली मार दी। सावरकर बंधुओं ने भी क्रांति की भावनाओं को जाग्रत् किया। मन्मथनाथ गुप्त का कथन है, "इन अलमस्तों का हमारी राष्ट्रीय सुषुप्त चेतना (Subconscious mind) पर गहरा असर पड़ा, और राष्ट्रीय मनोजगत् में उसकी बहुमुखी प्रतिक्रिया हुई।"[१]

बंगाल में क्रांतिकारियों ने अपनी गतिविधियां तेज कीं। खुदीराम बोस की अमर शहादत ने देश के सामने एक उदाहरण रखा। वारीन्द्रकुमार घोष और उनके साथियों ने इस दिशा में संगठित और ठोस प्रयास किया। इसके बाद तो बंगाल एक जलती हुई भट्टी बन गया। चटगांव शस्त्रागार कांड क्रांतिकारियों के भयानक जीवन का एक प्रमाण माना जा सकता है। क्रांतिकारियों का आंतक अंग्रेज अधिकारियों और उनके पिट्ठुओं पर बुरी तरह छा गया। अग्रेज सरकार भी अत्यन्त सतर्कता से उनका दमन करने लगी। न जाने कितने क्रांतिकारी फांसी के तख्ते पर झूले और न जाने कितनों ने कालेपानी की सजा भुगती। यतीन्द्र दास जैसे क्रांतिकारियों ने जेल में होने वाले दुर्व्यवहार के लिए अनशन भी किए। यतीन्द्रनाथ ने तो अनशन में ही अपने प्राण त्यागे।

क्रांतिकारियों ने केवल अधिकारियों की हत्या तथा दल को चलाने के लिए डकैती करने तक अपने कार्यक्रम को सीमित नहीं रखा। वे अपनी आवाज इस हद तक बुलंद करना चाहते थे कि उसकी गूंज सारे देश में हो। केन्द्रीय असेम्बली में बम फेककर भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त ने अपने-आपको जानबूझकर गिरफ्तार करवाया और हंसते-हंसते फांसी पर झूल गए ताकि देश मे जागृति पैदा हो। अंग्रेज सरकार की नाक में दम करके १९३१ में आजाद भी मारे गए। इन सभी क्रांतिकारियों ने भारतीय वीरता की जीती-जागती मिसाल दुनिया के

---

१. मन्मथनाथ गुप्त, भारत में सशस्त्र क्रांति की चेष्टा का रोमांचकारी इतिहास, पृष्ठ ३२

सामने रखी। किन्तु सीमित साधनों के कारण तथा जन-सहयोग न मिलने से इनके प्रयास बहुत सफल नहीं हो पाए। जनता की श्रद्धा और सहानुभूति क्रांतिकारियों को मिली किन्तु उस समय देश का सारा ध्यान अहिंसात्मक आंदोलन में लगा हुआ था।

फिर भी यह कहना होगा कि इन शहीदों के आत्मबलिदान ने राष्ट्रप्रेम और शहादत की भावना की ओर देश को प्रेरित किया।

सशस्त्र क्रांति के इतिहास में सुभाषचन्द्र बोस का नाम अग्रगण्य है। वस्तुतः सुभाष बाबू का प्रयास सर्वाधिक संगठित एवं व्यावहारिक था। आधुनिक युग में अपनी सेना संगठित करके दूसरी धरती पर अपने देश की स्वतंत्र सरकार बनाने वाले संभवतः वे पहले व्यक्ति थे। उनके द्वारा गठित आजाद हिन्द फौज के क्रियाकलापों को इतिहासकारों ने इतिहास की विलक्षण घटना स्वीकार किया है।[1] सुभाष बाबू अपनी नजरबन्द कैद से जनवरी १९४१ में एकाएक गायब हो गए। सुभाष बाबू ने जर्मनी और इटली के साथ मिलकर भारतीय स्वाधीनता की योजना बनाई पर जब उन्होंने ब्रिटिश सेना के विरुद्ध जापानी फौजों की विजय के समाचार सुने तब उन्होंने तय किया कि दक्षिण-पश्चिम एशिया ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध लड़ने के लिए अधिक उपयुक्त स्थान होगा। जापान की सहायता से उन्होंने न केवल आजाद हिन्द फौज का गठन किया बल्कि २१ अक्टूबर, १९४३ में आजाद हिन्द सरकार का गठन भी किया। 'दिल्ली चलो' के नारे के साथ देश की स्वाधीनता की कामना मन मे लिए आजाद हिन्द फौज ने इम्फाल के मोर्चे पर ब्रिटिश और अमेरिकन फौजो से युद्ध किया। अस्त्र-शस्त्र तथा हर तरह की अन्य अभावों के उपरात भी आजाद हिन्द फौज ने शत्रुओं से मोर्चा लिया। आजाद हिन्द फौज को अंत में पराजय का मुख देखना पड़ा और अपेक्षाकृत संगठित मोर्चा तैयार करने की अभिलाषा लेकर सुभाष बाबू १६ अगस्त, १९४५ को सिंगापुर से टोकियो रवाना हुए किन्तु यही उनकी अंतिम यात्रा साबित हुई।

सामाजिक परिस्थितियां

भारत का समाज अत्यन्त प्राचीन समाज है और साथ ही संश्लिष्ट भी। राहुल सांकृत्यायन ने लिखा है, "जिस जाति की सभ्यता जितनी पुरानी होती है

---

1. "It was not only the interesting incident in the second world war, but also one of the most important episodes in the long History of the freedom movement in India."

Struggle for Freedom, K. M. Munshi, P. 682

उसकी मानसिक दासता के बंधन भी उतने ही अधिक होते है।"[१] भारतीय इतिहास में इतने उतार-चढ़ाव हुए तथा भारतीय चेतना धर्म और अध्यात्म से इतनी अधिक उलझी रही कि समाज की विकट समस्याओं पर यहां विशेष कुछ सोचा नहीं गया। परंपराओ की लकीर पीटने वाले भारतीय समाज की चेतना को स्वर्ग-नरक, राजाओं, पंडितों पुरोहितों से हटाकर सामाजिक समस्याओं पर केन्द्रित करने का प्रयास आधुनिक युग मे ही हुआ। स्वामी विवेकानन्द ने पहली बार अपनी ओजस्विनी वाणी से भारत के पागलपन को झाड़ने की कोशिश की थी। उनके बाद कितने ही महापुरुषों और समाज-सुधारकों ने परम्पराओं से जड़ हो गए समाज को झकझोरकर जागने का प्रयास किया। भारत में राजनैतिक आजादी और सामाजिक सुधार के लिए प्रयत्न साथ ही साथ हुए। भारत की प्रमुख सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिए ठोस कार्य राजनैतिक हलचलों के मध्य हुए। इस क्षेत्र मे गांधीजी का अत्यन्त ठोस योगदान रहा। वास्तव में भारत में गांधी जी से बड़ा समाज-सुधारक कोई नही हुआ। उन्होंने इस बात को अत्यन्त व्यावहारिक स्तर पर समझा कि एक सुलझा हुआ समाज ही आजादी का सही उपयोग कर सकता है। साथ ही उन्होने यह भी समझा कि राष्ट्रीय आदोलन उच्च वर्ग के कुछ लोगों के राजनैतिक वाद-विवाद से उठकर जब तक जनमुक्ति का आंदोलन नहीं बनेगा तब तक वह असफल रहेगा। राष्ट्र व्यापी आंदोलन के लिए आवश्यक था कि भारतीय समाज की बुनियादी विषमताओं को दूर कर दलित वर्ग को भी उसमें शामिल किया जाए। अछूत और नारी भारत के दलित वर्ग थे। दोनों को शताब्दियों से पददलित किया गया था और उसपर धर्म की मुहर लगा दी गई थी।

अछूतोद्धार

अछूतोद्धार की दुर्दशा पर भारतीय समाज-सुधारकों ने पहले से ही विचार करना प्रारम्भ कर दिया था किन्तु उस दिशा मे देशव्यापी ठोस कार्य का प्रारम्भ कांग्रेस के माध्यम से गाधीजी ने ही किया। उनका विचार था कि अछूत का कलंक हिन्दू धर्म पर लगा रहे उससे कहीं अच्छा है कि हिन्दू धर्म ही मिट जाए। यों १९१७ में कलकत्ता कांग्रेस में इसपर विचार किया गया था और सारे देश से यह अपील की गई थी कि अछूतों पर लगी हुई सामाजिक बंदिशें हटा दी जाएं। जब गांधीजी तथा उनके साथ ही देश का प्रगतिशील तथा दूरदर्शी वर्ग विषमता की दीवारों को ढाने के लिए उत्सुक था तब अंग्रेज सरकार अछूत वर्ग को मुसलमानों की ही तरह हमेशा के लिए भारत में एक सम्प्रदाय के रूप में

---

१. राहुल सांकृत्यायन : दिमागी गुलामी

स्थापित कर देना चाहती थी। डॉ० अम्बेडकर और श्रीनिवासन ने गोलमेज परिषद में अछूतों के स्वतन्त्र प्रतिनिधित्व का प्रस्ताव रखा। रैमजे मैकडानल्ड के 'कम्यूनल एवार्ड' ने इसे स्वीकार कर लिया। गांधीजी का मत था कि इस तरह राजनैतिक क्षेत्र भी अलग कर दिए जाएं तो यह एक नया अछूतपन हो जाएगा। परिणाम यह होगा कि अछूत वर्ग हमेशा के लिए अन्य वर्गों से अलग हो जाएगा। इस विघटनकारी क्रिया के विरोध में यरवदा जेल मे उन्होने आमरण अनशन कर दिया। फलस्वरूप कांग्रेस और अछूत वर्ग में पूना पेक्ट के अंतर्गत समझौता हुआ और कांग्रेस ने अंग्रेज सरकार से कहीं अधिक सीटें अछूतों को देना स्वीकार कर लिया।

कुछ राजनैतिक प्रश्नो पर समझौता हो जाने से ही गांधीजी संतुष्ट होने वाले नही थे। उनके हृदय में तो अस्पृश्यता को जला देने के लिए एक आग धधक रही थी। यह आग केवल चुनाव में क्षेत्र अथवा अस्पृश्यो को कुछ सुरक्षित जगहें मिल जाने से कैसे बुझ सकती ?[1] उन्होंने अछूतो के लिए 'हरिजन' शब्द का प्रयोग प्रारम्भ किया और हरिजन सेवक संघ का गठन किया। अस्पृश्यता को दूर करने का एक स्पष्ट तरीका यह था कि मन्दिरों में उन्हें प्रवेश दिलाया जाए। मन्दिरों में अछूतों के लिए प्रवेश-निषेध के द्वारा सवर्ण हिन्दुओं ने अछूतों से धार्मिक दगाबाजी सदियों तक की। इसी तरह सार्वजनिक कुओं पर उन्हें पानी भरने का अधिकार भी दिलाना आवश्यक था। दक्षिण भारत में यह कट्टरपन बहुत था। मलाबार मे तो कुछ सड़कें उनके लिए वर्जित थी। जिन सड़कों पर उन्हें चलने का अधिकार था वहां भी उन्हें आवाज देते हुए चलना पड़ता था।

मन्दिर-प्रवेश

मन्दिरों में अछूतों को प्रवेश दिलाने के लिए समाज-सेवियों को अथक प्रयास करना पडा। शुरू में कुछ मन्दिर अवश्य खुले किन्तु ये ऐसे मन्दिर थे जिनका अखिल भारतीय महत्त्व नही था। प्रयत्न होते रहे और मलाबार में त्रावनकोर-नरेश ने वहां का सबसे प्रसिद्ध श्री पद्मनाभ का मन्दिर खोल दिया। दक्षिण में अजीब बात यह देखने मे आई कि वहां के अब्राह्मण सवर्णो की अपेक्षा ब्राह्मण इस सुधार के लिए जल्दी तैयार हुए। बाद में राजाजी ने कानून बनवाकर मदुरा के मन्दिर खुलवाए थे। उत्तर भारत में भी इस बात की लहर आई। सिर्फ मन्दिरों में प्रवेश ही नहीं बल्कि अन्य कार्यों से भी अस्पृश्यता-निवारण की भावना क्रियात्मक रूप से सामने आई। कुछ कार्यकर्ता इसी कार्य मे लग गए और हरिजन सेवक संघ के पदाधिकारी बनकर अपना सारा समय उसीमे देने लगे।

---

१. डॉ० राजेन्द्र प्रसाद, आत्मकथा, पृष्ठ ३७२

यह कार्य बहुत आसानी से नहीं हुआ। विरोध की आवाजें उठीं। यहां तक कि कुछ हरिजनों ने यह कहा कि यह सारा कार्य फरेब है। वे मुख्य रूप से राजनैतिक और आर्थिक स्वाधीनता को महत्त्व दे रहे थे। कट्टर सनातनी लोगों का विरोध तो अपेक्षित ही था। जब गांधीजी दौरे पर निकले तो कई जगहों पर उन पर हमले किए गए। पूना में एक सभा मे जाते हुए गांधीजी पर बम फेंका गया। बिहार जैसे गांधी-भक्त सूबे में उनकी मोटर पर लाठियों के प्रहार हुए।[१] यह सब कुछ स्वाभाविक प्रतिक्रिया थी। डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने लिखा है, "पर जब हम यह याद करते हैं कि हजारों वर्षों की रूढ़ि—जो हमारी नस-नस में समा गई है, जिसका हमारे धर्म के साथ एक प्रकार का अविच्छिन्न संबन्ध-सा जुड गया है—कितनी जबरदस्त है, तो जो प्रगति इसमें अब तक हुई है वह कम नहीं जान पड़ती। कुछ और धक्के लगेंगे और यह पुरानी दीवार गिर जाएगी।"[२]

अछूतों को अन्यों के साथ समान धरातल देने का प्रयास चलता रहा। मन्दिरों मे प्रवेश देना केवल एक छोटा-सा कदम था। पददलित वर्ग को आर्थिक और मानसिक रूप से भी ऊपर उठाना जरूरी था। सामंत वर्ग और कुलीन वर्ग उनके साथ पशुओं-सा बर्ताव करते रहे। भूमिहीनों के साथ ज्यादती, अछूतों की औरतों पर बलात्कार और हर समय परपंरागत क्रूर व्यवहार लम्बे अर्से तक जारी रहा। स्वयं अछूत वर्ग के दिमाग में यह बात घुसी हुई थी कि वे वास्तव मे समानता के अधिकारी नहीं हैं। ऊपरी तौर से अछूतोद्धार के प्रगतिशील विचार को स्वीकृत करके भी कितने ही व्यक्ति, यहां तक कि कांग्रेसी भी, अपनी कुलीनता के अभिमान को ढोते हुए अछूतों को नीचा समझते रहे। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस विषय पर लिखा, "एक अस्थायी उत्साह देश-भर में फैल जाता है और हम समझने लगते है कि उससे एकता स्थातित हो गई है, पर हमारे सामाजिक ढांचे के सहस्र-सहस्र छिद्र अपना कार्य गुप्त रूप से करते रहते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि हम किसी भी सुन्दर विचार को देर तक नहीं रख पाते।" बदलते हुए युग ने भी इस समस्या की गांठ को सहज रूप से ढीला किया। उद्योगों का बढ़ना, व्यस्त शहरी सभ्यता तथा यात्रा की मजबूरियों ने वर्ण-व्यवस्था की कट्टरता को कम किया।

नारी-स्वतंत्रता

भारतवर्ष की नारी व्यक्ति नही 'वस्तु' मानी जाती रही है। कभी वह मन-बहलाव का साधन और कभी बच्चे पैदा करने की मशीन के रूप मे ग्राह्य रही। 'यत्र नार्यस्तु पूज्यते रमन्ते तत्र देवता' अक्सर पुस्तक का एक आदर्श वाक्य ही रहा

१. डॉ० राजेन्द्र प्रसाद, आत्मकथा, पृष्ठ ३७६
२. वही, पृष्ठ ३७६

है। स्वयं मनु ने यह आदर्श वाक्य लिखकर भी स्त्री के स्वतंत्र व्यक्तित्व को स्वीकृत नही किया है। भारतीय समाज लम्बे अर्से तक नारी-शक्ति को नीची निगाह से देखने का आदी रहा। नारी की स्वतंत्र सत्ता की बात भी आधुनिक युग में ही उटी। राजा राममोहन राय और दयानन्द सरस्वती ने नारी की स्थिति को सुधा-रने का प्रयत्न किया। राजा राममोहन राय ने विधवा-विवाह का प्रचार किया। उस युग में निश्चय ही यह एक क्रांतिकारी विचार था। आर्य समाज-आन्दोलन ने भी नारी-कल्याण के कई काम किए। समाज-सुधार और राष्ट्र-उत्थान के लिए नारी-शक्ति पर विश्वास सबसे पहले विवेकानन्द ने किया। उन्होंने तो यहां तक कहा कि देश का जो कार्य कई हजार पुरुष कई वर्षों में नहीं कर सकते वह कार्य कुछ सौ नारियां कुछ वर्षों में ही कर सकती हैं। भारतीय नारी-शक्ति को देश के कार्यों से क्रियात्मक रूप में गांधीजी ने जोड़ा। गांधीजी की बड़ी भारी देन यह थी कि उन्होंने शक्ति का मानदण्ड बदल दिया। शारीरिक शक्ति से कहीं अधिक महत्त्व उन्होंने आत्म-बल को दिया। यदि शक्ति का सबंध शारीरिक बल तक सीमित नही किया जाए तो स्त्री और पुरुष की असमानता का प्रश्न ही नहीं रह जाता। नारी-पुरुष की समानता गांधीजी के दर्शन में ही व्यावहारिक अभिव्यक्ति प्राप्त कर सकी। उनके विचार अद्भुत रूप से विवेकानन्द के विचारों से मेल खाते हैं। उन्होंने कहा कि नारी अबला नही है और यदि अहिंसा ही हमारे मूल्याकन की कसौटी है तो निश्चय ही भविष्य का निर्माण स्त्रियों के हाथ मे है।[1]

नारी घर की चहारदीवारी से निकलकर राजनैतिक, सामाजिक क्षेत्र में कार्य करे यह प्रयास इसी शताब्दी में हुआ। १९१७ में कलकत्ता कांग्रेस में यह विचार किया गया कि "शिक्षा तथा स्थानीय सरकार से संबंध रखने वाली निर्वाचित संस्थाओं में मत देने तथा उम्मीदवार खड़ा होने की, स्त्रियों के लिए वही शर्तें रखी जाएं जो पुरुषों के लिए हैं।"[2] एनी बेसेण्ट और सरोजिनी नायडू ने १९१९ में नारी को राजनैतिक अधिकार देने की मांग की। सरकार ने इस प्रश्न को प्रांतीय धारा सभाओ पर छोड़ दिया। प्रांतीय धारासभाओ ने महिलाओं को वोट का अधि-कार दे दिया। मद्रास प्रात ने सबसे पहले यह कार्य किया। बाद में १९३१ में करांची काग्रेस में स्त्री-पुरुष के बुनियादी अधिकारों की समानता की घोषणा की गई।

1. "To call woman a weaker sex is a lible, it is man's injustice to woman. If by strength is meant brute strength then indeed woman is less brute than man. If by strength is meant moral power., then woman is immea-surably more superior. If non-violence is the law of our being, the future is with woman." Young India—10.4.1930

२. पट्टाभिसीतारामय्या : काग्रेस का इतिहास (प्रथम खण्ड), पृष्ठ ५९

नारी और आंदोलन

गांधीजी ने असहयोग और अवज्ञा आन्दोलन के रूप में जो अद्भुत युद्ध छेड़ा उसकी प्रकृति भारतीय नारी की प्रकृति के अनुकूल थी इसीलिए विशाल समूह के रूप मे नारी घर के बाहर आकर इसमे हिस्सा ले सकी। देश की नारी-शक्ति ने देश के राजनैतिक और सामाजिक मसले मे इतने व्यापक पैमाने पर उत्साह से हिस्सा लिया हो ऐसा इस देश के इतिहास मे पहली बार हुआ। वस्तुतः भारतीय सभ्यता के इतिहास मे नारी की सामूहिक शक्ति इसके पहले कभी भी किसी उद्देश्य के लिए इतनी सक्रिय नही हुई। विदेशी वस्त्र-बहिष्कार और शराब की दुकानों पर धरना देने का कार्य औरतों ने किया। औरतों ने अपनी योग्यता और धैर्य का प्रमाण भी दिया। भारतीय नारी ने इस आन्दोलन में इतने उत्साह से हिस्सा इसलिए लिया क्योकि इसके साथ उनकी अपनी मुक्ति भी जुडी हुई थी। नेहरूजी के शब्दों मे, "इन स्त्रियों के लिए आजादी की पुकार हमेशा दुहरी माने रखती थी और इस बात मे कोई शक नही कि जिस जोश और जिस दृढता के साथ वे आजादी की लडाई मे कूदीं उनका मूल उस धुंधली और लगभग अज्ञात लेकिन फिर भी उत्कट आकांक्षा मे था, जो उनके मन मे घर की गुलामी से अपने को मुक्त करने के लिए बसी हुई थी।"[1] भारत की नारी सदियों की खीची हुई लक्ष्मण-रेखा को पार करके सामाजिक क्षेत्र में आई किन्तु फिर भी पुरुष वर्ग की ओर से इसपर एतराज नहीं हुआ। लेकिन जब सम्पत्ति के अधिकार के क्षेत्र मे नारी पुरुष की प्रतिद्वन्द्वी बनकर आई तब पुरुष वर्ग की ओर से इसका विरोध हुआ। १९३१ मे 'हिन्दू विडोज प्रापर्टी बिल' का पास न हो सकना इस तथ्य की पुष्टि करता है।

नारी और शिक्षा

आधुनिक शिक्षा ने, जो मूलतः पाश्चात्य शिक्षा थी, नारी की पारिवारिक और सामाजिक स्थिति में परिवर्तन किया। जैसे-जैसे शिक्षा का प्रसार हुआ और समाज के धार्मिक आडम्बरो की समाप्ति हुई वैसे-वैसे भारतीय नारी में नई चेतना का संचार हुआ। किसी भी वर्ग की उन्नति के लिए स्वयं उसमें नई चेतना का जाग्रत् होना आवश्यक है। देश में व्याप्त पर्दाप्रथा का अंत नई शिक्षा और आन्दोलनों के कारण हुआ। भारतीय विधवा की दशा अत्यन्त खराब थी। हिन्दू विधवा या तो अपने जीवन को नरक बनाकर रहती थी अथवा परेशानियों से घबराकर आत्महत्या कर लेती थी। कई बार वह वेश्या बनने को विवश हो जाती थी। बदलती स्थितियो में नारी ने अपने जीवन की सार्थकता को समझा और जीवन में एक

---

१. पंडित जवाहरलाल नेहरू, मेरी कहानी (अनु० हरिभाऊ उपाध्याय), पृष्ठ ४८२

उद्देश्य को प्राप्त किया। ब्रिटिश सरकार की निर्दयता को भारतीय नारी ने जिस धैर्य से सहन किया उससे प्रमाणित होता था कि उसमे सामाजिक जिम्मेदारियों को निभाने की क्षमता है। इतना ही नहीं, क्रान्तिकारी दल में स्त्रियां शामिल हुई। जीवन की भयंकरता से भयभीत हुए बिना उसने खतरनाक काम किए। यह आश्चर्य का विषय है कि क्रांतिकारी दलों के सदस्यों मे स्त्रियों की सख्या सबसे अधिक थी। नारी जब राष्ट्रीय मोर्चे पर आई थी तब परम्पराग्रस्त एवं संशय-ग्रस्त मस्तिष्क वालों ने उसकी क्षमता पर अविश्वास किया था। यहां तक कि उन्हें महती उत्तरदायित्व सौपने का भी विरोध किया था। किन्तु नारी ने जिस तरह अपने अधिकारों के लिए सघर्ष किया और अपने को स्थापित किया वह केवल भारतीय नहीं बल्कि मानवीय इतिहास की महत्त्वपूर्ण घटना थी।[१]

शिक्षा के प्रसार के साथ ही स्त्रियां नौकरी के क्षेत्र में प्रविष्ट हुई और आर्थिक रूप से भी अपने पैरों पर खडी हुई। वस्तुतः आर्थिक रूप से स्वतन्त्र हो सकने की क्षमता ने उसे पूरी तरह मुक्त किया। स्त्री भी, चाहे तो, पुरुष की तरह अविवाहित रहकर सम्मानपूर्वक, आत्म-निर्भर जीवन बिता सकती है—यह बात साबित हुई। भारतीय नारी ने घर की चहारदीवारी के बाहर आकर इतनी तेजी से तरक्की की कि १६४० में विधानसभाओं में ८० महिलाएं प्रतिनिधित्व कर रही थीं। नारी की मुक्ति भारतीय युग-परिवर्तन और विचार-क्रान्ति के रूप में याद रखी जाने वाली घटना है।

सांस्कृतिक परिस्थिति

जर्मन विचारक श्रीकिंग का मत है कि किसी भी युग में एक ही विचारधारा नही होती और न एक आत्मा होती है, वरन कई विचारधाराएं होती हैं तथा युग की कई आत्माएं होती है।[२] यानी हर युग में कई विचारधाराए समानान्तर चलती रहती हैं जो कभी-कभी विरोधी भी हो सकती है। यों श्रीकिंग का कथन पूर्ण सत्य नही है क्योंकि कई बार युग का एक केन्द्रीय विचार होता है भले ही अंतर्धाराओं की तरह कई विचारधाराएं गतिशील हो। भारत का आधुनिक काल ऐसा ही समय रहा है। गांधी के आगमन से ही भारतीय चिंतनधारा आदर्शवाद

---

1. "Freedom and equality are the basis of human development, women fought for them, and their great struggle has remained a landmark in human history." —Y. M. Bhig, Whether woman, P. 262
2. "... There is no such thing as a spirit of the age; there are only, so to speak, a series of spirits of the age."
The Sociology of literary taste—L. Schricking. Page 6

की ओर मुड गई। गांधीजी ने अहिंसा को जीवन का आधार माना जिसके पास तक पहुंचने के लिए सत्य सबसे बड़ा माध्यम है। मनुष्य हिंसा का सहारा लिए बगैर कष्ट सहन करके तथा प्रेम के द्वारा विरोधी का हृदय-परिवर्तन कर सकता है। प्रत्येक मनुष्य मूलतः अच्छा होता है केवल उसकी अच्छाई को जाग्रत करना आवश्यक है। भारतीय स्वाधीनता-आंदोलन के काल मे आदर्शवादी विचारधारा देश पर हावी रही और सत्य, अहिंसा, हृदय-परिवर्तन आदि सब वातावरण में व्याप्त रहे। किन्तु इसी युग में अन्य कई विचारधाराएं भी उभरी।

व्यक्ति की गरिमा

भारतवर्ष का इतिहास यह रहा कि यहां सामाजिक जीवन में बाह्य परंपराओं और सामाजिक मान्यताओं का महत्त्व बढ़ता गया तथा व्यक्ति की सत्ता दबती गई। हमारे समाज का गठन कुछ इस तरह हो गया कि व्यक्ति के लिए हिलने-डुलने की गुंजाइश भी नही रह गई। व्यक्तिवादी चितन यूरोप में प्रारम्भ हुआ जिसके अनुसार व्यक्ति की सत्ता को सर्वोपरि माना गया। व्यक्ति-स्वातंत्र्य के विचार भारत में भी पनपने लगे। आधुनिक युग के चिंतकों ने व्यक्ति की गरिमा पर जोर दिया और स्वीकार किया कि समाज व्यक्ति के लिए है अतः व्यक्ति की सुविधा के अनुकूल परंपराएं-मान्यताए बदलेंगी। किन्तु पश्चिम की तरह व्यक्ति की निरकुश सत्ता को भारत ने नही स्वीकारा। आधुनिक भारतीय चिंतन व्यक्ति की स्वाधीनता का समर्थक तो है किन्तु अंततोगत्वा वह व्यक्ति का समाज से ताल-मेल बैठाना चाहता है। "अरविन्द के अतिमानस की कल्पना रवीन्द्र का प्राकृतिक रहस्यवाद तथा इकबाल का खुदी दर्शन समाज की अपेक्षा व्यक्ति को अधिक महत्त्व देते हैं। लेकिन इन दार्शनिकों का व्यक्ति मानवतावादी है, अतः व्यक्ति अपने मोक्ष तथा हित की साधना न करके समाज का कल्याण चाहता है।"[१] भारतीय चिंतनधारा व्यक्ति की मुक्ति पर जोर देकर भी धर्म और ईश्वर की शक्ति पर असीम आस्था रखती है। पाश्चात्य और पूर्वी व्यक्तिवादी चिंतन-धारा का यह बुनियादी अंतर है। पाश्चात्य व्यक्तिवादी चिंतन व्यक्ति-स्वातंत्र्य को मुख्यतः बल्कि शायद पूर्णतः बाह्य सामाजिक परिप्रेक्ष्य में देखता है जबकि भारतीय चिंतन भौतिक की अपेक्षा आध्यात्मिक स्तर पर उसे ग्रहण करता है।

व्यक्ति को शक्ति और विश्वास का केन्द्र समझने के कारण इस मान्यता की स्थापना हुई कि नैतिकता का आधार व्यक्ति है। सामाजिक दोष वस्तुतः व्यक्ति के दोष हैं अतः उनका समाधान भी व्यक्ति के स्तर पर होगा। वस्तुतः यह

---

१. डॉ० चंडीप्रसाद जोशी : हिन्दी उपन्यास : समाजशास्त्रीय अध्ययन, पृष्ठ २६६

विचार करने का विशिष्ट भारतीय तरीका है। इसीलिए अन्य जगह जब व्यक्ति-वादी चिंतन समाज को शत्रु की निगाह से देखता है तब भारतीय चिंतन व्यक्ति को गरिमा प्रदान करने के साथ-साथ उसके लिए महती आदर्शों की घोषणा भी करता है। भारत में दलित वर्ग के प्रति जो सहानुभूति उमड़ी तथा अस्पृश्यता-निवारण का जो आंदोलन चला वह इसी चिंतन का परिणाम था कि गलत सामाजिक परंपरा व्यक्ति के गौरव को नष्ट करती है। किन्तु धीरे-धीरे इस चिंतन का आध्यात्मिक दृष्टिकोण क्षीण होता गया और इसे व्यावहारिक रूप प्राप्त हुआ।

धर्म से विज्ञान की ओर

वैज्ञानिक उत्थान ने मनुष्य के चिंतन पर प्रभाव डाला। मध्य युग के विचारों का आधार ईश्वर-शक्ति पर विश्वास करना था। विज्ञान ने उस विश्वास को सारे विश्व में झकझोर दिया। आधुनिक वैज्ञानिक चिंतन का प्रभाव भारतीय जनमानस पर भी पड़ा। चाहे सामाजिक रूढ़ि हो अथवा धार्मिक विचार जब तक वह तर्कसम्मत एवं बुद्धि-ग्राह्य नहीं होगा तब तक आधुनिक व्यक्ति उसे स्वीकृत नहीं करना चाहता। विज्ञान की दूसरी देन यह है कि उसने धर्म की सत्ता को सर्वोच्च आसन से च्युत कर दिया। बर्ट्रेण्ड रसेल का विचार है कि वैज्ञानिक युग के पूर्व ईश्वर को ही सर्वशक्तिमान सत्ता के रूप में स्वीकार किया जाता था अतः मानव अपनी असमर्थता तथा नम्रता व्यक्त करते हुए ईश्वर पर पूर्ण विश्वास करता था।[1] भारत में आधुनिक युग में धार्मिक पुनर्जागरण हुआ। धर्म के प्रति भी वैज्ञानिक दृष्टिकोण बढ़ा। विवेकानन्द, अरविन्द जैसे धार्मिक नेता इसके लिए पहले से ही प्रयत्नशील थे। स्वयं अरविन्द अनुभव करते थे कि "हमारी सभ्यता हो गई अचलायतन, धर्म बाहर का कट्टरपन, अध्यात्मभाव हो गया है एक क्षीण आलोक अथवा उन्मादना की तरंग।"[2] भारत के सामान्य व्यक्ति ने आस्तिकता से तो मुख नहीं मोड़ा किन्तु धर्म को रूढ़ रूप में स्वीकार करने में अरुचि दिख-लाई। जैसे-जैसे वैज्ञानिक अध्ययन बढ़ता गया धार्मिक संकीर्णता क्षीणप्राण होने लगी।

---

1. In the pre-scientific world, power was Gods—judging by the anology of earthly monarchs, men decided that the thing most displeasing to the deity is a lack of humility If you wished to slip through life without disaster, you must be meak; you must be aware of your defencelessness and constantly ready to confess it

   The Impact of Science on Society—Bartrand Russell, Page 24-25

२. ७ अप्रैल, १९२० को लिखा हुआ वारीन्द्र के नाम अरविन्द का ऐतिहासिक पत्र, उत्तर योगी (शिवप्रसाद सिंह) से उद्धृत, पृष्ठ २३९

जब देश की सामाजिक, धार्मिक समस्याओं पर क्रमबद्ध रूप से अध्ययन प्रारंभ हुआ तो धार्मिक परम्पराओं और विश्वास को फिर धक्का लगा। समाजवादी तथा साम्यवादी विचारधारा ने हर समस्या का भौतिकवादी मूल्यांकन किया। समाज की बुराइयों को शाश्वत मानने की प्रवृत्ति खत्म हुई और साथ ही इस विचारधारा का प्रतिपादन हुआ कि दैवी सत्ता के समक्ष दीनता प्रदर्शन से मनुष्य की समस्याएं हल नहीं होंगी। समाज की गलत संरचना को इसका कारण माना गया और समस्याओं पर विचार वर्गों के आधार पर किया जाने लगा। भाग्यवाद, कर्मफल आदि बातों का समय लदने लगा और इन विचारों को पूंजीवादी वर्ग के प्रपंच की संज्ञा दे दी गई। इस मामले में नेहरू का नेतृत्व देश के लिए अत्यन्त लाभदायक रहा। उन्होंने प्रखर वैज्ञानिक दृष्टि से धार्मिक संकीर्णताओं और रूढ़ियों से अत्यन्त साहसिक टक्कर ली। वैज्ञानिक चिंतन ने जो भौतिकवादी दृष्टिकोण दिया धर्मनिरपेक्ष शासन उसकी चरम परिणति और शानदार उपलब्धि है।

विश्वबंधुत्व की ओर

भारत में राष्ट्रीयता की भावना का जागरण विश्वबन्धुत्व की ओर बढ़ने का पहला कदम था। जैसे-जैसे संसार सिमटकर छोटा हुआ, यह बात समझ में आने लगी कि आधुनिक विश्व की कोई भी समस्या सारी मानव जाति की समस्या है। दो विश्वयुद्धों ने यह पाठ बहुत ही अच्छी तरह पढ़ाया। भारतीय जनमानस, जो कि संकुचित विचारधारा के कारण अपने में सिमट गया था, इस बात को जरा देर में समझ पाया। जिस देश के लोग समुद्र को पार करने मे ही अपवित्रता के भय से आक्रान्त हो जाते थे, वहां उन व्यक्तियों के साहस की सचमुच तारीफ करनी होगी जो इन विचारों से जूझे थे। विवेकानन्द और अरविन्द जैसे संन्यासियों के विचारों ने अवश्य ही लोगों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया। इन्होंने पश्चिम की अदम्य शक्ति और अच्छाइयों की मुक्त कंठ से सराहना की। गांधीजी के अहिंसा का सिद्धान्त तो विश्व-बन्धुत्व का मूर्तिमान स्वरूप है। गांधीजी मानवमात्र से प्रेम करने के सिद्धान्त को मानते हुए रंग. जाति, वर्ण, धर्म और देश की संकीर्ण सीमाओं से उठकर मानव से प्रेम करने का उपदेश देते हैं। यही बात नेहरू के व्यक्तित्व में भी दिखलाई दी। सम्पूर्ण विश्व की समस्याओं के प्रति अत्यन्त सजग नेहरू भारत की उदारता के प्रतीक थे।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर और इकबाल जैसे कवियों में भी यह भावना अत्यन्त तीव्र रूप से दिखलाई पड़ती है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के काव्य की नींव ही मानवीय प्रेम और समानता पर रखी हुई है। समाजवादी और साम्यवादी आन्दोलन ने भी भारतीय मानस पर प्रभाव डाला। साम्यवादी विचारधारा राष्ट्रीयता से अधिक अन्तर्राष्ट्रीयता को महत्त्व देती है। भारतीय मजदूर वर्ग भी अपने को

ससार के मजदूर-आन्दोलन से जुडा हुआ महसूस करने लगा। भारत का स्वाधीनता आन्दोलन स्वयं शोषित वर्ग की शोषण के खिलाफ आवाज थी, अतः संसार के इस तरह के सभी आन्दोलनों और संघर्षो के प्रति न केवल उनकी सहानुभूति थी बल्कि वह अपने को उनके बराबर ही रखता था। इस आन्दोलन ने भारतीय लोगों को अपने घेरे से बाहर निकालकर ससार के अन्य जीवन-दर्शन और जीवन-पद्धति से जोड़ा। कुछ ही वर्षो में भारतीय जनता सम्पूर्ण विश्व-प्रगति के संदर्भ में अपने 'रोल' को महसूस करने लगी।

दो संस्कृतियों की ट्रेजेडी

प्राचीन काल से ही भारतवर्ष में न जाने कितनी जातियां आती रही हैं। उनमें से अधिकाश आक्रमणकारी के रूप में आईं किन्तु धीरे-धीरे वे सभी यहां के समाज के अग बन गई। पर भारत में मुसलमानों का आगमन केवल राजनैतिक नहीं था, वह सांस्कृतिक भी था। स्वाभाविक ही हिन्दू और मुसलमान एक लम्बे अर्से तक मिलकर एक नहीं हो सके। लेकिन जब इन दोनों समुदायों ने यह समझ लिया कि दोनों को यहां रहना है और दोनों के भाग्य एक-दूसरे से बंधे हुए हैं तब न केवल वे एक-दूसरे के पास आए बल्कि कला, साहित्य, भाषा, वेश-भूषा आदि में उनका आदान-प्रदान हुआ। यदि शासकों की नीति ही भड़काने वाली न होती तो निश्चय ही दोनों का आपसी प्रेम बढ़ता। पर यह बात स्पष्ट है कि ये संस्कृतियां एक-दूसरे पर बहुत प्रभाव डालने के बाद भी एक-दूसरे में घुल-मिल नहीं सकीं।[1] जब हिन्दू-मुसलमानों में, एक लम्बे समय तक निकट रहने के कारण, आपसी समझ पैदा हो गई थी तब आधुनिक युग में अंग्रेजी शासन ने भेद-भाव बढ़ाने वाली नीति से काम लिया। बंगाल को दो हिस्सों में बांटकर अंग्रेजों ने अलगाव की भावना का जहर फैलाया। वही जहर दो राष्ट्रों के सिद्धान्त और पाकिस्तान की मांग के रूप मे प्रकट हुआ। हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष न केवल राजनैतिक सीमा तक ही रहा वरन यह प्रचार भी किया जाने लगा कि भारत में धर्म के आधार पर हिन्दू राष्ट्र और मुस्लिम राष्ट्र नाम के दो राष्ट्र हैं। राजनैतिक हलचल के काल में धर्म और सस्कृति की व्याख्या संकुचित ढंग से की गई और दोनों ओर से भ्रमपूर्ण प्रचार किए गए। एक ओर जब अंतर्राष्ट्रीयता की भावना पनप रही थी तब दूसरी ओर फासिस्ट विचारधारा भी पनप रही थी। समकालीन यूरोपीय देशों में इटली और जर्मनी जैसे फासिस्ट देश नस्ल और जातीय उच्चता की तर्कहीन बातें कर रहे थे। आचार्य नरेन्द्रदेव का कथन है कि भारत के साम्प्रदायिक प्रचारकों पर यूरोप के फासिज्म का प्रभाव पड़ा और फासिस्ट देश, विशेषतः जर्मनी, उन्हें

१. शांति प्रसाद वर्मा, स्वाधीनता की चुनौती, पृष्ठ ५४

प्रोत्साहित करते रहे।[1]

घृणा और वैमनस्य के वातावरण में दो राष्ट्रों के खतरनाक सिद्धान्त का जन्म हुआ। कायदे आज़म जिन्ना साहब ने हिन्दुस्तान के दो राष्ट्रों के होने की घोषणा कर दी। दूसरी ओर राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ उसी तरह हिन्दू राष्ट्र की बातें कर रहा था। अपनी-अपनी संस्कृति को ही उच्च मानने की भावना ने हिन्दू और मुसलमान दोनों मे ही संशय और विद्वेष को जन्म दिया। दोनों ओर के साम्प्रादायिक नेता यह भूल गए कि राष्ट्रीय एकता का आधार धर्म अथवा जाति नही है वरन् मातृभूमि है। गाधीजी ने लोकतन्त्र के सिद्धान्त और मानवीयता के आधार पर अथक प्रयास किया कि हिन्दू और मुसलमान-बैर न उभरे किन्तु उसके बाद भी जगह-जगह कई बार दंगे हुए और धार्मिक जोश में मानवीयता को बिलकुल भुला दिया गया। भारत को स्वाधीनता भी दो राष्ट्रों के रूप में हिन्दू-मुस्लिम दंगों से उत्पन्न भीषण रक्तपात के वातावरण मे प्राप्त हुई। आज भी यह समस्या सुलझी नहीं है और दोनों वर्गो में ही संशय की भावना विद्यमान है।

मोहभंग की स्थिति

स्वाधीनता की प्राप्ति को भारतीय समाज ने सुखी जीवन का सुनहरा द्वार समझा था किन्तु यह एक कटु यथार्थ है कि स्वाधीनता के बाद का समय भारतीय जन के लिए मोहभंग का काल रहा है। गांधीजी के आदर्शो को सामने रखकर राजनीतिज्ञों ने जनता को आश्वस्त किया कि देश की शीघ्र ही उन्नति होगी। चतुर्मुखी विकास के लिए तथा आत्मनिर्भर होने के लिए योजनाबद्ध तरीके से औद्योगीकरण प्रारम्भ किया गया। इससे देश को नया स्वरूप प्राप्त हुआ और उन्नति के लक्षण भी दिखलाई दिए। नवीन उद्योगों के माध्यम से भारत आधुनिक संसार से जुड़ा तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत का नाम ऊंचा उठा। किन्तु शीघ्र ही देश के नेताओं की अदूरदर्शिता और मतलबपरस्ती सामने आने लगी। हर कुर्सी का प्रयोग अपने स्वार्थ के लिए किया जाने लगा। यह कल्पना की गई थी कि देश की उन्नति का लाभ आम आदमी को मिल सकेगा किन्तु इसके विपरीत दिन-प्रतिदिन पैसे वालों की तरक्की होती गई और देश पूजीवाद के गर्त में डूबता गया। राजनीति के क्षेत्र में स्वार्थी लोगों ने प्रवेश किया। सस्ती नेतागीरी के कारण भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद तथा बेईमानी को बढ़ावा मिला।

आन्तरिक विसंगतियों और अव्यवस्था से देश की आर्थिक दशा तो बिगड़ी

---

१. आचार्य नरेन्द्रदेव, राष्ट्रीयता और समाजवाद, पृष्ठ १२६

ही—व्यापक असंतोष भी फैला। देश की बिगड़ती हालत को पड़ोसी देश चीन के आक्रमण ने और भी बुरा कर दिया। दिन-प्रतिदिन रिश्वतखोरी, भ्रष्टाचार और मंहगाई बढ़ती गई। नेताओं का कार्य केवल इतना रह गया कि देश की दुर्दशा का दायित्व विरोधियों पर थोप दें तथा अपने पद की रक्षा कर लें। बेरोजगारी तथा दिशाहीनता के कारण देश की युवाशक्ति कुंठित होती गई और धीरे-धीरे उसी रंग में रंगती गई जिसमें समाज का उच्च वर्ग रंगा हुआ है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय समृद्ध और स्वच्छ समाज के जो स्वप्न देश की जनता ने देखे थे वे पूरी तरह नष्ट हो गए। जोड़-तोड़ करने वाला वर्ग ही सुखी जीवन बिताने लगा और साधनहीन तथा ईमानदार वर्ग निराशा के अंधेरे मे डूबने लगा।

भगवतीचरण वर्मा ने उपन्यासों में भारत के आधुनिक युग को समग्रता से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। स्वाधीनता-आन्दोलन का जैसा विशद चित्रण भगवती बाबू के उपन्यास-साहित्य मे प्राप्त है वैसा हिन्दी साहित्य में अन्यत्र प्राप्त नहीं है। भारत की उद्‌बुद्ध होती हुई राजनैतिक चेतना की समग्र झांकी 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' में प्राप्त होती है। पराधीन भारत की स्वाधीन होने की प्रबल इच्छा का चित्रण 'सीधी-सच्ची बातें' मे हुआ है। भगवती बाबू के उपन्यासों में विभिन्न राजनैतिक विचारधाराओं के टकराव का चित्रण बड़े प्रभावशाली ढंग से हुआ है। 'सीधी-सच्ची बाते' में इन विचारधाराओं के आपसी टकराव के साथ ही भारत की स्वाधीनता-प्राप्ति तक की हलचलों को विस्तार से व्यक्त किया गया है।

स्वतंत्र भारत की मोहभंग की स्थिति का चित्रण उनके दो परवर्ती उपन्यासों—'सबहिं नचावत राम गुसाई' तथा 'प्रश्न और मरीचिका' में हुआ है। 'सबहिं नचावत राम गुसाईं' तो देश मे पनपते पूजीवाद का कच्चा चिट्ठा ही है। अत्यन्त सशक्त ढंग से भगवती बाबू इस उपन्यास मे देश की खोखली होती हुई अर्थ-व्यवस्था को प्रस्तुत कर सके हैं। उनकी नवीनतम कृति 'प्रश्न और मरीचिका' राजनैतिक खोखलेपन को सामने रखती है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि भगवती बाबू के उपन्यास भारत के आधुनिक युग के दर्पण हैं। उनमें बीसवीं शताब्दी के भारत की राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक गतिविधियां स्पष्ट हो सकी हैं। इस दिशा में उनकी सजगता विस्मयकारी है। डॉ० धर्मवीर भारती ने उनकी इस विशेषता पर लिखा है, "भगवतीचरण वर्मा, मेरी दृष्टि में, हिन्दी के अकेले कथा-कार हैं जिन्होंने—अपने उपन्यासों के माध्यम से इस पूरी शताब्दी में भारतीय सामाजिक ढांचे के बाहरी और अंदरूनी ठहरावों और बदलावों का एक क्रमबद्ध चित्रण किया है, और न केवल सामाजिक और पारिवारिक टूटते-बनते सम्बन्धों का सजीव चित्रण किया है तथा आन्तरिक भावनात्मक धरातल की उथल-पुथल खूबी से आंकी है, वरन् बाहरी तथाकथित ऐतिहासिक घटनाओं के फ्रेम को भी

उतनी ही खूबी से निभाते चले गए हैं। यह तो कमजोरी हमारी वर्तमान हिन्दी समीक्षा की है कि जो अपने ओछे आग्रहों या दम्भी शास्त्रीयता या झूठी सैद्धांतिकता की ओट में अपने खोखलेपन को छिपाने में ही जी-जान से लगी हुई है, वरना किसी और भाषा में यदि 'भूले बिसरे चित्र', 'सीधी सच्ची बातें' और प्रश्न और मरीचिका'—यह उपन्यासत्रयी प्रकाशित होती तो भगवती बाबू की इस असाध्य, अर्थवान कथोपलब्धि का महत्त्व पहचाना जाता।"[1]

१. अर्पित मेरी भावना, संपादक—धर्मवीर भारती, श्रीलाल शुक्ल, सुरेन्द्र तिवारी;
'एक प्रश्न-यात्रा' से उद्धृत

अध्याय ३

सर्जन-सामर्थ्य के विविध आयाम

हिन्दी के उपन्यासकारों में भगवतीचरण वर्मा का स्थान अत्यन्त ऊंचा है। अब तक उनके तेरह उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं और अभी भी वे सृजनरत हैं। भगवती बाबू की प्रतिभा चहुंमुखी रही है। उपन्यासकार के रूप में प्रसिद्ध होने के पूर्व वे कवि और नाटककार के रूप में ख्यात हो चुके थे। साथ ही अपने विचारों की अभिव्यक्ति वे लेखों द्वारा भी करते रहे हैं। किसी भी साहित्यकार को अच्छी तरह समझने के लिये यह आवश्यक है कि उसके पूर्ण कृतित्व का अध्ययन किया जाय। उनके उपन्यास साहित्य पर अगले अध्याय में विस्तार से चर्चा की गई है, यहां उनकी अन्य विधाओं पर चर्चा की जा रही है।

काव्य

सभ्यता और संस्कृति के जिस संक्रांतिकाल में भगवतीचरण वर्मा ने अपना साहित्यिक जीवन प्रारम्भ किया था उस समय किसी भी सृजनशील व्यक्तित्व का कविता से बच निकलना असंभव-सा था। एक संवेदनशील मन पर उस हल-चल से भरे युग में इतने प्रभाव पड़ते रहे होंगे जिन्हें गद्य में ही बांधना कठिन रहा होगा। वर्माजी अपने को मूलतः उपन्यासकार मानते हैं[1] पर साहित्य के क्षेत्र में, अधिकांश लेखकों की तरह, वे भी काव्य के माध्यम से आए थे। अपने साहित्यिक कृतित्व के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए वे यहां तक कह देते हैं कि कविता को तो कभी भी वस्त्र की तरह उतारा जा सकता है। किन्तु कविता से न केवल उनके साहित्यिक

---

१. डॉ० नगेन्द्र : विचार और विश्लेषण, पृष्ठ १६७

जीवन का अथ हुआ बल्कि कभी-कभी उन्होंने कविता को अपनी एक प्रवृत्ति भी महसूस किया। उनकी स्वीकारोक्ति—"कविता एक प्रवृत्ति है, तबियत नहीं मानती थी तो जब-तब मैं लिख लेता था"[१]—उन्हें स्वभावतः कवि सिद्ध करती है। काव्य के क्षेत्र से गद्य के क्षेत्र में प्रवेश कर तथा स्थापित होने के बाद भी मित्रों के आग्रह पर उन्होंने कविताएं लिखीं।[२] वर्माजी ने छायावाद से लेकर आधुनिक काल तक का समय देखा है इसलिए उनके काव्य में लम्बे समय के उतार-चढ़ाव की झलक दिखलाई पड़ती है। उनके विचार एवं जीवन-दर्शन की सहज अभिव्यक्ति उनके काव्य में प्राप्त होती है। यहां उनके प्रत्येक कविता-संग्रह पर विचार किया जा रहा है।

मधुकण

'मधुकण' भगवती बाबू का पहला काव्य-संग्रह है जो १९३२ में प्रकाशित हुआ। मधुकण की कविताओं पर छायावादी प्रभाव है। प्रेम की पीड़ा, तृष्णा-जन्य आकांक्षाएं तथा सृष्टि की अनित्यता कविताओं के प्रमुख विषय हैं। 'मेरी प्यास' और 'आत्म-समर्पण' में रूप के उपभोग की तीव्र लालसा है। इन कविताओं में भगवती बाबू का नियतिवादी तथा व्यक्तिवादी स्वर स्थान-स्थान पर उभरा है। अपने भौतिकतावादी दृष्टिकोण के उपरान्त कवि सृष्टि की अनित्यता और अदृश्य के आगे मानवीय शक्ति की असमर्थता को भूल नही पाता :

"और मद से इठलाती चाल।
किन्तु है क्षणिक क्षीण आवेश—
प्रबल है प्रबल भयानक काल।" (क्रय-विक्रय)
"थी प्रातः की अरुण उषा में अंधकार की रेखा।
काल चक्र की महाप्रलय में बस इतना ही देखा।"
(कसक कहानी)

कविताओं में अवसाद की प्रधानता दिखलाई पड़ती है और कवि नियति की डोरी पकड़कर कर्म-कूप में कूद पड़ने की अपेक्षा मस्ती में डूबकर आंखें बन्द करने में हर्ज नहीं समझता।

'नूरजहां की कब्र पर' लम्बी कविता है और इस संकलन की सबसे सफल रचना कही जा सकती है। हिन्दी की किसी भी सफल लम्बी रचना के समकक्ष इसे रखा जा सकता है। जीवन के समस्त उत्थान-पतन की नियतिवादी व्याख्या कवि इन शब्दों में करता है—

"दास हो अथवा हो सम्राट
विश्व भर की स्वामिनी है भ्रांति,

१. भगवतीचरण वर्मा, रंगों से मोह (प्रस्तावना), पृष्ठ ४
२. वही, पृष्ठ ४

परिस्थितियों का है यह चक्र
जिसे हम सब कहते हैं क्राति।''

'तारा' इस संकलन का गीति-एकांकी है, जिसमे तारा और चन्द्रमा के माध्यम से कवि पाप-पुण्य, प्रेम और तृष्णा के सम्बन्ध में विचार करता है। प्राचीन पौराणिक कहानी को कवि तोड़ता-मरोड़ता नहीं है। कथा की परिणति भी पौराणिक मान्यता के अनुकूल है पर पाप-पुण्य तथा प्रेम और चरित्र के सम्बन्ध में कवि अपनी व्यक्तिवादी विचारधारा का संकेत करता है:

''पाप ! कौन कह सकता इसको पाप है ?
कहो पाप की परिभाषा क्या एक है ?
और तर्क ही क्या सब का आधार है ?''

कविताओं के शिल्प की तुलना पंत की कविताओं से की जा सकती है—विशेष कर 'संसार' नामक लम्बी रचना पंत की 'परिवर्तन' के अत्यन्त निकट बैठती है। इसी श्रेणी मे 'नव वधू के प्रति' कविता भी रखी जा सकती है।

प्रेम-संगीत

१९३९ में प्रकाशित प्रेम-संगीत वर्माजी का द्वितीय कविता-संकलन है। जैसा कि संकलन का शीर्षक इंगित करता है इसमें सभी रचनाएं श्रृंगार रस की है। प्रेम के भौतिक पक्ष के प्रति आसक्ति और उसे भोगने की आकांक्षा इस काव्य का प्रमुख स्वर है—

''यौवन की इस मधुशाला में
है प्यालों का ही स्थान प्रिये।
फिर किसका भय ? उन्मत्त बनो
है प्यास यहां वरदान प्रिये।

उपालम्भ की कुछ सुन्दर कविताएं इस संकलन में है।

कविताओं पर कभी-कभी बच्चन का प्रभाव महसूस होता है—भाषा और भाव दोनों ही दृष्टि से। किन्तु भगवती बाबू का फक्कड़पन और उनकी मस्ती हर स्थान पर झलकती है। उनकी प्रसिद्ध रचना 'हम दीवानों की क्या हस्ती' इसी संकलन में है।

मानव

इस संकलन का प्रकाशन १९४० में हुआ। मानव-समाज पर कवि के दृष्टिपात और उसकी प्रतिक्रियास्वरूप ये कविताएं सामने आई हैं। छायावादी चिंतन से बाहर आने की कवि की छटपटाहट इस काव्य संकलन में देखी जा सकती है। कुछ कविताओं पर अवश्य छायावादी चिंतन और शिल्प की झलक है किन्तु मूल

स्वर छायावादी सौन्दर्य-चिन्तन से विद्रोह का ही है। 'कवि का विशद ज्ञान' रचना छायावादी काव्यधारा और कवि पर स्पष्ट व्यंग्य है। 'कवि का स्वप्न' और 'एक रात' कविताओं पर छायावादी भावधारा की पकड़ है। इस तरह की पकड़ के आभास के बाद भी इस संकलन में कवि कल्पना के क्षेत्र से हटकर ठोस एव कुरूप यथार्थ पर स्थापित होने की चेष्टा करता है। आक्रोश और व्यग्य का तीखापन अधिकांश कविताओं में उभरा है।

'जीवन-दर्शन' मे समाज में व्याप्त विषमता पर कवि की दृष्टि केन्द्रित होती हुई दिखलाई पडती है। 'विषमता', 'भैसागाड़ी', 'ट्राम' जैसी कविताओं मे कवि का विशुद्ध प्रगतिवादी रूप उभरकर आता है। 'राजा साहब का वायुयान' विशुद्ध व्यंग्य-रचना है। संकलन की सबसे लम्बी रचना 'विस्मृति के फूल' का शिल्प छायावादी है किन्तु कथ्य में प्रगतिवादी तत्त्व विद्यमान है। इस कविता के पहले भाग में कवि अपने जीवन के खोए हुए प्यार की याद करता है और दूसरे भाग में व्यष्टि से ध्यान हटाकर समष्टि की ओर उन्मुख होता है। सारे प्रगतिवादी स्वरों के बीच भी कवि अपनी हीनता कभी भूल नही पाता। वह स्वीकार करता है कि मनुष्य की शक्ति अदृश्य की शक्ति के आगे बौनी है :

'कितना नीचा मेरा मस्तक
कितना ऊंचा है आसमान।"

एक दिन

'एक दिन' भगवती बाबू की मुक्त छंद की कविताओं और विचार-प्रधान ललित गद्य का संकलन है। 'एक दिन' की सृजन प्रक्रिया से संबंधित घटना काफी प्रसिद्ध है अतः उसे दोहराना व्यर्थ है। संकलन की भूमिका से ही आभास हो जाता है कि वर्माजी ने काफी 'लाइट मूड' में ये रचनाएं लिखी हैं। वर्माजी आधुनिक कविता के प्रति विशेष सम्मान नहीं रखते और मुक्त छंद के प्रति तो बिलकुल ही नहीं। वस्तुतः ये कविताएं जैसे चैलेंज करने के लिए लिखी गई हैं—कि देखो हम भी लिख सकते है। अधिकांश कविताएं बदलते हुए सामाजिक परिवेश पर हैं और उनमें व्यंग्य का स्वर प्रधान है। कविताओं के शिल्प पर निराला का प्रभाव परि-लक्षित होता है। इस संदर्भ में नीचे की पंक्तियां द्रष्टव्य हैं :

श्रांत।
संध्या विवर्ण, जीर्ण-शीर्ण दिग-दिगंत
वनस्थली धूमिल,
तरुणी के दृग स्वप्निल,
विहगावली तंद्रिल।

संकलन के ललित गद्य अपेक्षाकृत सुन्दर और गंभीर हैं। इनमें कवि के आत्म-

चिंतन तथा उसकी आध्यात्मिक जिज्ञासाओं का समन्वय है। 'चित्रलेखा' की तरह पाप-पुण्य पर कवि ने व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से विचार किया है :

"भ्रमर और कली, ये निमित्त-मात्र हैं। जीवन विषमताओं का समूह है---और उन विषमताओं को उत्पन्न करने का श्रेय तुम्हें ही है मेरे देवता। फिर पाप-पुण्य, भला-बुरा यह सब क्यों ? मानव को निर्बल बनाकर—उसे भावनाओं और कमजोरियों का पुतला गढ़कर तुम उससे चाहते क्या हो !"[१]

बूद और सरिता के रूपक के माध्यम से कवि व्यक्ति की सत्ता और उसके अहम् को ईश्वर से भी ऊचा स्थान दे देता है।

"हे मेरे स्वामी ! तुम सरिता हो और हम सब नन्हीं-नन्हीं बूंदे हैं।

तुम्हारा अस्तित्व तभी तक है, जब तक हमारा है, इसे भूल मत जाना।

अपने अधिकार की गुरुता में भूले हुए हे मेरे परमात्मा !अपने अधिकारों को सोचो-समझो।"[२]

त्रिपथगा

१९५६ में प्रकाशित होने वाले संग्रह 'त्रिपथगा' में भगवती बाबू के तीन रेडियो रूपक सगृहीत हैं। 'महाकाल' सृष्टि में मानव की स्थिति पर विचार करने वाला प्रतीकात्मक रूपक है, शेष दो 'कर्ण' और 'द्रौपदी' महाभारत की कथाओं पर आधारित है। लेखक ने प्रस्तावना में ही स्वीकार किया है कि इन रूपकों में सांस्कृतिक पहलू अवश्य विद्यमान है। किन्तु घटनाओं के चित्रण में वैज्ञानिक दृष्टिकोण कवि ने अपनाया है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से कवि का तात्पर्य है, घटनाओं के दैवी पक्ष को यथार्थवादी तथा व्यावहारिक दृष्टि से देखना। यह बात कर्ण और द्रौपदी रूपकों पर अधिक लागू होती है।

'कर्ण' में कवि ने कर्ण के मनोविज्ञान को ही प्रमुख रूप से सामने रखा है। कर्ण के अंदर उफनती हुई तीव्र घृणा एवं बदले की भावना को कवि स्वाभाविक मानता है। इस काव्य रूपक में मानव की महानता पर कवि की आस्था दिखलाई पड़ती है अन्यथा भगवती बाबू अपनी कृतियों में मानव की महानता के प्रति शंकालु अधिक दिखलाई पड़ते हैं। कर्ण इन्द्र के देवत्व की भर्त्सना इन शब्दों में करता है :

> लो अपना अमरत्व, न मुझको चाहिए
> मैं मानव हूं शिवि, दधीची के वंश का।

महाकाल मे कवि मानव की सीमाओं और अक्षमताओं पर प्रकाश डालता है। भगवती बाबू के व्यक्तित्व में विकसित होने वाले नियतिवादी दृष्टिकोण का

१. एक दिन, पृष्ठ ८८

२. वही, पृष्ठ ९८

प्रारम्भिक स्वर महाकाल में स्पष्टतः प्रतिध्वनित होता है। चेतना एवं शक्ति, जो सृष्टि के आदिस्रोत है, महाकाल के अधीन हैं। मनुष्य अपनी सामर्थ्य का कितना ही गर्व क्यों न करे पर अंत में महाकाल का यह स्वर ही शाश्वत सत्य है :

"……बस केवल मैं ही स्थिर हूं
मेरी निष्क्रियता के स्पंदन हैं भ्रांति ज्ञान।
चेतने, पराजित हो और अति थकित हो तुम
मुझमें लय हो जाओ, बस यह मेरा विधान।"

'द्रौपदी' में कवि द्रौपदी की विडंबनापूर्ण स्थिति का विश्लेषण करता है। वह मानता है कि द्रौपदी के जन्म के पीछे ही घृणा काम कर रही थी। द्रौपदी का स्वयंवर भी राजा द्रुपद की प्रतिशोध लेने की भावना के लिए एक माध्यम-भर था। वे एक ऐसे अद्भुत योद्धा को अपना दामाद बनाना चाहते थे जो कुरुवंश से उनके अपमान का बदला ले सके। द्रौपदी का स्वयंवर उसके ही शब्दों में इस तरह था :

"मैं ही वह स्वयंवरा जिसके विक्रय को ही
पूज्य पिता मेरे ने रचा एक महापर्व।"

सम्पूर्ण रूपक मे कवि ने पात्रो की मानसिकता की उद्भावना बड़े सफल ढंग से की है। द्रौपदी एक सामान्य नारी को तरह स्वाभाविक लगती है—किसी पौराणिक देवी की तरह नहीं। कवि का निष्कर्ष यह है कि चाहे कितनी ही उथल-पुथल, युद्ध-क्रांति क्यों न हो पर इस तरह की घटनाओं को कोई रोक नहीं सकता। यह सब इसलिए होता है क्योंकि इसे होना ही है। मनुष्य तो मात्र एक माध्यम है। रूपक के अंत में द्रौपदी और अर्जुन की जिज्ञासाओं का उत्तर धर्मराज इन शब्दों में देते हैं :

"धरती से जनमा धरती में मिटने वाला
मानव कब सक्षम है, मानव है कब महान।"

रंगों से मोह

१९६८ में प्रकाशित इस संकलन में वर्माजी की अपेक्षाकृत प्रौढ़ रचनाएं दिखलाई पड़ती है। उनका नियतिवादी चिंतन स्पष्ट आकार में यहां उद्भासित होता है। अधिकांश रचनाओं में मानव की विवशता और नियति की निरकुशता की स्वीकारोक्ति है। चिंतन—जिसमें छायावादी निराशा और जिज्ञासा विद्यमान है—में यह स्वर इस रूप में है :

"पर फिर भी मैं हूं विजित विवश
अपनी सीमा के लिए शाप,
मैं पूछ रहा हूं, 'अरे कौन
वह शक्ति जोकि मेरे ऊपर ?"

इसी विचार को व्यक्त करनेवाली अन्य रचनाओं की पंक्तियां भी द्रष्टव्य है :

"एक यंत्र सा, जोकि नियति के
हाथों से संचालित होता
कुछ ऐसा अस्तित्व हमारा
दोस्त हमारा काम न पूछो (चहल-पहल की इस नगरी में)
यह मानव वैसा ही भोला, वैसा ही कमजोर है
और नियति की अनजानी-सी वैसी कठिन हिलोर है।
(दोस्त एक भी नहीं जहां पर)
जिसको देखा यहां नियति की गति में वह गतिमान है।
(सीमाओं से मोह)

'रंगों से मोह' इस संकलन की सर्वश्रेष्ठ रचना है। इस कविता में जीवन की सहजता और सौन्दर्य के प्रति कवि की अनुरक्ति झलकती है। 'उलटी-सीधी' व्यंग्य-प्रधान रचना है किन्तु वर्माजी की मस्त मौला तबियत उसके व्यंग्य के तीखेपन में बाधक साबित हुई। विचारों की संप्रेष्यता पर तबियत की रंगीनी के हावी हो जाने के कारण वह मनोरंजन-प्रधान रचना अधिक लगती है। इसी क्रम में नजर तुम्हारी जाली है, देखो-सोचो-समझो, मान-मनौता, वर्माजी ने खाए आम, वर्माजी ने मारी लात—रचनाएं रखी जा सकती हैं। इन रचनाओं में युगीन संदर्भ भी अपनी कुरूप यथार्थता में रह-रहकर परिलक्षित होते है किन्तु सभीमें कवि की मस्ती का स्वर प्रमुख हो उठा है।

कहानी

हिन्दी कथा-साहित्य जब आकार धारण करने लगा था तब भगवती बाबू ने कहानियां लिखना प्रारम्भ किया था। अपनी कहानियों के द्वारा उन्होंने हिन्दी कहानी को शक्ति और गति प्रदान की। उनकी कहानियां पूर्णतः सामाजिक पृष्ठ-भूमि पर लिखी गई हैं। जहां कथ्य में उन्होंने पैनेपन पर जोर दिया है वहीं शिल्प में वे पाठकीय चेतना की संतुष्टि की बात नहीं भूले। इसलिए उनकी हर कहानी 'रोचक' है। यह माना जा सकता है कि उनकी हर कहानी गहरी नहीं है किन्तु उनकी हर कहानी मन को बांधने मे सक्षम है। रमेश बक्षी के शब्दों में "श्री भगवतीचरण वर्मा की कहानियां औत्सुक्य की दृष्टि से 'कम्प्लीट' होती हैं। इंस्टालमेण्ट, विक्टोरिया क्रास, प्रायश्चित, दो बांके आदि छोटी-छोटी ट्रिक कहानियां हैं जिनमें चरम सीमा पर सारा औत्सुक्य केन्द्रित हो जाता है—और

हमारी पूर्व कल्पना शॉक देकर अप्रत्याशित अंत से कहानी को विशेष रोचक बना देती हैं।"[१]

जीवन के विविध रूपों को उन्होंने अपनी कहानियों का विषय बनाया है। उनकी कहानियो का विश्लेषण डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल ने इन शब्दों में किया है, "इनकी कहानियों के व्यापक शिल्प-विधान में दो रूप पूर्णत: स्पष्ट हैं, प्रथम इनकी कहानियां चरित्र-प्रधान हैं, फलत: यह रेखा-चित्र के समीप हैं; जैसे, दो पहलू, विवशता, पराजय और मृत्यु, प्रेजेण्ट्स और इंस्टालमेण्ट, द्वितीय इनकी कहानियां बौद्धिक विचारों और समस्याओं को लेकर लिखी गई हैं, फलत: शैली विधान में ये व्यक्तिगत निबन्ध हो गई हैं; जैसे, दो बांके, पराजय और मृत्यु, कायरता और प्रायश्चित्त आदि।"[२]

इंस्टालमेंट

'इंस्टालमेट' भगवती बाबू का पहला कहानी संग्रह है। इनकी कहानियों को पढकर लगता है कि कहानी कहना ही लेखक का उद्देश्य है। किसी होटल में या किसी मित्र की बैठक मे कोई व्यक्ति कहानी कहना प्रारम्भ कर देता है—कई कहानियो में यही तरीका अपनाया गया है। कुछ कहानियां-घटना प्रधान है। प्रेजेण्ट्स, वर्ना हम भी आदमी थे काम के, कुंवर साहब मर गए, एक अनुभव, एक विचित्र चक्कर है, परिचयहीन यात्री, इस्टालमेण्ट—ऐसी ही कहानियां है। भगवती बाबू का किस्सागो-स्वरूप इन कहानियों में सामने आता है। लेखक मौज में है और उसकी कहानियों के पात्र भी मौज मे हैं—कुछ इस तरह की प्रतिक्रिया इन कहानियों को पढकर होती है ! हां, भगवती बाबू के अन्दर एक पैनी दृष्टि वाला व्यंग्यकार विद्यमान है जो इन कहानियों के पीछे से जीवन की विसंगतियों पर, मौज में ही सही, मुस्कुराता रहता है।

इस संग्रह में उनकी विक्टोरिया क्रास, मुगलों ने सल्तनत बख्श दी, प्रायश्चित्त जैसी प्रसिद्ध कहानियां भी संकलित है। यूं तो विक्टोरिया क्रास भी एक संयोग-प्रधान कहानी है। न केवल संयोग-प्रधान बल्कि कामिक की तरह गुदगुदाने वाली। किन्तु इसके उपरान्त भी वह उस विचारधारा के कारण महत्त्वपूर्ण है जिसे लेखक इस कहानी के माध्यम से सामने रखना चाहता है। लेखक मानता है कि जीवन में न जाने कितनी शक्तियां काम करती रहती हैं। जहां विभिन्न कार्यों के कारणों की शृंखला समझ में आ जाती है वहीं कुछ बातें ऐसी भी घटित होती हैं जिन्हें लेखक 'धुप्पल' कहता है। कई बार वीरता के कार्य भी मात्र संयोगवश हो जाते हैं और कोई व्यक्ति महान वीर के रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। इस बात को

१. रमेश बक्षी, कहानी मे औत्सुक्य का अनुतत्व, पृष्ठ ७१
२. डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल, हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास, पृष्ठ २८४

सिद्ध करके विक्टोरिया क्रास में लेखक अपने प्रारब्धवादी विचारों की पुष्टि करता है।

मुगलों ने सल्तनत बख्श दी ऊपरी तौर पर हीरोजी की उड़नछू महसूस होती है। वस्तुतः हल्की-फुल्की शैली में विद्यमान सूक्ष्म व्यंग्य को प्रबुद्ध पाठक ही पकड़ सकता है। 'प्रायश्चित' भगवती बाबू की अत्यन्त प्रसिद्ध व्यग्य-रचना है। यदि लेखक ने उसके अन्त को मनोरजक बनाने का लोभ संवरण कर लिया होता तो रचना की शक्ति निश्चय ही बढ जाती।

अर्थ-पिशाच, बेकारी का अभिशाप, बाय ! एक पेग और—कहानियां आधुनिक सभ्यता की अर्थ-लिप्सा का चित्रण करती हैं। भगवती बाबू के नाटकों और उपन्यासों मे भी आधुनिक वणिक् सभ्यता के प्रति असंतोष व्यक्त किया गया है। यह आक्रोश इन कहानियों में कहीं-कहीं सतही लगता है। इसमें अर्थ-लोलुप युग की क्रूरता की चर्चा अधिक है, उसे महसूस कराने की क्षमता कम है। उन्हें पढ़कर यूं आभास होता है, जैसे फल को पूर्ण विकसित होने के पहले जल्दी में पका दिया गया है।

दो बांके

डॉ० अष्टभुज पाण्डेय के अनुसार, "वर्माजी के कथानक सरस, एकोन्मुख, क्षिप्र और यथार्थ होते हैं।"[1] उक्त कथन की सत्यता दो बाके संकलन से सिद्ध होती है। इस संकलन की विशेषता इसकी छोटी-छोटी किन्तु तीव्र भाव-बोध की कहानियां हैं। ये कहानियां साफगोई की कहानियां है।

इस सकलन की छोटी-छोटी कहानियां, जो जीवन-मूल्यों के प्रश्नों को बड़े तीखे रूप मे सामने रखती है, वास्तव में हिन्दी कथा-साहित्य की निधियां हैं। 'दो पहलू' छोटी-सी कहानी है किन्तु मानव जीवन के दो चित्रों को प्रस्तुत करके लेखक जीवन की सार्थकता का तीखा प्रश्न उठाता है। इसी तरह 'काश, कि मैं कह सकता' का प्रश्न है, 'किसने शरीर बेचा—किसने आत्मा बेची—और क्यों ?' 'विवशता' और 'नाजिर मुंशी' बड़ी सशक्त रचनाएं हैं। विशेषकर 'नाजिर मुंशी' में बड़ी गहराई और मार्मिकता है। बदलते संदर्भो में घिसते हुए मानवीय रिश्तों और आदमी के सहज व्यक्तित्व के टूटने की ट्रेजेडी यह कहानी बड़ी खूबी से प्रस्तुत करती है। सम्पूर्ण युग की भोथरी होती हुई मानवीय सहजता और मरती हुई आत्मा का प्रतिनिधित्व नाजिर मुंशी कहानी करती है।

कुछ कहानियां 'लाइट मूड' की हैं। वास्तव में भगवती बाबू साहित्य के रंजनकारी पक्ष के प्रति काफी सचेत हैं अतः प्रहसन और लतीफेनुमा कहानियां भी

---

१. डॉ० अष्टभुज पाण्डेय, हिन्दी कहानी, शिल्प इतिहास, पृष्ठ १२४

उन्होने लिखी हैं। उनकी ऐसी कहानियां सफल और सुरुचिपूर्ण हास्य का उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। तिजारत का नया तरीका, अनशन, लाला तिकड़मी लाल, ऐसी ही कहानियां है। किन्तु जिन कहानियों में व्यंग्य उभरा है वे अत्यन्त सशक्त रचनाएं बन गई है। ऐसी कहानियों में रजनकारी तत्त्व तथा वजन दोनों ही विद्यमान है। इस कोटि मे 'कुंवर साहब का कुत्ता' और 'दो बांके' कहानियां रखी जा सकती हैं। दो बांके तो अपने कथ्य और शैली की ताजगी के कारण हिन्दी की अत्यन्त सफल और प्रसिद्ध कहानियों मे से है।

इन कहानियों की चुस्त भाषा और कसा हुआ शिल्प अपने-आपमें उदाहरण हैं। एक-एक शब्द अपनी जगह जड़ा हुआ लगता है और अपने अंदर के सारे अर्थ और रस को उजागर कर देता है। भाषा में विद्यमान व्यंग्य में कितनी अर्थवत्ता और सार्थकता हो सकती है इसका प्रमाण इन कहानियों की भाषा है। इन कहानियों को पढकर चेखव और मंटो की याद सहज ही आ जाती है। 'कुंवर साहब का कुत्ता' की उद्धृत पक्तियां देखने लायक हैं :

"गधा तो गधा ! अलसेशियन को उसका यह व्यवहार तनिक भी अच्छा नही लगा। यह कुंवर साहब का कुत्ता था, जर्मनी से आया था। अहिंसा पर उसे रत्तीभर भी विश्वास न था। साथ ही अपने अधिकार का उसे गर्व था। गधे के इस अहिंसात्मक सत्याग्रह का प्रभाव उस अलसेशियन पर ऐसा ही पड़ा जैसा कांग्रेस वालेण्टियर के बैठ जाने का प्रभाव लाठी-चार्ज के लिए तैयार पुलिस वाले पर पड़ता। उसने गधे पर धावा बोल दिया।"

राख और चिनगारी

'राख और चिनगारी' कहानी-संग्रह पूंजीवादी युग में अर्थ के कसते हुए पंजों में सिसकती मानवीय मजबूरियों का संसार प्रस्तुत करता है। इस संकलन में 'राख और चिनगारी', 'वह फिर नहीं आई' 'आवारे' और 'खिलावन का नरक' सशक्त रचनाएं हैं। राख और चिनगारी आर्थिक समस्याओं में घुटते हुए आदमी की बात कहती तो जरूर है पर कहानी का लहजा रोमांटिक हो गया है। वह फिर नहीं आई कहानी के प्लाट पर लेखक ने बाद में एक लघु उपन्यास भी लिखा है किन्तु कहानी उपन्यास से अधिक सशक्त है। पात्रों की विवशता और घुटन की कहानी में अच्छा उभार मिला है। 'खिलावन का नरक' कहानी मानवीय रिश्तों के आर्थिक पहलू को सामने रखती है। पैसा रिश्तों के टांकों को किस तरह तोड़ देता है इसे कहानी में प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

संकलन को सर्वश्रेष्ठ कहानी 'आवारे' है जिसमें कुछ बेकार नवयुवक परिस्थितियों से जूझते हुए एक साथ रहते हैं। यद्यपि उनमें से कोई भी नितांत मजबूर नही है और न ही उनके जीवन के कोई महान उद्देश्य है किन्तु वे सभी

स्वाभिमानी है और अपने-अपने मोर्चों पर जूझ रहे हैं। सभीको जीवन के अद्‌भुत अनुभव धीरे-धीरे प्राप्त हो रहे हैं। अपने से कहीं अधिक कड़ुवे दूसरों के अनुभव ही उन सभीके लिए मलहम का काम करते है। पूरी कहानी हास्य की शैली में लिखी गई है किन्तु इस कहानी की परिस्थितियों के नीचे मानवीय दर्द थरथराता है। सम्पूर्ण कहानी चार्ली-चेपलिन की फिल्म की तरह दर्दीले हास्य पर केन्द्रित है। कहानी का अत अत्यंत प्रभावशाली है जो कहानी को सरल प्रहसन की जगह गंभीर बात बना देता है :

"वर्मा ने एक-एक सिगरेट उन लोगों को दी—कमरे में सिगरेट का धुआं भर गया। उस एक छोटे कमरे मे भेड़ों की तरह रहने वाले वे पांचों युवक लेटे थे और सिगरेट पी रहे थे जैसे कुछ हुआ ही नहीं है। भावना और चेतना से शून्य ! और धीरे-धीरे वे पांचों युवक सो गए सुबह उठकर नित्य की तरह बेकारी, गैर-जिम्मेदारी की जिन्दगी बिताने के लिए।"

नाटक

प्रसादोत्तर हिन्दी नाटकों की विकसित होती हुई परम्परा में भगवतीचरण वर्मा का भी योगदान रहा है। भगवती बाबू ने अधिक नाटक नहीं लिखे हैं पर जितना भी उन्होंने लिखा है उस आधार पर उन्हें सफल नाटक लेखक कहा जा सकता है। उन्होंने दो पूर्ण नाटक और कुछ एकांकी लिखे हैं। उनके एकांकी अधिक सफल कहे जा सकते है। उनके नाटक-साहित्य में उनकी सामाजिक प्रतिबद्धता दिखलाई पड़ती है। व्यक्ति के प्रति उनका जैसा आग्रह उपन्यासों में दिखलाई पड़ता है वैसा नाटकों में नहीं—ठीक महादेवी की तरह जो काव्य में तो अंतर्मुख हैं पर गद्य में नहीं। डॉ० विजय वापट के अनुसार "कथानक में विशेष रूचि न लेकर नाटककार (भगवती बाबू) ने जीवन के किसी महत्त्वपूर्ण पहलू या विशेष दृष्टि-कोण को हमारे सामने प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।"[1] अपने नाटकों तथा एकांकियों को उन्होंने अधिकाधिक मंचीय बनाने का प्रयास किया है जिसमें उन्हें सफलता भी मिली है।

बुझता दीपक

इसमें भगवती बाबू के तीन एकांकी और एक नाटक संगृहीत है। तीनों एकांकी और नाटक अभिनेयता की कसौटी पर खरे उतरते हैं। 'दो कलाकार'

---

१. डॉ० विजय वापट : प्रसादोत्तर नाट्य साहित्य, पृष्ठ १६१

और 'सबसे बड़ा आदमी' हास्य-प्रधान एकांकी है। लेखक ने स्वयं ही भूमिका मे लिखा है, "ये दो नाटक मैने चुटकुलों के तौर पर लिखे थे।"[१] 'दो कलाकार' में एक लेखक और एक चित्रकार की फटीचर हालत दिखलाई गई है और परिस्थितियों मे नाटकीयता उत्पन्न करके हास्य की सृष्टि की गई है। दूसरा एकांकी सबसे बड़ा आदमी अपेक्षाकृत प्रसिद्धि-प्राप्त एकांकी है जिसमें लोगों को बेवकूफ बनाकर जेबें साफ कर देने वाले आदमी को सबसे बड़ा आदमी घोषित किया गया है। उक्त दोनों एकांकी हल्के-फुल्के एकांकी है किन्तु दोनो ही अपने मे मचीयकरण की संभावनाएं छिपाए हुए हैं, जोकि आधुनिक एकांकी की सबसे बड़ी शर्त है।

तीसरा एकांकी 'चौपाल में' व्यंग्य-प्रधान एकांकी है जिसमें ग्रामीण समाज के बड़े लोगों की मनोवृत्ति दिखलाई गई है। गाव के सभी बड़े लोग जोकि जाति-प्रथा तथा छुआ-छूत जैसी कुरीतियों से घिरे हैं—पंडित सत्यनारायण के कांग्रेसी पुत्र रामनारायण की आलोचना इस बात पर करते है कि वह एक चमार लड़की से शादी करना चाहता है। स्वयं पंडित सत्यनारायण इस बात को सुन आग-बबूला हैं तथा गांव आई हुई कांग्रेस कार्यकर्त्री माधवी और जानकी को खरी-खोटी सुना देते हैं। बच्चू ठाकुर इस बात पर क्रोधित हैं कि जब वे शहर गए थे तब रामनारायण ने उन्हें चमार के हाथ का बनाया भोजन खिलाया था। किन्तु जब माधवी और जानकी के रात रुकने की समस्या आती है और लोगों को मालूम होता है कि माधवी बदचलनी के अपराध में घर से निकाली गई एक विधवा है तो सभी व्यक्ति उन कार्यकर्त्रियों को अपने घर ठहराने को लालायित हो जाते हैं। सभीके मुखौटों को नोचकर लेखक उनके चरित्र की बीभत्सता दिखलाने में सफल हो जाता है।

बुझता दीपक पूर्ण नाटक है। राजनैतिक और सामाजिक जीवन में चरित्र का जो संकट विद्यमान है उसी संकट को नाटक की विषयवस्तु बनाया गया है। हर क्षेत्र में फैले हुए भ्रष्टाचार और निहित-स्वार्थों का कैसा दबाव ईमानदार आदमी पर चारों ओर से पड़ता है इसका अत्यंत मार्मिक चित्रण लेखक ने इस नाटक में किया है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद दिन-प्रतिदिन देश की स्थिति किस तरह खराब होती है और किस तरह कृष्णकुमार और निरंजन जैसे गलत व्यक्ति हर क्षेत्र में राधेश्याम शर्मा जैसे सही आदमियों को दबाकर ऊपर उठ गए—यह दर्शाना नाटक का उद्देश्य रहा है। देश में एक ऐसा वर्ग भी है जो समझदार है और जिसमें बुराइयों से लड़ने की ताकत भी है किन्तु यह वर्ग न केवल देश की वर्तमान परिस्थितियों से उदासीन है बल्कि पैसे को सबसे अधिक महत्त्व देकर

---

१. भगवतीचरण वर्मा, बुझता दीपक (भूमिका), पृष्ठ २

व्यक्तिगत उन्नति को ही सब कुछ मान बैठा है। सुषमा, उन्हीं बुद्धिजीवियों में से है जो ईमानदारी का आदर तो करते हैं किन्तु ईमानदार व्यक्ति के कंधे से कंधा लगाकर नहीं चलते। जब तक ऐसे व्यक्ति आगे बढ़कर अपने प्राणों का स्नेह-दान नहीं करेंगे तब तक मानवता का दीपक नहीं जल सकता। नाटक का अंत इस आशा के साथ हुआ है कि एक दिन यह संभव हो सकेगा।

रुपया तुम्हें खा गया

इस नाटक में लेखक आधुनिक समाज की अर्थ-लिप्सा पर कठोर प्रहार करना चाहता है। आज का मनुष्य रुपया कमाने के पीछे इतना पागल है कि वह समस्त मानवीय गुणों को भूलकर अर्थ-पिशाच बन गया है। तीन अंकों का यह नाटक वणिक्-संस्कृति पर उस तरह प्रहार नहीं कर पाता जैसाकि लेखक चाहता है। सम्पूर्ण नाटक एक धनी व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन को ही उभार सका है। वास्तव में सेठ मानिकचंद के जीवन की विभिन्न घटनाओं का समावेश नाटक में इतना अधिक हो गया है कि नाटक सम्पूर्ण युग की कहानी नहीं बन सका है।

सेठ मानिकचंद चोरी के रुपयों से करोड़पति बन जाता है और फिर रुपया उसके जीवन का केन्द्रीय भाव हो जाता है। रुपयों की हविश इतनी बढ़ जाती है कि उसके निजी संबंध और उन संबंधों से जुड़ी हुई ममता और प्रेम जैसी कोमल भावनाएं उसके जीवन से समाप्त हो जाती है। अपनी बीमारी में भी वह रुपया कमाने में लगा रहता है और भारी घाटा उसे उठाना पड़ता है। अंत में उसे अनुभव होता है कि उसकी पत्नी और उसके लड़के को भी उसकी बीमारी से कहीं अधिक चिंता और रुचि उसकी तिजोरी की चाबी की है। अपनी सही स्थिति का आभास मिलने पर वह विक्षिप्त हो जाता है। पागल होने से पहले उसके जीवन का यह सत्य, अपनी समस्त कुरूपता के साथ, उसके आगे उद्घाटित हो जाता है कि वह रुपये को नहीं बल्कि रुपया उसे खा गया है।

नाटक के अंतिम दृश्य में किशोरीलाल का आगमन भले ही नाटकीय परि-स्थितियों को जन्म देता है पर वह नाटक के कथ्य को विस्तृत कैनवास प्रदान करने के बदले उसे संकुचित बना देता है। किशोरीलाल का अवतरण समस्त समस्या को युगीन बनाने के बदले उसे सेठ मानिकचंद की व्यक्तिगत समस्या बना देता है और नाटक पुराने ढंग की मसीहाई मुद्रा में आ जाता है—कि हर व्यक्ति को उसके पाप का फल भुगतना पड़ता है। दूसरे अंक के दूसरे दृश्य में लेखक ने वस्तु को जो विस्तार दे दिया था उसका अंत में संकोच हो गया है। यह दृश्य अपने तीखे और बेबाक कथोपकथन के कारण काफी प्रभावशाली बन गया है। लेखक जो कुछ कहना चाहता है उसका अधिकांश यहां कहा जा सका है।

जयलाल के संवाद घटना के अंदर छिपे हुए व्यापक सत्य को उजागर कर सके हैं। वह कहता है, "दिमाग तो हर पैसे वाले का खराब हो जाया करता है, अगर आप पैसा पैदा करने की प्रवृति को बीमारी समझ लें।" आज के युग का नक्शा भी उसीके संवाद से खिच पाता है, "कोई किसीको नहीं छोड़ता—पैसे की घृणित दुनिया मे प्रेम, सहानुभूति, ममता, त्याग, दया आदि का कोई विधान ही नहीं है।" और इस युग में ईमानदार आदमी की नियति उसीके शब्दों मे यह है, "मुझे कुछ ऐसा लगता है कि दुनिया की नजर मे ईमानदारी और सत्य पागलपन है। और इस हिसाब से न आप पागल हैं, न मानिकचंद पागल हैं—पागल तो शायद मैं हूं।"

यह नाटक उस समय लिखा गया था जब हिन्दी मे मंचीय नाटकों का अभाव था। अतः इसका मंचीय होना इसकी विशेषता मानी जा सकती है, यद्यपि दृश्य-परिवर्तन कुछ अधिक है। नाटक की एक और उपलब्धि है—मानिकचद का चरित्रांकन। मानिकचंद अर्थ-पिशाच होते हुए भी अंत मे सहानुभूति का पात्र दिखलाई पड़ता है। पैसा कमाने के पागलपन में वह पूर्णतः एकाकी हो जाता है। उसका परिवार भी पैसों के पीछे पागल है अतः उसके जीवन में जो आंतरिक शून्य निर्मित होता है उसका प्रभावशाली चित्रण नाटक में हो सका है।

निबंध

भगवती बाबू ने हिन्दी के निबंध-साहित्य में भी अपना योगदान दिया है। उनके निबंधों को हम दो वर्गों में रख सकते हैं। पहले वर्ग मे उनके साहित्यिक निबंध हैं जिनमें उन्होंने साहित्य की विधाओं पर अपने मत प्रकट किए हैं। दूसरे वर्ग में वे निबंध आते हैं जिनमें उन्होंने समाज की समस्याओ पर विचार किया है। इन दोनों ही प्रकार के निबंधों में लेखक अपनी व्यक्तिवादी विचारधारा का परिचय देता है। विशेष कर सामाजिक निबन्धों में यह बात परिलक्षित होती है। समाज में प्रचलित कितनी ही मान्यताओं को लेखक अस्वीकार कर देता है।

साहित्य की मान्यताएं

इस संकलन के निबंधों के माध्यम से लेखक ने साहित्य के विभिन्न पक्षों पर तथा साहित्य की विभिन्न विधाओं पर अपने विचार व्यक्त किए हैं। पहले सात निबन्ध चिंतन-प्रधान हैं जिनमें, लेखक साहित्य पर, शास्त्रीय मत-मतान्तरों में न उलझकर, अपना आत्म-मंथन सामने रखता है। वस्तुतः भगवती बाबू के साहित्य को अच्छी तरह समझने में ये निबन्ध अत्यंत सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

लेखक किन्ही ठोस और महत्त्वपूर्ण मान्यताओं की स्थापना तो नहीं कर सका है पर अपनी बात उसने साफ-साफ कहने की हर जगह चेष्टा की है।

लेखक ने अपने पहले ही निबंध 'भावना, बुद्धि और कर्म' में कला के विषय मे अपनी विचारधारा प्रकट की है। वह साहित्य के जनरंजनकारी पक्ष को महत्त्व देता है, "कला में मनोरंजन प्रधान है, इसे स्वीकार करने मे मुझे कोई संकोच नहीं और यहां एक प्रश्न मेरे अन्दर उठता है—मैं मनोरंजन को निकृष्ट एवं अनपेक्षित क्यों समझ लूं ?"[1] किन्तु भगवती बाबू ऐसे मनोरंजन के पक्षपाती हैं जो आनद के स्तर तक उठ सके। साथ ही वह यह भी मानते हैं कि "कला का स्रोत भावना में अवश्य है, लेकिन कला अपना रूप ग्रहण करती है बुद्धि की सहायता से।"[2]

अपनी व्यक्तिवादी विचारधारा के अनुरूप भगवती बाबू साहित्य को नियमों में बांधे जाने का विरोध करते है। 'साहित्य का स्रोत' में वे लिखते है, "कला का स्रोत न भावना में है न बुद्धि मे है। इस अंतःप्रेरणा को नियमों में नही बांधा जा सकता। यह अंतःप्रेरणा एक रहस्य की भांति हरेक मनुष्य के अन्दर स्थित है, इसकी मनुष्य के जीवन मे एक महत्त्वपूर्ण सत्ता है।"[3] साहित्य में विचारों की बोझिलता और दर्शन की अधिक घुस-पैठ को वर्माजी उचित नही मानते और यह स्वीकार करते हैं कि साहित्य भावनात्मक होना चाहिए तथा उसमें किसी निश्चित सामाजिक, राजनैतिक विचारधारा के बजाय लेखक के व्यक्तित्व और उसकी अनुभूतियों की झलक होनी चाहिए। "साहित्य या कला को प्राणवान बनाता है कलाकार या साहित्यकार के व्यक्तित्व का कला और साहित्य में निक्षेप—प्रत्येक प्राणवान और सफल साहित्य में साहित्यकार का व्यक्तित्व मूर्त होता है। व्यक्तित्व साहित्यकार के जीवन का अभिन्न भाग होने के कारण उसके कृतित्व का भी महत्त्वपूर्ण भाग हुआ करते हैं।"[4] 'साहित्य मे शब्द का स्थान' निबंध में काफी कुछ नया और गम्भीर कहने की संभावनाएं थीं। विषय अत्यंत मौलिक है किन्तु कोई गहरी बात लेखक कह नही सका है।

शेष निबंध चिंतन-प्रधान न होकर विश्लेषणात्मक हैं जिनमें साहित्य की विधाओं पर चर्चा है। लेखक ने उपन्यास, कहानी, कविता, रेखाचित्र, निबंध, शब्दचित्र, नाटक पर अपने विचार रखे है। कविता पर लेखक के तीन निबंध है —१. परम्परागत कविता : छायावाद २. प्रगतिवाद : उपयोगिता अथवा प्रचार ३. प्रयोगवाद अथवा नई कविता। लेखक छायावादी कविता का समर्थक है क्योंकि

१. साहित्य की मान्यताएं, पृष्ठ ७
२. वही, पृष्ठ ९
३. वही, पृष्ठ २२
४. वही, पृष्ठ ५९

'कविता की सभी मान्यताए' इस कविता में विद्यमान है—यानी, लेखक के मतानुसार, लय, छंद, अनुप्रास और अलंकार। प्रगतिवाद चूकि साहित्यकार की व्यक्तिगत भावना की उपज नही है वरन एक 'राजनीतिकवाद' है तथा भावना के क्षेत्र में यह कविता निर्बल है। अतः लेखक इसे उच्च कोटि की कविता स्वीकार नहीं करता। इस कविता में उसे 'असहिष्णुता' दिखलाई पड़ती है।

जहा तक भगवती बाबू की साहित्यिक मान्यताओं की जानकारी प्राप्त करने का प्रश्न है, निश्चय की यह पुस्तक महत्त्वपूर्ण है किन्तु साहित्य की विधाओं पर वे स्पष्ट विचार नही रख पाए है। इतना ही नही, कही-कहीं बड़े अजीब विरोधाभास निबन्धों मे दिखलाई पड़ते है। एक ओर लेखक साहित्य को भावना से जुडा हुआ मानता है और सृजन-प्रक्रिया मे भावना को महत्त्वपूर्ण स्थान देता है वही एक स्थान पर वह लिखता है, "एक बहुत बड़ी भ्रात धारणा लोगों में फैली हुई है कि कलाकार भावना-प्रधान प्राणी होता है।"[१]

कहीं-कहीं अर्थहीन जिज्ञासाओं पर चर्चा होने के कारण भी भ्रम पैदा हो गए है। "परम्परागत, कविता छायावाद' में लेखक ने एक प्रश्न उठाया है: "क्या छायावाद की कविता में प्रबन्ध काव्य लिखा जा सकता है?"—वास्तव में छायावादी काव्य शैली के साथ यह प्रश्न जुड़ता ही नहीं है। प्रबन्ध काव्य अथवा काव्य के किसी भी स्वरूप की रचना का सम्बन्ध कवि की क्षमता से होता है। किसी विशिष्ट काल की रचना शैली से उसका सम्बन्ध जोड़ना उचित नही है। छायावादी युग में ही 'आंसू', 'कामायनी' और 'तुलसीदास' जैसे सशक्त प्रबन्ध काव्यों की रचना इस प्रश्न का उत्तर है। भगवती बाबू की एक अन्य विचित्र मान्यता यह है—"लम्बी कहानी रोमांस या घटना-प्रधान कथ्य कहने में सफल होती है, लम्बी कहानी समस्यामूलक बडी ही मुश्किल से बन पाती है।"[२] यहां भी भगवती बाबू कहानी के 'फार्म' के महत्त्व के प्रति अतिरिक्त जागरूक दिखलाई पड़ते हैं। वस्तुतः कहानी की लम्बाई से उसके कथ्य का कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता है।

यह बात स्पष्ट है कि उत्तरार्द्ध के निबन्ध उलझनपूर्ण हैं। वे न तो चिंतन-प्रधान बन सके हैं और न ही आलोचनात्मक। वस्तुतः भगवती बाबू स्वयं भावना-प्रधान व्यक्ति हैं अतः इस तरह की विश्लेषणात्मक साहित्यिक निबन्धों में यह असंतुलन स्वाभाविक है। सम्पूर्ण संकलन में एक बात अवश्य सामने आती है कि भगवती बाबू व्यक्तिवादी होते हुए भी सामाजिकता की सीमा को स्वीकार करते हैं:

"साहित्य का क्षेत्र भावना है और साहित्य का मुख्य उद्देश्य मनोरंजन है। सामाजिक रूप से यह भावना 'गुण' की कोटि की होनी चाहिए। विकृति

---

१. साहित्य की मान्यताए (सहित्य का स्रोत), पृष्ठ २६

२. वही, पृष्ठ १३४

असामाजिक है। सामाजिक नियमों की रक्षा मानव की स्वाभाविक या सात्त्विक प्रवृत्ति ही करती है और इसीलिए यह मनोरंजन असात्त्विक न होना चाहिए।[१]

हमारी उलझन

इस संकलन के निबन्ध विश्लेषणात्मक न होकर विवेचनात्मक हैं। इन निबन्धों में सामाजिक समस्याओं और प्रचलित परम्पराओ पर लेखक के विचार प्राप्त होते हैं। 'साहित्य की मान्यताए' की ही तरह यह संकलन भी भगवती बाबू के विचारो को समझने के लिए एक अच्छा माध्यम है। भगवती बाबू के साहित्य के पीछे विद्यमान उनके जीवन-दर्शन और विचारधाराओं की सभी गुत्थियां इस संकलन को पढकर आसानी से सुलझाई जा सकती हैं।

इन निबन्धों से स्पष्ट है कि लेखक की विचारधारा आधुनिक और कही-कहीं काफी क्रांतिकारी है। समाज की प्रचलित विचारधाराओ और परम्पराओं से लेखक सहमत नही है और कही-कहीं तो बिलकुल ही असहमत है। 'ईश्वर,' 'परिग्रहण और दान,' 'श्रेणी-भेद,' निबन्धों मे यह बात देखी जा सकती है। लेखक ईश्वर के सम्बन्ध में प्रचलित मान्यताओं से विरोध प्रदर्शित करता है और उस ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार कर देता है "जो मन्दिरों में बैठकर प्रसाद चढ़वाता है, घंटे बजवाता है।" लेखक मानता है कि आस्था और विश्वास आवश्यक है क्योकि उसके बिना जीवन लक्ष्यहीन है। किन्तु द्वैत-अद्वैत की उलझनों में न फंसकर वह स्वीकार कर लेता है कि 'जीवन की सार्थकता को समझना ही ईश्वर पर विश्वास करना है।" वह मानता है कि जीवन की अच्छाई को ही ईश्वर के रूप में स्वीकारा जा सकता है।

'परिग्रहण और दान' मे लेखक की विचारधारा काफी मौलिक है। दान की प्रचलित हिन्दू मान्यताओं को वह नकारता है। औसत भारतीय बेईमानी से कमाकर 'दान' के द्वारा उस पाप से बचना चाहता है जो, उसकी समझ से, बेईमानी के कारण उसके सिर पर चढ़ जाता है। दान की प्रचलित शैली न केवल बेईमान को आश्वस्त करती है बल्कि दान देने और लेने वाले के बीच अस्वाभाविक रिश्ते को जन्म देती है। लेखक एक-दूसरे की सहायता करने को मानव-धर्म मानता है क्योंकि उसके पीछे मानवीय करुणा है, पुण्य करने का घमण्ड नहीं। श्रेणी भेद में वह समाजवाद की प्रचलित मान्यता से भिन्न—सांस्कृतिक संदर्भ में सबको 'डी क्लास' बनाने के बजाय सभीको 'पशुता की अवस्था से ऊपर उठाकर मानवता की ओर ले चलने' का आग्रह करता है।

लेखक अपनी व्यक्तिवादी विचारधारा के अनुरूप स्वीकार करता है कि

---

१. साहित्य की मान्यताएं, पृष्ठ ३८

मनुष्य की व्यक्तिगत चेतना ही उसे ज्ञान की ओर ले जा सकती है, उधारी का ज्ञान नहीं। 'विचार-विनिमय' में वह कहता है, "दूसरों को देवता मत मानो, दूसरों को देवता मानना अपने अन्दर असमर्थता से भरी गुलामी को पालना है।" उसके विश्वास के अनुसार, "तुम किसीसे कम नही हो, चाहे वह मार्क्स हो चाहे वह गांधी हो; केवल तुम्हें अपनी बुद्धि विकसित करना है।" व्यक्तिवादी चेतना से युक्त होते हुए भी भगवती बाबू व्यक्ति के अहम् को परिष्कृत करने की बात कहते हैं। 'अहम् का विकास' मे वे कहते हैं "इस समाज का सत्य मानवता का सत्य है क्योंकि मनुष्य दूसरों से सम्बद्ध जीवित रहता है।"—इस बात पर वे अवश्य दृढ़ हैं कि व्यक्ति का अहम् ही सत्य है और उसे नष्ट नही किया जा सकता। व्यक्ति और समाज को एकसाथ स्वीकारते हुए वे निष्कर्ष निकालते है "अहम् के सत्य में मानवता के सत्य को भर लें—यही मानवता का विकास है।" भगवती बाबू की व्यक्तिवादी चेतना के अध्ययन के सन्दर्भ में यह बात अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कई अन्य व्यक्तिवादी चिंतकों की तरह नितांत, निरकुश और असामाजिक विचार-धारा उनकी नही है।

'दीवाली', 'हरखू की बारात,' 'होली' में लेखक के सामाजिक विचार सामने आए है। यह द्रष्टव्य है कि व्यक्तिवादी होते हुए भी लेखक के विचार मानवता-वादी हैं। कुछ पाश्चात्य व्यक्तिवादी तो निष्ठुरता की सीमा तक पहुंच जाते हैं पर इसके विपरीत भगवती बाबू की आस्था मानव और उसके समाज मे है। यह ठीक है कि आज मनुष्य स्वार्थ और बेईमानी से चिपका है और अपने कृत्यों के समर्थन में उसने पाप-पुण्य की अपनी परिभाषाएं गढ ली है पर आज का मनुष्य भी गतिमान विकास-चक्र की एक कड़ी है अतः उसे इस स्थिति से ऊपर उठना होगा। व्यक्तिवादी लेखक के मानवतावादी विचार 'होली' मे इन शब्दों में व्यक्त हुए हैं : "और चेतना मुझसे कहती है कि आंसुओं के अथाह सागर की अगर एक बूद भी तुम सुखा सके, आहों के बहुत बड़े अम्बार की एक आह भी तुम कम कर सके तो इसका सुख जिन्दगी-भर हंसते रहने के सुख से कही अधिक है।"

चित्रालेख

वासवदत्ता

'वासवदत्ता' नामक चित्रालेख भगवती बाबू ने मूल रूप से फिल्म के लिए लिखा था इसलिए उसमें फिल्मी नाटक के ही तत्त्व विद्यमान हैं। इसे हम हिन्दी में प्रकाशित प्रथम चित्रालेख के रूप मे स्वीकार कर सकते हैं। पढ़ने वाले को यह अटपटा न लगे इसलिए भगवती बाबू ने एक लम्बी-चौड़ी भूमिका के द्वारा चित्रा-लेख के तत्त्वों और उसके लेखन शिल्प पर प्रकाश डाला है। इन्हीं तत्त्वों की कसौटी

पर कसने से इसे हम एक सफल चित्रालेख पाते हैं। चित्रालेख की कहानी रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविता 'अभिसार' पर आधारित है। उस कहानी में फिल्म के लायक नाटकीय परिवर्तन कर दिए गए हैं। लेखक का फिल्मी तकनीक का ज्ञान उसके लिए अत्यन्त सहायक सिद्ध हुआ है।

कहानी में नाटकीयता उभारने के लिए वासवदत्ता के अन्दर उत्पन्न प्रतिहिंसा का कुछ अधिक प्रदर्शन हो गया है। रवीन्द्रनाथ की कविता वासवदत्ता के प्रति करुणा उत्पन्न करती है, कम से कम उसके प्रति विरक्ति तो नहीं ही उत्पन्न करती किन्तु इस चित्रालेख में वासवदत्ता के प्रति पाठक की घृणा उत्पन्न होती है। संभवत: नाजुक मिजाज भारतीय दर्शक नायिका का इतना चरित्र-हनन बर्दाश्त नही कर सकता। मात्र दर्शक की रुचि को दृष्टिकोण मे रखकर इस बात की आलोचना नही की जा सकती किन्तु इस प्रकरण में कुछ अस्वाभाविकता भी आ गई है। नायक उपगुप्त का चरित्र भी इसमे पूरी तरह उभर नही सका है। जहां तक चरित्रांकन का प्रश्न है केवल धनराज का ही चरित्र अत्यन्त स्वाभाविकता से उभर सका है।

सेट्स की कल्पना अवश्य ही बड़ी पूर्णता से लेखक ने की है। सेट्स के अलावा ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के अनुरूप वातावरण मे कुशलता से रंग भरा गया है। कहानी के अनुरूप वातावरण को भी भव्य बनाने का प्रयत्न लेखक ने किया है और उसमें एक सफल फिल्म के सुन्दर छायांकन की संभावनाएं विद्यमान हैं। युग के अनुरूप सामाजिक प्रवृत्तिया (मदिरा की गोष्ठियां और कुक्कुट की लड़ाई) बड़े ही सहज ढग से चित्रालेख में स्थान प्राप्त कर सकी हैं। इससे चित्रालेख जीवंत बन सका है। आम तौर पर हिन्दी फिल्मों में इस बान का ध्यान नहीं रखा जाता तथा देश-काल के मामले में वे अत्यन्त फूहड़ और बचकानी होती हैं। फिल्म की आवश्यकता के अनुरूप क्लाइमेक्स भी रखा गया है और इसी चक्कर में कहानी की स्वाभाविकता को थोड़ा आघात भी लगा है। भारत में सभ्यता के विकास के बाद शायद ही ऐसा समय कभी आया हो जब इस तरह खुले आम नरबलि का आयोजन करने का कोई साहस कर सका हो जैसाकि चित्रालेख में दर्शाया गया है। हिन्दी फिल्मों की नितान्त आवश्यकता के अनुकूल परिस्थितियां पैदा करके गीतों को चित्रालेख में स्थान दिया गया है। लेखक भरसक सजग रहा है कि गीतों के लिए परिस्थितियां अस्वाभाविक न हों—किन्तु—इस चित्रालेख के गीत कितने सरस और गेय हैं—यह एक प्रश्न है।

अध्याय ४

कथायात्रा और उपलब्धियां

प्रारंभिक चरण

पतन

'पतन' भगवती बाबू का प्रथम उपन्यास है जिसका प्रकाशन १९२८ में हुआ। बहुत ही कम लेखकों की प्रथम कृति कथ्य और शैली के स्तर पर इतनी निराश करने वाली होती है। यह एक अस्पष्ट उद्देश्य वाली रचना सिद्ध होती है क्योंकि सम्पूर्ण उपन्यास कुछ समानान्तर कथाओं को प्रयासपूर्वक जोड़ने की असफल कोशिश में ही चुक जाता है। लेखक एक युग-विशेष का पतन दिखलाना चाहता है अथवा नितान्त व्यक्तिगत त्रुटियों के कारण कुछ व्यक्तियों का—यह बात अन्त तक अस्पष्ट रह जाती है। परिणाम यह हुआ है कि पतन गंभीर और गहरी रचना नहीं बन सकी है। इसकी कथा एक साधारण-सी जासूसी अथवा घटना-प्रधान कहानी होकर रह गई है। कथानक में कल्पना का भरपूर सहारा लिया गया है और वह केवल संयोगों के सहारे आगे बढ़ती है। संभवत: लेखक ने अपनी सारी प्रतिभा कथानक में संयोग उपस्थित करने में ही लगा दी है। भगवती बाबू का नियतिवादी दृष्टिकोण इसी उपन्यास से स्पष्ट दिखलाई पड़ने लगता है। नवाब वाजिद अली शाह से लेकर सामान्य पात्र तक के पतन का कारण भगवती बाबू नियति को मान लेते हैं। हर पात्र अपने तर्कहीन मनमाने कार्य का दायित्व 'ईश्वर की मर्जी' पर थोपते हुए पतन की ओर बढ़ जाता है। अपने उपन्यास के अद्भुत उतार-चढ़ाव को भाग्य का चक्कर सिद्ध करते हुए लेखक अत्यधिक स्वतन्त्रता ले लेता है और कथानक को अविश्वसनीय संयोगों से भर देता है। लेखक कई स्थलों

पर दार्शनिक मुद्रा ग्रहण करने की चेष्टा करता है किन्तु अपने नियतिवादी दर्शन को सही ढंग से स्थापित नहीं कर पाया है। उपन्यास का संयोग-बहुल कथानक भी नियति की सर्वोच्चता के प्रति पाठक को 'कन्विंस' नहीं कर पाता। इस तरह 'पतन' को हम अत्यन्त साधारण कोटि का उपन्यास पाते हैं जिसका कथ्य पक नहीं पाया है।

पतन का कथानक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि लिए हुए है। कहानी वाजिद अली शाह के समय की है, जब अवध का राज्य पतन के कगार पर खड़ा था। नवाब साहब की विलासिता राज्य के लिए खतरनाक साबित हो रही थी। वजीर अली नकी नवाब की जड़ें खोद रहा था और नवाब साहब के नाम पर मनमानियां कर रहा था। भगवती बाबू की नवाब के प्रति पर्याप्त सहानुभूति परिलक्षित होती है। वे दर्शाते है कि नवाब बुरे आदमी नहीं थे, बल्कि उन्हें बिगाड दिया गया था। लेखक द्वारा चित्रित नवाब अपने संभावित पतन को 'खुदा की मर्जी' स्वीकार करते हुए परियों के अखाड़े में व्यस्त दिखलाई पड़ते हैं जबकि उनके राज्य में चारों ओर रिश्वत और भ्रष्टाचार का बोलबाला था।

उक्त देश-काल को चित्रित करते हुए लेखक ने प्रताप सिंह और रणवीर नामक व्यक्तियों को मुख्य कथा का स्रोत बनाया है। प्रताप सिंह स्वभावतः षड्यन्त्र-कारी एवं कामुक व्यक्ति है जो स्वयं अनुभव करता है कि वह शैतान के हाथ बिक चुका है। उसमें सामने वाले व्यक्ति को सम्मोहित करके उससे अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करा लेने की अद्भुत शक्ति है। अपनी इस शक्ति का प्रयोग वह हमेशा बुरे कर्मो में करता है—विशेषकर स्त्रियों को भ्रष्ट करने में। प्रताप सिंह ने अपने एक बालमित्र के पुत्र रणवीर को पाल-पोसकर बड़ा किया है जिसे वह वास्तव मे बहुत अधिक चाहता है किन्तु उसकी प्रेयसी सुभद्रा को भी वह अपनी दानवी शक्ति से सम्मोहित करके वाजिद अली शाह की बेगम बनवा देता है ताकि वह उसकी वासनापूर्ति की साधन बन सके। रणवीर के मन मे प्रताप सिंह के लिए कभी प्रेम उत्पन्न होता है तो कभी घृणा। वह प्रताप सिंह को जान से मारने का प्रयास भी करता है पर प्रताप सिंह की शक्ति के सामने अपने को बेबस पाता है।

कानपुर में ही प्रकाशचन्द्र नामक व्यक्ति रहता है जिसकी पत्नी सरस्वती अद्वितीय सुन्दरी है। पति की शुष्कता के कारण वह प्रेम की प्यासी है। प्रकाश-चन्द्र के मित्र भवानी शकर के साथ उसकी आत्मीयता बढती है और दोनों ही एक-दूसरे पर आसक्त हो जाते है। अपने-आपको पतन से बचाने के लिए भवानीशकर अपनी पत्नी उर्मिला के साथ अपने चाचा मुशी रामसहाय के पास चला जाता है। प्रकाशचन्द्र और सरस्वती भी लखनऊ पहुंचते है और सुभद्रा का वियोग-दुख दूर करने के लिए विदेश भ्रमण करता हुआ रणवीर भी। प्रताप सिंह पहले से ही ज्योतिषी राधारमण का रूप धारण किए, नवाब वाजिद अली शाह के दरबार में

अपना प्रभाव जमाकर, लखनऊ मे विद्यमान है। सभीकी एक-दूसरे से भेंट होती है और फिर लेखक ने कल्पना की वो उड़ानें भरी है कि तिलस्मी कहानी भी उसकी कहानी के आगे पानी मांगने लगती है।

प्रकाशचन्द्र प्रताप सिंह का शिष्य है फिर भी प्रताप सिंह उसकी पत्नी सरस्वती को सम्मोहित कर लेता है। यहां सरस्वती एक मंजी हुई खिलाड़िन दिखलाई पड़ती है जो बड़े मजे से शराब पीती है। वह रणवीर की भी अंकशायिनी बनना चाहती है। भवानीशंकर को अपने तथाकथित पतन का कारण बतलाते ही वह फिर भवानीशंकर को अपना बना लेने का संकल्प करती है। वे दोनों ही वापस कानपुर लौटते हैं। उन्हींके पीछे एक गाड़ी मे भवानी शंकर की माता, पत्नी और चाचा भी लौटते है। जब भवानीशंकर गगा पार होता रहता है तभी उसके चाचा उसे देखकर किनारे से पुकारते है। सरस्वती पागल की तरह नाव उलट देती है ताकि भवानीशंकर के साथ मर सके किन्तु भवानी शंकर तैरकर वापस अपने परिवार से जा मिलता है और सरस्वती गंगा मे डूब जाती है।

उपन्यास के छठे-सातवें परिच्छेद में गुलनार, प्रताप सिंह और बंदे हसन की कहानी भी चलती है। मुहम्मद याकूब का कैदी बनने के बाद अपने अपमान का बदला प्रताप सिंह उसकी बेटी गुलनार को सम्मोहित करके लेता है। गुलनार के कहने पर उसका प्रेमी बंदे हसन प्रताप सिंह को कैद से मुक्ति दिलाता है। कैद से छूटकर प्रताप सिंह गुलनार को भी अपने साथ ले जाता है। प्रतिशोध की भावना से भरकर मुहम्मद याकूब प्रताप सिंह को मारना चाहता है पर गुलनार बीच में आ जाती है और अपने ही पिता के हाथों मारी जाती है। प्रताप सिंह मुहम्मद याकूब को मारता है और बंदे हसन गुलनार के शव के साथ गोमती में कूदकर आत्महत्या कर लेता है। दूसरे दिन उनकी लाशों को गोमती में बहते देखकर जब प्रताप सिंह कहता है, 'कैसी लीला है भगवान की' तब पाठक को लगता है कि उसे जबरन कोई कड़वी दवा पिलाई जा रही है।

दूसरी तरफ रणवीर किसी तिलिस्मी उपन्यास के एय्यार की तरह औरत का वेश बनाकर वाजिद अली शाह के हरम में जाकर सुभद्रा से मिलता है। सुभद्रा सितमआरा की मदद से रणवीर के साथ भाग निकलती है। प्रताप सिंह अपने-आपको स्वयं द्वारा पोषित व्यक्ति से पराजित अनुभव अरता है और बदले की भावना से भरकर उसका पीछा करता है। कभी उसके अन्दर का, लेखक के द्वारा आरोपित किया गया, ईश्वर उससे रणवीर को क्षमा करने को कहता है और कभी शैतान प्रतिशोध लेने को उकसाता है। जब वह नदी पार करते हुए रणवीर और सुभद्रा के पास तक पहुंचता है तब रणवीर उसे छुरा भोंकदेता है। प्रताप सिंह मरते-मरते नाव उलट देता है और तीनों ही नदी मे डूब मरते हैं। इस तरह वाजिद अली शाह को छोड़कर अन्य सभीको लेखक नदी में

डुबोकर समाप्त कर देता है।

लेखक भारतीय इतिहास के उस काल को कथानक की पृष्ठभूमि बनाता है जो अपनी अकर्मण्यता और विलासिता के लिए कुख्यात है। किन्तु उपन्यास की मुख्य कथा में जिन व्यक्तियों का पतन दिखलाया गया है उनके पतन का कारण सामाजिक वातावरण नहीं है वरन उनके नितान्त व्यक्तिगत कारण हैं। बल्कि यह कहना भी अतिशयोक्ति नहीं है कि उनके पतन का कोई कारण नहीं, केवल उनकी अनुभूतियां हैं जिनसे वे परिचालित होते हैं। कई घटनाओं को उपन्यास के रूप में संकलित करके लेखक नियति की प्रबलता सिद्ध करना चाहता है लेकिन लेखक नियति के दार्शनिक पक्ष को प्रस्तुत नहीं कर पाया। उसने कई व्यक्तियों के पतन को चित्रित किया है और पतन के गर्त में जाने वालों की त्रुटियों को अनदेखा करके भाग्य को उसका कारण मान लिया है। नवाब वाजिदअली शाह अपनी अकर्मण्यता को नियति के आवरण में ढांकते हैं,…"ऊपर खुदा है, उसकी मर्जी हमेशा पूरी होगी, फिर मैं यह सब क्यों करूं। वह जो कुछ करना चाहता है, वह टल नहीं सकता। फिर मैं यह सब क्यों करूं।"[१] स्पष्ट है कि केवल इतना कह देने से ही नियतिवादी दर्शन का पक्ष सबल नहीं हो जाता।

कथानक की दुर्बलता यह है कि लेखक और पाठक कभी एक बिन्दु पर नहीं पहुंच पाते। कथानक के माध्यम से लेखक जो कहना चाहता है वह इतना धनीभूत नहीं हो पाया कि पाठक, भले ही लेखक की विचारधारा से सहमति न प्रकट करे, लेखक के कथ्य को एक विचार के रूप मे ही ग्रहण कर सके। सामान्य पाठक को पात्रों के पतन का कारण उनके तर्कहीन कृत्य ही मालूम पड़ते है किन्तु लेखक बार-बार पाठक पर जाहिर करना चाहता है कि उसके पात्र बहुत 'बेचारे' है और परिस्थितियां उनके पतन का कारण हैं। सरस्वती का चरित्र उदाहरणस्वरूप रखा जा सकता है। अतृप्त सरस्वती का सम्बन्ध भवानीशकर से जुड़ जाता है, यह कोई बहुत भयकर घटना नहीं है पर सरस्वती के अति की सीमा तक पहुंचे हुए असंतुलित चरित्र को लेखक बार-बार उसकी विवशता बतलाता है। जब भवानीशंकर व्यावहारिकता के आधार पर उससे दूर जाना चाहता है तब वह कहती है, "तुमने मुझे नीचे गिराया, तुमने मुझे इस पाप-मार्ग का गामी बनाया। तुम्हारे पहले मैं अनजान थी, कभी-कभी हृदय उस पशु से, जो मेरा स्वामी है, हटने का प्रयत्न करता था, पर मैं उसे रोका करती थी। पर जब से तुम आए हो, हृदय बलवान हो गया, अन्तरात्मा कमजोर पड़ गई। कर्तव्य की याद तुमने पहले क्यों नहीं दिलाई?"[२] सरस्वती अपने पतन का दोष भवानीशंकर को देती है

---

१. पतन, पृष्ठ ३४
२. वही, पृष्ठ ८४

जबकि बात उल्टी है। वास्तव में भवानीशंकर के पतन का कारण सरस्वती स्वयं है।

उपन्यास मे चित्रित पात्र जीना चाहते है या मरना इसका पता न पात्रों को है और न ही शायद लेखक को, पाठक के लिए तो खैर यह समझना एक समस्या ही है। सभी पात्र स्वयं स्वीकार करते हैं कि वे पतन की ओर उन्मुख हो रहे है पर फिर भी वे उस ओर बढते जाते हैं। सुभद्रा के साथ भागने की योजना बनाते हुए रणवीर का अपराध-बोध इतना गहरा है कि वह नींद मे भी बड़बड़ाता है—"चलो, पतन की ओर हम दोनों ही चलें, चलो हम-तुम दोनों साथ ही मरें।"[१] भागते हुए भवानी शंकर और सरस्वती को लेखक इस तरह चित्रित करता है:

"सरस्वती एकाएक चौक उठी। भवानीशंकर को उस समय नीद आने लगी थी। भवानीशंकर भी चोंककर उठ बैठा। सरस्वती ने कहा, 'भवानी बाबू, हम कहां चल रहे है ?' भवानीशकर को इस प्रश्न पर आश्चर्य हुआ, फिर भी उसने प्रश्न के योग्य ही उत्तर दिया—'पतन की ओर।' सरस्वती हंस पड़ी।"[२]

इस तरह के किसी भी प्रकरण को लेखक इस तरह चित्रित नहीं कर सका है कि पाठक को वह विश्वास दिला सके कि ये सारे पात्र सचमुच ही नियति की धार में बेबस होकर बह रहे हैं। सभी पात्र 'पतन की ओर' जाने की चर्चा इस तरह करते है जैसे वे तीर्थयात्रा पर निकले हुए हों। कथानक को आगे बढ़ाने में लेखक नियतिवादी तत्त्वों का समावेश करता है। आंख फड़कने के बाद सचमुच विपत्ति का आना तथा स्वप्न में भविष्य की घटनाओं का आभास स्थान-स्थान पर दिखलाया गया है।

उपन्यास का कथानक अत्यन्त शिथिल है और व्यर्थ की बातों से कई स्थलों पर उसका प्रवाह नष्ट हो जाता है। सामान्यतः इसके पात्र बहुत ही उथली चितन-धारा में उलझे दिखलाई पड़ते हैं। कथानक का प्रवाह उस समय भयानक तौर पर टूटता है जब लेखक कथासूत्र को छोड़कर अपनी व्यक्तिगत विचारधारा को व्यक्त करने लगता है। कभी वह प्रेम और तृष्णा पर अपने विचार प्रकट करता है और कभी शकुन-अपशकुन पर। कभी वह गिनाता है कि प्रताप सिंह के रणवीर के प्रति प्रेम होने के चार कारण कौन-कौन-से हैं ?[३] नवाब वाजिद अली शाह पर लिखा गया ग्यारहवां परिच्छेद अपने-आपमें स्वतन्त्र लेख लगता है—कथानक से पूरी तरह कटा हुआ। कुल मिलाकर पतन में काफी बिखराव है जिसे लेखक की पहली कृति के नाम पर ही सहा जा सकता है।

---

१. पतन, पृष्ठ २१६
२. वही, पृष्ठ २२६
३. वही पृ० १५२-१५३

विकास-पथ

चित्रलेखा

सन् १६३४ में प्रकाशित 'चित्रलेखा' भगवती बाबू का दूसरा उपन्यास है। भगवती बाबू चित्रलेखा के रचियता के रूप में ही सर्वाधिक ख्यात हैं। वस्तुतः यह उपन्यास ऐसा ही है जो लेखक को ख्याति दिला सकता है। ऐतिहासिक महत्त्व की दृष्टि से तथा सर्जनात्मक स्तर पर भी यह हिन्दी की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति है। हिन्दी में स्पष्ट व्यक्तिवादी चितन का प्रारम्भ चित्रलेखा से माना जा सकता है। इसकी रचना का उद्देश्य ही समाज की रूढ़ नैतिक मान्यताओं से असहमति व्यक्त कर व्यक्ति की विचारधारा को महत्त्व देना है। चित्रलेखा हिन्दी उपन्यास साहित्य का प्रथम व्यक्तिवादी घोषणा-पत्र है। आगे चलकर और भी व्यक्तिवादी उपन्यासों की रचना हुई किन्तु चित्रलेखा एवं अज्ञेय के 'शेखर : एक जीवनी' का स्वर ही प्रखरतम रहा। इसके महत्त्व का अन्य कारण लक्ष्मीकान्त वर्मा ने यह माना कि "इस उपन्यास से उन नये मूल्यों के स्वर अधिक उभरकर आने लगे जो अभी तक दबे थे और संस्कारों के बोझ से कराह रहे थे। यही नहीं 'चित्रलेखा' उन अनेक सामाजिक समस्याओं की पूर्ति थी जो 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम', 'कर्मभूमि' और 'रंगभूमि' में प्रेमचन्द द्वारा प्रस्तुत की गई थी।"[1]—चित्रलेखा को 'अनेक सामाजिक समस्याओं की पूर्ति' स्वीकार करना तो कठिन है किन्तु यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि संस्कारों के बोझ से दबी हुई दृष्टि को यह उपन्यास एक नया आकाश देता है। भारत भूषण अग्रवाल इस उपन्यास की ताजगी के विषय में लिखते हैं, " 'चित्रलेखा' मे व्यक्तिवाद और स्वच्छन्दतावादी कल्पना का एक ऐसा प्रसन्न योग हुआ है कि युवा वर्ग में यह आज भी उतनी ही लोकप्रिय है जितनी विगत बीस वर्षो में रही है। 'चित्रलेखा' इस अर्थ में हिन्दी का सदाबहार उपन्यास है।"[2]

'चित्रलेखा' भगवती बाबू की विशिष्ट कृति इस अर्थ में भी है कि मात्र एक कहानी कहने के लिए इसका सृजन नही हुआ है,जैसा कि उनके कुछ अन्य उपन्यासों का उद्देश्य रहा है। पाप और पुण्य के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए उपन्यास की रचना हुई है। यह लेखक का कौशल है कि उसने कथानक अत्यन्त सुन्दर और समस्या के अनुकूल चुना। महाप्रभु रत्नांबर के दो शिष्य श्वेतांक और विशालदेव अपने गुरु से पाप के विषय में जानने की इच्छा प्रकट करते हैं। रत्नांबर पाप के स्वरूप से उनका साक्षात्कार कराने के लिए उन्हें दो अलग व्यक्तियों को सौंप देते

१. लक्ष्मीकान्त वर्मा, प्रेमचदोत्तर काल, नये धरातल : आलोचना, उपन्यास अंक, पृ० ६२
२. डॉ० भारत भूषण अग्रवाल, हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव, पृ० १०६

है। श्वेतांक सामत बीजगुप्त का सेवक बनकर तथा विशालदेव योगी कुमारगिरि का शिष्य बनकर एक ही समस्या का समाधान पाने का प्रयास करते है। बीजगुप्त सांसारिक सुखों पर विश्वास करने वाला व्यक्ति है और कुमारिगिरि त्यागी एवं संयमी संन्यासी है।

बीजगुप्त की प्रेयसी नर्तकी चित्रलेखा सम्राट चन्द्रगुप्त की सभा में योगी कुमारिगिरि को परास्त करके स्वय ही कुमारिगिरि के आकर्षण में बंध जाती है। यह आकर्षण इतना प्रबल हो उठता है कि वह वैभव को तिलांजलि देकर कुमारगिरि का शिष्यत्व ग्रहण करने उसके आश्रम में चली जाती है। योगी कुमारगिरि चित्रलेखा को आध्यात्मिक ज्ञान तो नहीं दे पाता बल्कि स्वयं ही नर्तकी के रूप-जाल में फंसकर साधना-भ्रष्ट हो जाता है। इधर बीजगुप्त, जो चित्रलेखा से अथाह प्रेम करता है, जीवन के भयानक अभाव को यशोधरा से विवाह करके भरना चाहता है किन्तु जब उसे मालूम होता है कि श्वेतांक यशोधरा से प्रेम करता है तब वह अपनी सम्पत्ति और उपाधि श्वेतांक को दान करके भिखारी बनकर निकल पड़ता है।

नर्तकी चित्रलेखा को अपनी भूल का ज्ञान होता है और वह पश्चात्ताप की अग्नि मे जलकर कुन्दन बन जाती है। जब चित्रलेखा बीजगुप्त के साथ जाना चाहती है तब वह उसे भी भिखारिन के रूप में ही स्वीकार करता है। इस सम्पूर्ण घटना-प्रवाह को श्वेतांक और विशालदेव अत्यन्त निकट से देखते हैं और दोनों ही उससे अलग-अलग प्रभाव ग्रहण करते हैं। श्वेतांक को अनुभव होता है कि बीजगुप्त देवता है और कुमारगिरि पापी है तथा विशालदेव को लगता है कि कुमारिगिरि महान है, बीजगुप्त पतित है।

ईश्वर द्वारा निर्मित अन्तरात्मा तथा किसी विभाजक रेखा द्वारा तय किए गए पाप और पुण्य को लेखक अत्यन्त स्पष्टता से नकार देता है। उपन्यास की भूमिका में ही वह कह देता है, "अन्तरात्मा ईश्वर द्वारा निर्मित नहीं है वरन् समाज द्वारा निर्मित है—मनुष्य की अन्तरात्मा केवल उसी बात को अनुचित समझती है जिसको समाज अनुचित समझता है।" कहने का तात्पर्य यह है कि नैतिकता की सार्वभौमिक और सार्वकालिक परिभाषा नहीं हो सकती बल्कि देश-काल के अनुसार बदलती रहती है। इसी आधार पर पाप किसी कर्म-विशेष का नाम नहीं है बल्कि—"संसार में पाप कुछ भी नहीं है, वह केवल मनुष्य के दृष्टिकोण की विषमता का दूसरा नाम है।"[1] इस उपन्यास की कथा का सारा ताना-बाना दृष्टिकोण की विषमता को स्पष्ट करने के लिए ही चुना गया है। आदिकाल से यह समस्या रही है कि पाप के अन्तर्गत किन कर्मों को रखा जाए ? सामान्यत:

१. चित्रलेखा, पृ० १७७

पाप का सम्बन्ध नैतिकता से जोड़ा जाता है और नैतिकता किसी न किसी रूप में समाज से जुड़ी हुई है। किन्तु भगवती बाबू पाप एवं नैतिकता की कोई भी सामाजिक व्याख्या नही करते। वे मानते हैं कि "जो कुछ मनुष्य करता है, वह उसके स्वभाव के अनुकूल होता है और स्वभाव प्राकृतिक है।"[1]

भगवती बाबू मानते हैं कि मनुष्य परिस्थितियों के वश में है अतः उसे वह करना ही पड़ता है जो वह कर रहा है। यहां यह द्रष्टव्य है कि यही बात मनोवैज्ञानिक भी कहा करते हैं कि वातावरण मनुष्य के मस्तिष्क को एक विशेष रूप में ढाल देता है। किन्तु भगवती बाबू के द्वारा चित्रित मनुष्य अपनी मानसिक बुनावट के कारण कोई कार्य करने को बाध्य नहीं है बल्कि वह एक विशेष मनः-स्थिति को लेकर उत्पन्न होता है, वही उसका प्राकृतिक स्वभाव है। परिस्थितियां उस प्राकृतिक स्वभाव को और तीव्र बना देती है जिनसे बाध्य होकर मनुष्य कर्म करता है।

यह तो हुई कर्म की बात, इसके बाद आती है किसी कर्म के मूल्यांकन की बात। हमारी परम्परा कर्म का मूल्याकन अंतरात्मा की आवाज पर अथवा सामाजिक मान्यताओं के आधार पर करती है। यहां याद रखना होगा कि पाप और अपराध अलग-अलग चीजे हैं। जहां तक अपराध का प्रश्न है उसका निर्णय व्यवस्था द्वारा निर्मित सामान्य नियमों के आधार पर होता है किन्तु पाप अपेक्षाकृत सूक्ष्म वस्तु है और उसका संबंध हमारे बाह्य की अपेक्षा हमारे अंतर से है। लेखक नैतिकता के प्रश्न को व्यक्ति तक ही सीमित रखने का इच्छुक लगता है। श्वेतांक कुमारगिरि को पापी समझता है क्योंकि "वह जीवन के नियमों के प्रतिकूल चल रहा है। अपने सुख के लिए उसने संसार की बाधाओं से मुख मोड़ लिया है।"[2] विशालदेव बीजगुप्त को पापी कहता है क्योकि "उसका जीवन संसार के घृणित भोग-विलास मे बीतता है।" पाप का यह मूल्यांकन सामाजिक लाभ-हानि से पाप को नहीं जोड़ता बल्कि वह केवल दृष्टिकोण की विषमता को ही व्यक्त करता है। पाप-पुण्य का संबंध मानवीय नैतिकता से यदि है तो नैतिकता की स्वीकृति का संबध व्यक्ति की इच्छा और चेतना से है। न तो उसके लिए कोई बाध्यता है और न ही सामान्य नियम।

किसी रूढ़ मान्यता से बंधे हुए व्यक्ति को यह सब कुछ मनमना समाधान भी लग सकता है। गोविंदलाल छावड़ा की पीड़ा है—"चित्रलेखा को पाप-पुण्य का विश्लेषण करने वाली कथा मानने पर आलोचक का मन सिहर उठता है क्योंकि उसमें भारतीय दार्शनिक और धार्मिक विचारधारा को झुठलाया गया है।"[3]

१. चित्रलेखा, पृ० १७७
२. चित्रलेखा, पृ० १७६
३. गोविन्द लाल छाबड़ा, सहज सम्बन्धों की काल्पनिक रेखाएं : चित्रलेखा (हिन्दी उपन्यास. सम्पादक : सुषमा प्रियदर्शिनी), पृ० २११

वस्तुत: यह व्यर्थ का भय है और उन्हींको व्याप्त होता है जो योगी कुमारगिरि के पतन को अतिरंजित करके देखते है। किसी कथावस्तु की अच्छाई-बुराई इस बात से प्रकट नहीं होती कि वह भारतीय चिंतन और दर्शन के अनुकूल है अथवा प्रतिकूल। चित्रलेखा में दो विपरीत जीवन-पद्धतियों को दिखलाना लेखक के लिए आवश्यक था। यह कहना अनुचित न होगा कि इस उपन्यास की कथा के गठन में लेखक का कौशल विद्यमान है। दोनों ही जीवन-पद्धतियों को एक-दूसरे की दृष्टि में हीन बतलाकर ही लेखक दृष्टिकोण की विषमता सिद्ध करता है। हां, लेखक वस्तुवादी है अतः वैराग्य के प्रति उसकी सहज अरुचि दिखलाई पड़ती है। यहां तक कि अपने भावुक क्षणों मे योगी कुमारगिरि कहता है, "विराग मनुष्य के लिए असभव है, क्योकि विराग नकारात्मक है। रागी कहलाने वाला व्यक्ति वास्तव में विरागी नहीं है वरन् ईश्वरानुरागी है।"[१] ऊपरी ढंग से सोचने पर वैराग्य का विरोध ही भारतीय दर्शन का विरोध दिखलाई पड़ सकता है किन्तु यह सही नहीं है। जो व्यक्ति किसी वस्तु की श्रेष्ठता का प्रमाण उसका भारतीय होना मात्र मानते हैं उन्हें कम से कम यह संतोष-लाभ तो होना ही चाहिए कि चित्रलेखा में प्रतिपादित नियतिवाद भारतीय विचारधारा है।

चित्रलेखा और ताइस

वर्माजी की चित्रलेखा पर अनातोले फ्रांस की विख्यात कृति 'ताइस' की नकल का आरोप एक समय चर्चा का विषय रहा है। वर्माजी ने स्वयं स्वीकार किया है कि इन दोनों में कुछ समानताएं हैं किन्तु साथ ही उन्होंने यह भी कहा है, "मेरी चित्रलेखा और अनातोले फ्रांस की 'ताइस' मे इतना ही अंतर है जितना मुझमें और अनातोले फ्रांस में।"[२] भगवती बाबू को अनातोले फ्रांस की 'ताइस' अत्यंत पसद आई और उन्होंने कुछ उसी तरह की श्रेष्ठ कृति लिखने की कल्पना करते हुए ही 'चित्रलेखा' की रचना की थी—यह बात तो अवश्य सही है। स्वयं लेखक ने यह माना है कि 'ताइस' पढ़ने के बाद उसके मन में यह भाव आया था कि वह भी ऐसी किताब लिख सकता है।[३] चित्रलेखा का लेखन प्रतियोगिता की भावना से अवश्य हुआ है पर अनातोले फ्रांस का प्रभाव अधिक से अधिक इतना माना जा सकता है कि 'ताइस' की तरह चित्रलेखा भी नर्तकी है और दोनों में ही साधना-भ्रष्ट संन्यासी पात्र के रूप में विद्यमान हैं। इस समानता के अतिरिक्त संभवत: दोनों के शिल्प और कथ्य में कोई समानता नहीं है—विशेष कर कथ्य में जोकि वस्तुतः कृति की आत्मा हुआ करता है। 'चित्रलेखा' में सघनता और सुघड़ता इस

---

१. चित्रलेखा, पृ० १२६

२. चित्रलेखा : भूमिका

३. भगवतीचरण वर्मा, धर्मयुग, २५ अगस्त, १९६३, पृ० १८

प्रतियोगिता के भाव से अवश्य आई होगी पर लेखक ने अपने विशिष्ट जीवन-दर्शन को पाठकों तक पहुंचाने के लिए ही इसकी रचना की है। यदि 'ताइस' ने उसे प्रभावित न किया होता तो शायद 'चित्रलेखा' नामक उपन्यास की रचना न होती किन्तु वह सब कुछ, जो लेखक 'चित्रलेखा' में कहता है, किसी अन्य कृति में कहा जाता। यह स्पष्ट है कि अपना व्यक्तिवादी और नियतिवादी दृष्टिकोण भगवती बाबू बाद की कृतियों में भी दुहराते रहे हैं, जबकि किसी कृति का प्रभाव लेखक की विशिष्ट कृति तक ही सीमित रह सकता है। भगवती बाबू की सभी कृतियां उनके जीवन-दर्शन पर आधारित हैं। उनका व्यक्तिवादी और नियतिवादी चिंतन पहली कृति में ही दिखलाई पड़ जाता है और अंतिम कृति तक दिखलाई पड़ता है। यह निश्चित है कि उनका जीवन-दर्शन अनातोले फ्रांस से प्रभावित नहीं है तब 'ताइस' का प्रभाव चित्रलेखा के किस पक्ष पर माना जाय ?

ताइस मे अनातोले फ्रांस ने ईसाई पादरियों की जड़ता और उनके निवृत्ति-मार्गीय अहम् के प्रति व्यंग्य किया है। अनातोले फ्रांस ने दिखलाया है कि दूसरों को सन्मार्गीय बनाने का थोथा दम्भ पालना गलत है और अन्त में वह टूटता है। 'चित्रलेखा' में भी एक संसारत्यागी संन्यासी का दम्भ टूटता है, शायद चित्रलेखा को ताइस की नकल समझने वालों की दृष्टि इस समानता पर अधिक केन्द्रित हुई है। किन्तु दोनों का मूल अंतर यह है कि अनातोले फ्रांस पापुन्यिश को वास्तव में पतित होता हुआ दिखलाता है क्योंकि वह ईसाई पादरियों के ढोंग का नकाब उतारना चाहता है जबकि भगवती बाबू का कुमारगिरि क्षणिक कमज़ोरी का शिकार होता है, पतित नहीं होता। सबसे बड़ी बात है कि कुमारगिरि की दुर्बलता भी किसी की दृष्टि में महानता हो सकती है—इसे सिद्ध करना भगवती बाबू का उद्देश्य रहा है। भगवती बाबू की विराग से असहमति तथा अनातोले फ्रांस की कृति की ही तरह चित्रलेखा की दार्शनिक मुद्रा यह भ्रम पैदा कर देती है कि चित्रलेखा ताइस से अत्यंत प्रभावग्रस्त है। "चित्रलेखा उपन्यास में चित्रलेखा और बीजगुप्त उत्सर्ग की जिस भावभूमि पर पहुंचे हैं वह नितांत व्यक्तिवादी और स्वप्नशील होते हुए भी उसको नितांत मौलिक बना देता है और चित्रलेखा व्यंग्य कृति के स्थान पर एक आदर्शवादी कृति बन जाती है।"[1]

चित्रलेखा पर ताइस की नकल का आरोप हास्या-स्पद स्थिति तक खीचा गया। ब्रह्मनारायण शर्मा 'विकल' ने चित्रलेखा की भूमिका पर अपनी प्रतिक्रिया इन शब्दों में व्यक्त की, "यदि इनकी विशिष्टता को प्रस्फुटित होने के हेतु 'ताइस' की उपस्थिति की अपेक्षा नहीं थी तो उनके बाद के उपन्यास वैसे क्यों न बने जबकि सभी लेखकों की कला कुशलता एक के पश्चात् दूसरी कृति में और अधिक

---

१. भारतभूषण अग्रवाल : हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव, पृष्ठ १०७

उन्नति करती और निखरती जाती है। बात साफ समझ मे आती है कि वे पाई हुई वस्तु का कल्पना द्वारा सम्पादन करना तो जानते है किन्तु स्वयं से वस्तु का निर्वाचन नही कर पाते।''[१]—यह सीधे-सीधे एक लेखक की सृजन क्षमता और कल्पना की मौलिकता पर अविश्वास करना है। और अविश्वास भी उस लेखक की क्षमता पर जिसने चित्रलेखा के बाद और भी कई उपन्यास हिन्दी जगत् को दिए। इस आरोप के पीछे भी शिल्प की सुघड़ता को ही सब कुछ समझ लेने की गलती विद्यमान है। वैसे जहां तक शिल्प की सुघढता और कथ्य की अन्विति का प्रश्न है ''भूले-बिसरे चित्र'' भगवती बाबू की काफी बाद की कृति है जो उनकी सृजन शक्ति का ठोस प्रमाण है। 'टेढ़े मेढ़े रास्ते', 'सामर्थ्य और सीमा', 'सबहिं नचावत राम गुसाई' जैसे सशक्त उपन्यासों के रचयिता के संबध मे ऐसा कथन भ्रामक से कही अधिक बचकाना है। किसी लेखक की कृति पर अन्य लेखक का प्रभाव बिलकुल असंभव और अस्वाभाविक नहीं है। हिन्दी की कृतियों पर पाश्चात्य प्रभाव से भी इंकार नहीं किया जा सकता किन्तु हर कृति में ऐसा प्रभाव ढूंढ लेना अथवा हलकी-फुलकी समानता के आधार पर ही किसी कृति को मूल्य-हीन ठहराना गैर-जिम्मेदारी है।

तीन वर्ष

'तीन वर्ष' १९३६ में प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास में भगवती बाबू ने आधुनिक समाज का चित्रांकन किया है। इसमें वह संसार चित्रित है जिसमें आज का मनुष्य जीवित है। तीन वर्ष के बाद के प्रकाशित सभी उपन्यास आधुनिक भारतीय परिवेश से जुड़ी हुई समस्याओं को सामने रखते हैं। आधुनिक व्यवस्था ने मनुष्य के अन्दर जो अर्थ-पिपासा भर दी है उसने मानवीय सम्बन्धों मे कैसी खराश उत्पन्न कर दी है इस बात को यह उपन्यास सामने रखता है। आज स्त्री और पुरुष के संबंध भावना पर आधारित न होकर आर्थिक सुविधाओं पर आधारित हो गए हैं। उपन्यास में आर्थिक विषमता और स्त्री-पुरुष संबध का विवेचन और विश्लेषण करना मात्र ही लेखक का उद्देश्य नहीं है। स्त्री और पुरुष के बीच आर्थिक संबंधों के साथ ही अच्छाई-बुराई की परम्परागत मान्यता को लेखक नकारता है। लेखक ने सामान्यतः समाज में प्रतिष्ठित नारियों की तुलना में वेश्याओं को श्रेष्ठ घोषित किया है जो एक क्रांतिकारी कदम कहा जा सकता है।[२]

प्रतिष्ठित वकील सर कृष्ण शंकर की लडकी प्रभा और वेश्या सरोज को तुलनात्मक स्तर पर प्रस्तुत करके भगवती बाबू ने व्यक्त किया है कि भद्र समाज की जो स्त्री विवाह को मात्र आर्थिक समझौता मानती है वह वेश्या का ही रूपा-

---

१. ब्रह्मनारायण शर्मा 'विकल' : हिन्दी उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक मूल्यांकन, पृ० १५६
२. डॉ० रमेश तिवारी : हिन्दी उपन्यास साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १५२

न्तर है। वेश्यावृत्ति का आधार है पैसों के लिए शरीर बेचना अतः भगवती बाबू उस स्त्री को भी वेश्या की ही श्रेणी में रखते है जो आर्थिक सुविधाओं और जीवन की आवश्यकताओं को विवाह की सर्वाधिक महत्वपूर्ण शर्त मानती है। इसी आधार पर उपन्यास का नायक रमेश उपन्यास के अन्त में प्रभा से कहता है, "तुम पुरुष का धन लेती हो पुरुष को अपना शरीर देने के बदले में—है न ऐसी बात और यह वेश्यावृति है—प्रभाजी नमस्कार।" 'तीन वर्ष' की कहानी से लेखक यह सिद्ध करने में सफल हुआ है कि प्रभा जो मात्र अपनी स्थिति के कारण उच्च वर्ग की महिला कही जाती है वास्तव में वेश्या है और सरोज जो वेश्या दिखलाई पड़ती है अपने हृदय से वेश्या नही है। अपने उच्च गुणों के कारण वह सम्माननीय है। लेखक व्यक्त का मूल्यांकन उसके बाहरी स्वरूप और परम्परागत आभिजात्य के आधार पर न कर अपनी व्यक्तिगत विचारधारा के आधार पर करता है।

उपन्यास के पहले भाग की पृष्ठभूमि इलाहाबाद विश्वविद्यालय है। झांसी से इलाहाबाद आया हुआ रमेश शहरी वातावरण से भौचक्का हो जाता है। इलाहाबाद में उसका परिचय कुंवर अजित सिंह से होता है जो जीवन को बिलकुल अलग ढंग से निजी दृष्टि से देखता है। अपनी परम्पराओं और मान्यताओं से बंधे हुए रमेश को जीवन के प्रति एक नए दृष्टिकोण का पता चलता है। अजित के माध्यम से वह समाज के उच्च वर्ग में प्रविष्ट होता है। सर कृष्ण शंकर की लड़की प्रभा के प्रति, जो उसकी सहपाठिन है, रमेश आकर्षित होता है और अपनी दरिद्रता को भूलकर उसे पाने का स्वप्न देखने लगता है। प्रेम के प्रति उसका दृष्टिकोण आदर्शवादी है और वह आर्थिक विषमता को उसमें बाधक नहीं समझता। उसकी दृष्टि में "प्रेम ईश्वरीय है, दो आत्माओं का बंधन है। प्रेम अनादि है, प्रेम अनंत है। प्रेम ही मनुष्य का प्राण है।"[१] अजित बार-बार रमेश को सावधान करता है कि वह प्रभा से प्रेम करके गलती कर रहा है क्योंकि, उसके विचार से, प्रभा का जीवन के प्रति दृष्टिकोण बिलकुल दूसरा है। रमेश को उसकी बात का विश्वास नहीं होता। रमेश प्रभा के प्रेम में इतना डूब जाता है कि बी० ए० में उसे सेकेण्ड डिवीजन मिलता है। रमेश का पागलपन शीघ्र ही समाप्त करने के लिए अजित उसे प्रभा से विवाह का प्रस्ताव करने को प्रेरित करता है। रमेश विवाह का प्रस्ताव लेकर जब प्रभा के पास जाता है तब उसे यह जानकर भयानक आधात पहुंचता है कि प्रभा के लिए विवाह मात्र एक आर्थिक समझौता है। वह उत्तर देती है, "मैं तो विवाह को वह संस्था मानती हूं, जिसके द्वारा पुरुष स्त्री के भरण-पोषण तथा उसकी रक्षा का भार अपने ऊपर लेता है।"[२] अपनी आवश्यकताओं को सर्वाधिक महत्त्व देते हुए वह विवाह-प्रस्ताव यह कहते हुए अस्वीकृत का देती

१. तीन वर्ष, पृ० ५४
२. वही, पृ० १३८

है कि वे बिना विवाह सदा के एक दूसरे दूसरे से प्रेम कर सकते हैं। भावुक रमेश प्रेम और मानवीयता पर से विश्वास खो बैठता है। जब अजित उसकी असफलता पर व्यंग्य करता है तब वह अजित की ही पिस्तौल से अजित पर गोली चला बैठता है। अजित को हल्की चोट आती है किन्तु रमेश शर्मिन्दगी के कारण दूसरे ही दिन इलाहाबाद छोड़कर एक अनिश्चित यात्रा पर निकल पड़ता है।

उपन्यास का यह प्रथम भाग लेखक की विचारधारा को स्पष्ट करने के लिए एक व्यापक पृष्ठभूमि का कार्य करता है। लेखक की व्यक्तिवादी विचारधारा भी इसी भाग मे स्पष्ट होती है। अजित के माध्यम से लेखक का जीवन-दर्शन भी सामने आता है और विभिन्न विचारधाराओं का अंतर उभरता है। इस भाग में अजित का स्वर ही प्रखरतम है। वह मानता है, "प्रत्येक मनुष्य अपने कर्मो का उत्तरदायी है, और जीवन की सफलता अथवा असफलता या अपने सुख-दु:ख का सबसे अच्छा निर्णायक स्वयं व्यक्ति है।"[1] जिस तरह अजित के माध्यम से व्यक्तिवादी दर्शन सामने आता है उसी तरह नियतिवादी दर्शन भी उसी के माध्यम से सामने आता है। इतिहास की नियतिवादी व्याख्या भी इस उपन्यास के प्रथम हिस्से में पहली बार दिखलाई पड़ती है जिसमें लेखक सभी महापुरुषों को नियतिचक्र की कठपुतली स्वीकार करता है।[2]

लेखक के जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त इस खण्ड की विशेषता है इसकी स्वाभाविकता। विश्वविद्यालय के अत्यंत स्वाभाविक वातावरण में कथानक का विकास हुआ है। भगवती बाबू के कुछ परवर्ती उपन्यासों में विचार मंथन ऊपर से थोपा हुआ लगता है जो कथानक से संयुक्त नहीं हो पाता बल्कि नीरस वाद-विवाद के रूप में ही रह जाता है। तीन वर्ष इस दोष से मुक्त है। लेखक के विचार विश्वविद्यालय के छात्रों की स्वाभाविक बहस के दौरान सामने आते है। आधुनिक युग और आधुनिक शिक्षा को ही कोसते हुए लेखक नहीं बैठा रह जाता। "उन्होंने अन्य उपन्यासकारों की भांति पाश्चात्य सभ्यता पर प्रहार करने में ही अपनी प्रतिभा का अपव्यय नहीं किया, बल्कि उन्होंने भारतीय विश्वविद्यालयों में पढ़ने वाले एक सीधे-सादे ग्रामीण विद्यार्थी की वास्तविक स्थिति को तटस्थ रूप में चित्रित करने का प्रयत्न किया है।"[3]

उपन्यास का दूसरा खण्ड अपेक्षाकृत क्षिप्र एवं घटना-प्रधान है—साथ ही संयोगों से भरा हुआ। प्रेम पर से विश्वास खोकर रमेश अपने-आपको शैतान के हवाले कर देता है। अजित के यहां से प्राप्त दो हजार रुपयों को लेकर वह भटकने के लिए निकल पड़ता है। वह बेतहाशा शराब पीने लगता है और

---

१. तीन वर्ष, पृ० ८४

२. वही, पृ० ११३

३. डॉ० बच्चन सिंह : हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद, पृ० १८२

प्रेम को केवल धोखा समझने लगता है। ट्रेन में उसे विनोद नामक व्यक्ति मिल जाता है जो उसे कानपुर, अपने घर आमंत्रित करता है। कानपुर में रमेश विनोद के साथ वेश्याओं के कोठो तक भी जाता है। वहां उसकी भेंट सरोज नामक वेश्या से होती है जो मजबूरी से वेश्या बनी है क्योंकि उसकी मां भी वेश्या थी अतः उसके लिए सभ्य समाज के दरवाजे बंद हो चुके थे। रमेश के व्यवहार से सरोज अत्यंत प्रभावित होती है और उसे प्यार करने लगती है। जब सरोज उसके प्रति कोमल भावनाओं का प्रदर्शन करती है तब वह यह समझता है कि सरोज उसे धनवान समझ कर उससे धन ऐंठने की चाल खेल रही है। सरोज की सच्ची भावनाओं का वह तिरस्कार करता है और अत में एक दिन वह सरोज के लिए पत्र छोड़कर भाग खड़ा होता है। रमेश के वियोग मे सरोज को तपेदिक हो जाता है। जब रमेश वापस नही आता तो वह अखबार में विज्ञापन निकलवा देती है कि वह मृत्यु-शय्या पर है और रमेश से मिलना चाहती है। विज्ञापन पढ़कर रमेश सरोज के पास जाता है और सरोज अपनी सारी सम्पत्ति रमेश को देकर उसके चरणों में दम तोड़ देती है। रमेश के मन मे फिर से मानवीय प्रेम के प्रति विश्वास जी उठता है। वह एक बार फिर इलाहाबाद आता है। उसे धनी जानकर प्रभा उससे विवाह करना चाहती है तब रमेश उसे वेश्या निरूपति करते हुए उसके प्रस्ताव को अस्वीकृत कर देता है।

उपन्यास का यह दूसरा भाग उतना सहज और स्वाभाविक नहीं है जितना कि पहला। यह भाग ऐसी परिस्थितियों के निर्माण में तीव्र गति से समाप्त हो जाता है जिनके माध्यम से लेखक चरित्रगत विषमता का चित्रण करना चाहता है। इस खण्ड से यह भ्रम उत्पन्न हो सकता है कि लेखक वेश्या-समस्या को चित्रित करना चाहता है। जैसा कि ब्रजनारायण सिंह को लगा—"इस प्रकार 'तीन वर्ष' के कथानक में वर्माजी के स्पष्टतः तीन मूल उद्देश्य प्रतीत होते है—पैसे की सर्वव्यापी शक्ति, प्रेम का वास्तविक रूप और वेश्या-सुधार की समस्या।"[१] वस्तुतः वेश्या-समस्या पर सोचना अथवा उसका कोई समाधान प्रस्तुत करना लेखक का उद्देश्य बिलकुल नहीं है। स्वयं लेखक ने कहीं ऐसी मुद्रा ग्रहण नहीं की है। वेश्याओं का चित्रण लेखक ने अपने कथ्य को अधिक सबल बनाने के लिए किया है। उपन्यास के दूसरे भाग की तुलना शरद बाबू के उपन्यास 'देवदास' से भी की गई है। डॉक्टर कुसुम वार्ष्णेय के शब्दों मे, "किन्तु उपन्यास के दूसरे खण्ड में लेखक किसी प्रकार की मौलिकता नहीं दे पाया है। यह खण्ड पूर्णतया शरतचंद्र के 'देवदास' के उत्तरार्ध वाले भाग पर आधारित है। प्रेम में निराश हो देवदास की भांति ही रमेश शराबी और वेश्यागामी बन जाता है।"[२] इस सदर्भ

---

१. ब्रजनारायण सिंह : उपन्यासकार भगवतीचरण वर्मा, पृ० ३०

२. डॉ० कुसुम वार्ष्णेय : चित्रलेखा से सबहिं नचावत राम गुसाईं तक, पृ० ८५

में यह स्मरणीय है कि देवदास और रमेश के शराबी बनने और वेश्या के यहां जाने जैसी स्थूल समानताओं के आधार पर यह कहना गलत है कि यह भाग 'देवदास' पर आधारित है। देवदास उपन्यास का तीन वर्ष पर प्रभाव भगवती बाबू ने स्वयं स्वीकार किया है[१] किन्तु उसपर इसे आधारित नही माना जा सकता। 'देवदास' एक अत्यत मार्मिक प्रेम कहानी है जिसमे देवदास को उसकी समस्त दुर्बलताओं के साथ, अपनी पूर्ण सहानुभूति लेते हुए शरत्चंद्र प्रस्तुत करते हैं। देवदास पढ़कर नहीं लगता कि यह लेखक की रचना है—लगता है कि देवदास जैसा रहा होगा वैसा ही लेखक ने सामने रख दिया है जबकि रमेश स्पष्टतः लेखक की रचना लगता है—विशेष कर दूसरे भाग मे। रमेश को वेश्या तक पहुंचाने का काम भगवती बाबू विशेष उद्देश्य से करते है। देवदास के उत्तरार्द्ध और तीन वर्ष के उत्तरार्द्ध की कथा की परिस्थितियों की थोड़ी-बहुत समानता के बाद भी यह स्पष्ट अनुभव होता है कि दोनों की मूल संवेदना में ही अंतर है।

लेखक ने इस उपन्यास में कथानक के उतार-चढ़ाव और नायक के भटकाव को नियति का खेल चित्रित किया है। रमेश अपने चरित्र के परिवर्तन को कहीं-कही अपनी पशुता स्वीकार करता है तो कहीं कहता है, "मेरे विचित्र आदमी बन जाने मे मेरा दोष तनिक भी नही है, यह तो मै न कहूंगा, पर अधिकतर परिस्थितियों का दोष है।"[२] रमेश को जीवन मे अचानक सुविधाएं मिलती है। पूरे कथानक में ऐसा होता है किन्तु इन संयोगों को भी लेखक ने भाग्य के रूप मे चित्रित किया है। अजित रमेश को जितनी सहायता करता है वह सब नियति मानकर करता है—यह कहकर कि उसे भी सब कुछ भाग्यवशात् मिला है। नायकों को ऐसी सुविधा, भाग्य के नाम पर लेखक अपने बाद के उपन्यासों मे भी जुटाता रहा है जोकि पाठक के गले से शायद ही कभी उतर पाई हो। नियतिवाद की आड़ में कथानक मे ऐसी सस्ती रेवड़ियां भगवती बाबू ने काफी बांटी हैं।

टेढ़े-मेढ़े रास्ते

सन् १९४६ में प्रकाशित 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' भगवती बाबू का विशुद्ध राजनैतिक उपन्यास है। विशाल कलेवर का यह उपन्यास हिन्दी में अपने ढंग का है। हिन्दी में ऐसा कोई दूसरा उपन्यास नहीं है जिसमें विभिन्न राजनैतिक वादों, विचार-

---

१. "तीन वर्ष के दूसरे खण्ड में शरत बाबू के देवदास की छाप, यदि ध्यान से देखा जाय तो मिल सकती है।"
डॉ० कुसुम वार्ष्णेय : चित्रलेखा से सबहिं नचावत राम गुसाई तक, परिशिष्ट—२ (वर्माजी के कुछ पत्र) पृ० २२१-२२२

२. तीन वर्ष, पृ० १८८

धाराओं तथा राष्ट्रीय हलचल को ही विशुद्ध कथ्य का स्थान प्राप्त हो सका हो। यों प्रेमचंद ने भी अपने उपन्यासों में राजनैतिक समस्याएं उठाई हैं पर उन्हें उपन्यासों में प्रमुखता नही प्राप्त हुई है बल्कि वे सभी उनके द्वारा प्रस्तुत की गई सामाजिक समस्याओं की अंग भर थी। यशपाल ने अवश्य अपने उपन्यासो में राजनैतिक समस्याओं का चित्रण किया है पर वे अपने विशिष्टवाद के आधार पर ही निष्कर्ष निकालते हैं जबकि टेढ़े मेढ़े रास्ते मे केवल विभिन्न वादो का 'क्रास-एक्जामिनेशन' है। इसे हम चाहें तो राजनैतिक शिराओं का 'मेजर-आपरेशन' भी कह सकते हैं। बिना किसी वाद-विशेष की ओर झुके लेखक एक परिवार के कुछ सदस्यों के माध्यम से सन् १९३० के आस-पास के भारतीय परिवेश को उपन्यास में समेटता है। उपन्यास के संबंध मे भगवती बाबू ने स्वयं लिखा है, "वह युग प्रगतिशील साहित्य के उफान का था, समाजवादी विचार-धारा एक दल विशेष में केन्द्रित होकर अपने को देश पर आरोपित कर रही थी। इन विचारधाराओं को टेड़े मेढे रास्ते में गाधीवादी विचारधारा का प्रतिपादन दीखता था, यद्यपि सही अर्थों में उसमें किसी भी विचारधारा का प्रतिपादन नही था, वह तो उस काल में प्रचलित सभी विचारधाओं के परिवेश में मानवीय संवेदना एवं मानवतावाद का आरोपण भर था।"[१] लेखक ने पाठक को किसी निष्कर्ष पर पहुंचा देने की मसीहाई मुद्रा कही भी नही अपनाई है अतः यह खतरा अवश्य है कि हर राजनैतिक पार्टी इसे चाहे तो अपना समर्थन और चाहे तो विरोध समझ सकती है।

'योग्यतम ही जीवित रहता है' सिद्धांत के कट्टर समर्थक पंडित रामनाथ तिवारी बानापुर के ताल्लुकेदार है जो अग्रेज सरकार और अपने हितों को एक ही समझते है अतः चाहते हैं कि अंग्रेज सरकार भारत मे हमेशा कायम रहे। जब उन्हें यह ज्ञात होता है कि उनका बड़ा लड़का दयानाथ कांग्रेसी हो गया है तब वे उसे सलाह देते हैं कि वह कांग्रेस छोड़ दे क्योंकि कांग्रेस जमीदारों की समर्थक ब्रिटिश सरकार की विरोधी है। जब दयानाथ अपने सिद्धातों पर आस्था व्यक्त करता है तब वे उसे अपना विरोधी घोषित करते हुए घर से निकाल देते हैं। दयानाथ कानपुर कांग्रेस का डिक्टेटर बन कर जेल जाता है तब रामनाथ प्रयास करते हैं कि दयानाथ की पत्नी और बच्चे उनके साथ बानापुर में रहे पर दयानाथ की पत्नी इसके लिए तैयार नहीं होती। इस तरह दयानाथ से उनका संबंध समाप्त हो जाता है। उनका दूसरा लड़का उमानाथ जर्मनी से पढ़कर लौटता है—पूरी तरह कम्यूनिस्ट बनकर ! जर्मनी में वह दूसरा विवाह भी कर लेता है जिसका पता केवल उसके छोटे भाई प्रभानाथ को रहता है और बाद मे उसकी पत्नी महा-

१. कादम्बिनी, नवम्बर, १९७३, पृ० ७१

लक्ष्मी को भी हो जाता है। वह भारतवर्ष में साम्यवादी आंदोलन की संभावनाओं का सर्वेक्षण करता है और कानपुर में दयानाथ के यहां रहकर साम्यवाद के प्रचार की भूमि तैयार करता है।

उनका छोटा लडका प्रभानाथ वीणा नामक युवती के प्रभाव में आकर, क्रांतिकारियों के दल मे शामिल हो जाता है। अपने पिता के स्कूल में ही वह अपनी प्रेमिका वीणा को हेड मिस्ट्रेस बनवाकर कलकत्ता से उन्नाव बुलवा लेता है। उपन्यास के कथानक मे गतिशीलता प्रभानाथ के कार्यो से ही आती है। ट्रेन में आते हुए सरकारी खजाने पर डाका डालते हुए प्रभानाथ घायल हो जाता है। अपने चाचा श्यामनाथ, जो एस० पी० है, के द्वारा बचाए जाने का प्रयास किए जाने पर भी वह पकड़ा जाता है। श्यामनाथ किसी तरह उसे मुखबिर बनने के लिए राजी कर लेते है पर रामनाथ के स्वाभिमान को यह स्वीकार नहीं होता कि उनका लड़का मुखबिर बने। जेल की भेंट के समय अनजाने ही वे प्रभानाथ को सिद्धांत पर अड़े रहने की प्रेरणा दे देते हैं। प्रभानाथ को टार्चर से बचाने के लिए वीणा, उसकी पत्नी का स्वांग भर कर, जेल में उसे पोटेशियम साइनाइड दे देती है फिर सी० आई० डी० इन्सपेक्टर विश्वम्भर दयाल को गोली मार कर स्वयं आत्महत्या कर लेती है। श्यामलाल इस झटके को सहन नही कर पाते—अतः पागल हो जाते हैं।

उमानाथ की गतिविधियां बढ़ती हैं तो उसके नाम वारंट निकलता है। उमानाथ भारत छोडने के लिए अपने पिता से पैसे मांगता है पर पंडित रामनाथ यह कहकर रुपया देने से इकार कर देते हैं कि साम्यवादी आंदोलन उनके अपने वर्ग को समूल नष्ट करना चाहता है अतः किसी भी साम्यवादी को मदद करके वे अपने पैरों पर कुल्हाड़ी नहीं मारेंगे। उमानाथ को उसकी पतिव्रता पत्नी से ही सहायता मिलती है, जो अपने सारे जेवर उसे दे देती है। पत्नी को प्रतीक्षा करने के लिए कहकर वह हिन्दुस्तान छोड़ देता है। दयानाथ कांग्रेस के सभापति पद के के लिए चुनाव लड़ता है किन्तु अपनी अहम्मन्यता के कारण किसी से समझौता नहीं करता, फलस्वरूप वह चुनाव हार जाता है। हार को वह अपने त्याग का अपमान समझता है अतः कांग्रेस छोड़ देने का निर्णय लेकर वह अपने पिता के पास लौटता है किन्तु पंडित रामनाथ उससे कहते हैं कि एक बार व्यक्ति को आगे बढ़कर पीछे नही लौटना चाहिए। साथ ही वे यह भी कहते हैं कि उसे वे एक बार त्याग चुके हैं अतः वापस अपने घर में उसे फिर स्वीकार नहीं करेंगे। पंडित रामनाथ तिवारी अपने अहम् को छाती से चिपकाए घर में अकेले रह जाते हैं। अत्यत उद्विग्न अवस्था में जब वे अपने पोते को देखते हैं तब उन्हें ज्ञात होता है कि वे टूट चुके हैं। उपन्यास का अंत इस तरह होता है—और उस समय उन्हें अनुभव हुआ कि दूसरों को उनके सहारे की जरूरत नहीं रही। अब उनको

उस बच्चे के सहारे की जरूरत है। उस बच्चे को छाती से चिपटाते हुए उन्होंने कहा, "बेटा—बेटा, इस बूढ़े का साथ मत छोड़ना।"[1]

इस मूल कथा के साथ ही अहिंसा को व्यावहारिक स्तर पर जीने वाले झगडू मिश्र और क्रांतिकारी जीवन-दर्शन से अपने को आत्मसात् करने के बाद भी उसकी असार्थकता का अनुभव करने वाले मनमोहन की कहानी भी उपन्यास की महत्त्वपूर्ण घटनाएं हैं, जो न केवल वैचारिक स्तर पर उपन्यास को गरिमा प्रदान करती हैं बल्कि कथानक की रोचकता, गति और सार्थकता को बढ़ाती है।

इस उपन्यास को पढ़कर यदि यह मान लिया जाय कि यह सभी राजनैतिक विचारधाराओं को गलत सिद्ध करने के लिए ही लिखा गया है तो निश्चय ही यह वादों से बंधे लोगों को चोट पहुंचा सकता है—और ऐसा हुआ भी है। 'सीधा-सच्चा रास्ता' जैसे उपन्यास की रचना इसकी प्रतिक्रिया के रूप में ही हुई है। किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' वास्तव में अपनी समग्रता में नियतिवाद को अंतःसलिला की तरह छिपाए हुए है। समस्त राजनैतिक वाद-विवाद और हलचले देश के एक विशिष्ट समय को सामने रखने के लिए चित्रित हुई हैं। इन घटनाओं को भी लेखक अंत में नियति का विधान मान लेता है।

एक आलोचक के मतानुसार "इस सूत्र-विभाजन और उसके विस्तार तत्त्वों से यह आशय नहीं है कि उसका सीमा-प्रसार वहीं तक है।"[2] स्वयं लेखक का यह दावा कभी नहीं रहा है कि वह जो प्रस्तुत कर रहा है वही सत्य है। दरअसल उपन्यास का शीर्षक लोगों को भड़काता है। उसमें लोगों को लेखक का 'ईगो' दिखलाई पड़ता है। लेखक किसी विशिष्ट विचारधारा पर आस्था नहीं रखता। वास्तव में सारी राजनैतिक विचारधाराएं एक दूसरे को गलत समझती हैं। लेखक स्वयं समस्याओं का निदान किसी 'इज़्म' मे नहीं देखता 'बड़े-बड़े बौद्धिक प्राणियों, समाज शास्त्रियों, राजनीतिज्ञों और दार्शनिकों को भी कहीं न कहीं यह स्वीकार करना पड़ता है कि इन शाश्वत समस्याओं का निदान भावात्मक ही हो सकता है। राजनीतिक अथवा सामाजिक दर्शन इनके निदान की ओर एक इंगित के रूप भर में ही आ सकता है।"[3] लेखक मानता है कि यदि मनुष्य में अहम् है तो सभी रास्ते त्रुटिपूर्ण है। चाहे दयानाथ हो या उमानाथ अथवा प्रभा और मनमोहन—ये सभी अहम् से भरे हैं। वस्तुतः 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' का सारा कथानक अहम्मन्यता के टकराव की गाथा है। सभी पात्र इतिहास और समय को बदलने का दम भरते हैं पर सब कुछ होता है अदृश्य के माध्यम से—एक ऐसी शक्ति के

---

१. टेढे मेढे रास्ते, पृ० ५४६
२. डॉ० प्रताप नारायण टंडन : हिन्दी उपन्यास में कथाशिल्प का विकास, पृ० ३२३
३. भगवतीचरण वर्मा : साहित्य की मान्यता (कहानी का प्रमुख रूप—उपन्यास), पृ० १२७

द्वारा जो दिखलाई नहीं देती। एक ही रास्ता है जो तय है। जो होना है वह होकर रहेगा और किसी भी राजनैतिक वाद के द्वारा उसे बदला नही जा सकता। दुविधा मे पड़े हुए रामनाथ तिवारी सोचते है—"उनके मन मे आ रहा था कि एक बार वे अपने विपक्षी को देख पाते। इन परिस्थितियों के चक्र को चलाने वाले के सामने होकर उसकी इच्छा वे जान पाते—उसके कार्यक्रम को वे समझ पाते।"[१]

भगवती बाबू मानते हैं कि विभिन्न राजनैतिक और सामाजिक कार्यक्रम भी नियति से ही परिचालित है। मनमोहन, जिसके माध्यम से उन्होने बहुत कुछ कहा है, यही तर्क देता है—"हम सब केवल इतना ही जानते है कि हम चल रहे हैं, और यही हमारी मुसीबत है। यही मुसीबत रही है और यही मुसीबत रहेगी। अगर हम इतना जान सकते कि हम कहां चल रहे है तो अधिक अच्छा होता। लेकिन—लेकिन शायद यह संभव नही है।"[२] यह बात सरलता से देखी जा सकती है कि मूलतः राजनैतिक वाद-विवादों से भरे उपन्यास में भी छोटी-छोटी बातों की जिम्मेदारी 'विधि के विधान' पर डाली गई है।

'टेढे-मेढ़े रास्ते' मे आदर्शों को परखने का उपक्रम अत्यत व्यावहारिक धरातल पर करते हुए व्यक्तिवाद का महत्त्व सिद्ध किया गया है।"[३] हर व्यक्ति का अपने आदर्श पर विश्वास करना व्यक्तिवादी दर्शन का आधार है। इस उपन्यास का हर पात्र अपने विचार के प्रति समर्पित है और इसीलिए वह दूसरे की दृष्टि में और दूसरे उसकी दृष्टि मे गलत हैं। रामनाथ तिवारी को लेखक की सबसे अधिक सहानुभूति मिली है और उन्ही में हम व्यक्तिवाद का प्रखर रूप देखते हैं। सबल और योग्य व्यक्ति जिएगा और शासन करेगा—व्यक्तिवाद की इस विचारधारा पर रामनाथ तिवारी का अंधविश्वास है। वे झगडू मिश्र से कहते हैं, "मुझे केवल एक बात का मोह है, वह है अपना, अपनी आत्मा का, अपने सिद्धांत का और अपने विश्वास का। जो कुछ मैं करता हूं वही ठीक है, जो कुछ मैं सोचता हूं वही सत्य है।"[४]

राजनैतिक हलचलों और वाद-विवादों से पूर्ण जितने उपन्यास भगवती बाबू ने लिखे हैं उनमें सबसे अधिक गहनता, रोचकता और व्यापकता 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में है किन्तु इसके कथानक में कसावट की कमी है। वार्तालाप और परिस्थितियों तथा सिद्धांतों के विश्लेषण का मोह लेखक को दिग्भ्रमित कर देता है और वह मूल धारा को छोड़कर बीच-बीच में इधर-उधर बहने लगता है। कहीं-कही तो

१. टेढ़े-मेढ़े रास्ते, पृ० ५३८
२. टेढ़े-मेढ़े रास्ते, पृ० ३८८
३. सर्वजीत राय : हिन्दी उपन्यास साहित्य में आदर्शवाद, पृ० १३१
४. टेढ़े-मेढ़े रास्ते, पृ० ३००

अस्वाभाविक स्थिति में भी सैद्धांतिक चर्चा होती ही रहती है। राजनैतिक सिद्धांतों की चर्चा के मोह में भगवती बाबू ने कथानक पर से अपनी पकड़ कई बार ढीली कर दी है। व्यर्थ के चिंतन ने कही-कही प्रवाह को नष्ट किया है। पंडित रामनाथ तिवारी तथा अन्य पात्र भी जब किसी विषय पर सोचते या बोलते हैं तो कथा का प्रवाह भंग होता है। कभी-कभी लगता है कि लेखक किसी विषय पर कोई गहरी बात कहने को है पर वह केवल सामान्य वार्तालाप होकर ही रह जाती है। ऐसे समय पाठक को व्यर्थ विस्तार और पात्रों की दार्शनिक मुद्रा भर हाथ लगती है। अपनी आदत के अनुसार बीच-बीच में भगवती बाबू लतीफेबाजी और प्रहसन में भी फसे हैं। मारीसन और विल्ली का प्रकरण तथा ब्रह्मदत्त की बीमारी की घटना रोचक प्रसग हो सकते हैं किन्तु कथानक में उनकी स्थिति कोई अर्थ नहीं रखती। निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते है कि कुछ दुर्गुणों और कई गुणो से युक्त यह उपन्यास हिन्दी की अनूठी कृति है।

आखिरी दांव

१९५० में प्रकाशित उपन्यास 'आखिरी दांव' मानवीय नियति की अस्थिरता को दर्शाता है। यों उपन्यास में पूजीवादी युग में पनपती अर्थ-पिपासा पर काफी चर्चा है और कई स्थलों पर लेखक आधुनिक युग के सामाजिक मसलों, विशेष कर स्त्री-पुरुष संबंध की नैतिकता की समस्या, से उलझता दिखलाई पड़ता है। किन्तु वास्तव में यह सब 'बाइ-द-वे' है अथवा ऊपरी। 'आखिरी दांव' के कथानक के सभी उपकरण जीवन की अस्थिरता और अनिश्चिता को सिद्ध करते हैं। उपन्यास पढ़ने के बाद पहली प्रतिक्रिया आधुनिक युग की पूजीवादी व्यवस्था के प्रति विरक्ति अथवा आक्रोश के रूप मे नहीं होती बल्कि कुछ इस रूप मे होती है कि आज के युग में भी, जबकि मध्य युग की तरह व्यक्ति का जीवन घटना-प्रधान और संयोग-बहुल नही है, मनुष्य का जीवन जुए के एक दांव की तरह अनिश्चित है। यह अजीब बात है कि भगवती बाबू ने अपने साहित्य में महाजनी-सभ्यता के विरोध मे काफी कुछ कहा है; इस सभ्यता के प्रति अपनी घृणा को उन्होंने अधिक तीखा बनाकर प्रस्तुत करने का प्रयास किया है—पर इस गम्भीर प्रश्न को वे अपने साहित्य में युगीन समस्या बनाकर प्रस्तुत नही कर सके है। अपने नाटक 'रुपया तुम्हें खा गया' में भी उन्होंने इसी संकट को प्रस्तुत किया है किन्तु उसमे भी यह गम्भीर संकट अंत में एक व्यक्ति के जीवन की एक घटना मात्र बनकर रह गया है। अर्थ-पिशाच के चंगुल में फसे हुए पात्रों को कटघरे मे खड़ा कर अथवा पश्चात्ताप से युक्त उनकी आत्म-स्वीकारोक्ति को ही भगवती बाबू उपलब्धि मान लेते हैं। 'आखिरी दांव' सामाजिक समस्याओं का आभास मात्र देता है किन्तु वह नियतिवादी जीवन-दर्शन को व्यक्त करने वाली एक सामान्य कहानी है जो सिद्ध

करती है कि मनुष्य का जीवन एक जुए की तरह है—पूर्ण अस्थिर और किसी हद तक दूसरे के हाथ मे !

कथा का प्रारम्भ होता है उत्तर प्रदेश के एक गाव से जहां "रामेश्वर अपने खेत से लौट रहा था। अनाज कट चुका था और उसी दिन सयोग से शहर के एक व्यौपारी ने आकर उसके खेत से ही उसका अनाज खरीद लिया था। रामेश्वर प्रसन्न था, उसकी पैंट मे पांच सौ रुपये थे।" किन्तु उसी रात रामेश्वर गाव के बाहर से आए हुए जुआडियों के साथ जुआ खेलता और न केवल पांच सौ रुपये हारता है बल्कि अपनी जमीन और मकान भी दांव पर हारकर गांव को छोड़ देता है। दूसरे परिच्छेद में लेखक नायिका चमेली के कष्टप्रद गृहस्थ जीवन की झलक बतलाता है। इस परिच्छेद का अत इस वाक्य से होता है "और रतनू के साथ चमेली एक अदृश्य में कूद पडी।"[१] वस्तुत: ये दो परिच्छेद कथानक की नियतिवादी बुनावट का पूर्वाभास देते हैं। बंबई में रतनू चमेली को धोखा दे देता है और रामेश्वर उसे कुछ अजीब-सी स्थिति मे उबारकर अपने घर ले आता है। अपनी भूमि से उखड़े हुए ये दो व्यक्ति एक-दूसरे का सहारा बनने का प्रयास करते है और एक-दूसरे के प्रति अंत तक समर्पित रहते हैं।

रामेश्वर तगादगीर की नौकरी करता है। वह चमेली को एक पान ठेला खुलवा देता है। चमेली के जीवन में सेठ शिवकुमार और राधा का आना एक मोड़ उत्पन्न करता है। राधा का सुविधापूर्ण जीवन चमेली के अन्दर पैसों की तृष्णा को जन्म देता है। यह तृष्णा संक्रमणशील होकर रामेश्वर को भी बहकाती है। वह सट्टा खेलता है और अपने सेठ के चार हजार रुपये उसमें हार जाता है। चमेली को शिवकुमार की असली नीयत का पता है अत: वह फिल्म कम्पनी में नहीं जाना चाहती किन्तु रामेश्वर को जेल जाने से बचाने के लिये वह हिरोइन बनना स्वीकार कर लेती है। पाठक की उम्मीद के बहुत पहले ही चमेली शिवकुमार के आगे समर्पण कर देती है। इस बात को वह रामेश्वर के सामने स्वीकार भी करती है। रामेश्वर की सरल ग्रामीण आत्मा को एकाएक लगता है कि पैसा ही संसार में सबसे बड़ी शक्ति है और उसे किसी भी तरह प्राप्त करना चाहिए, चाहे उसके लिए शरीर और आत्मा ही क्यों न बेचना पड़े। अपने निश्चय को वह कार्य रूप में परिणत करने के लिए रघुनाथ दादा का तबेला खरीदता है और तबेले की आड़ में नाजायज़ शराब बेचने और जुआ खिलवाने का कार्य करता है।

चमेली धीरे-धीरे नहीं बल्कि अपनी पहली फिल्म के बाद ही सर्वाधिक प्रसिद्ध नायिका बन जाती है और धीरे-धीरे स्टूडियो की मैनेजिंग डाइरेक्टर और शेयर होल्डर भी। किन्तु उसकी आत्मा को शान्ति नहीं मिलती और

---

१. आखिरी दांव पृ० १४

वह निरंतर प्रयास करती है कि किसी तरह वह और रामेश्वर अपने-अपने धन्धे को छोड़कर, केवल एक दूसरे के होकर शांत जीवन बिताएं। चमेली के बार-बार आग्रह करने पर रामेश्वर बंबई छोड़ने को तैयार हो जाता है। जिस दिन वे बंबई छोड़कर जानेवाले थे उसकी एक रात पूर्व उसके जीवन में बड़ी तीव्रता से परिस्थितियां बदलती हैं। सेठ शीतल प्रसाद चमेली को हस्तगत करने की नीयत से रामेश्वर के लिए जाल फैलाता है। चमेली को वह रोक रखना चाहता है किन्तु चमेली गोली मार कर उसकी हत्या कर देती है। जब चमेली रामेश्वर को सूचना देने उसके तबेले पहुंचती है तब रामेश्वर अपनी कमाई हुई राशि से बंबई में आखिरी बार जुआ खेलने बैठ चुका था। चमेली उससे बार-बार कहती है कि पुलिस आ रही है अतः वह अपना बचाव करे पर रामेश्वर पागलों की तरह जुआ खेलता है। जब वह अपना आखिरी दांव चलता है तभी पुलिस आ जाती है। चमेली दूसरे कमरे में, गिरफ्तार होने के भय से, अपने को गोली मार कर आत्महत्या कर लेती है। रामेश्वर निराश भाव से आत्म-समर्पण करके पुलिस सार्जेण्ट से कहता है, "ले चलिए सार्जेण्ट साहब, आज मैं जिन्दगी का आखिरी दांव हार चुका हूं, ले चलिए"

अपने आखिरी वाक्य को उपन्यास के शीर्षक से जोड़कर लेखक नियति की सत्ता की सर्वोच्चता को स्वीकार कर लेता है। कथानक में सामाजिक प्रतिबद्धता नहीं है बल्कि एक व्यक्ति के जीवन के उतार-चढ़ाव को व्यक्त करने की उत्सुकता है। यह उत्सुकता इतनी तीव्र है कि जिस अर्थ-लोलुप ससार को लेखक विशदता से कहानी में अंकित करता है उसका प्रभाव मंद पड़ जाता है। पूजीवादी विकृत व्यवस्था से लेखक की असहमति अत्यंत स्पष्ट है। यहां तक कि लखपती सेठ शिवलाल का परिचय लेखक पहले घृणा के भाव से देता है—"शिवलाल लखपती था, लेकिन वह लखपती बना था अपने उचक्केपन से। जाल, फरेब, झूठ, बेईमानी इन सब गुणों में वह परंगत था। समाज में वह बड़ा शरीफ गिना जाता था, उसके दो मकान थे, कपड़े की एक दुकान थी। सभा-सोसाइटियों में वह सदा आगे रहता था। और रात के समय वह शराब पीता था, वेश्यागमन करता था, जुआ खेलता था।"[1]

पैसा कमाने की बढ़ती हुई प्रवृत्ति के प्रति लेखक की कटुता उपन्यास में कई स्थलों पर प्रकट हुई है—"इस बबई नगर में सभी रुपया पैदा कर रहे हैं—शरीर बेचकर, आत्मा बेचकर। जो शरीर बेचकर रुपया नही पैदा कर सकते, वह आत्मा बेचकर रुपया पैदा कर रहे हैं—और आत्मा का मूल्य शरीर से कहीं ऊपर है।"[2] किन्तु पूजोवादी व्यवस्था और उससे उत्पन्न अर्थ-पिशाच के प्रति केवल असहमति,

१. आखिरी दांव : पृष्ठ ३१
२. वही, पृष्ठ १७५

कटुता या विरक्ति ही दिखलाई पड़ती है, उसके प्रति आक्रोश न तो लेखक में दिखलाई पड़ता है और न उपन्यास के पात्रों में। बल्कि इसके ठीक विपरीत उस व्यवस्था के सामने एक असहाय समर्पण ही दिखलाई पडता है। अर्थ-पिशाच के क्रूर पंजे मे फंसे हुए पात्र केवल हाथ-पैर फड़फड़ाते हैं। चमेली कहती है, "हमलोगों को धन का पिशाच न जाने कहा का कहां ले आया। उसकी भयानक पकड़ मे आ चुके हैं हम दोनों, उस पकड़ से बचना गैर मुमकिन है।"[1] वस्तुतः यह तर्कहीन 'सरेण्डर' है। परिस्थितियों के प्रवाह मे बहते हुए अपनी असहायता की स्वीकारोक्ति है।

वास्तव मे मनुष्य की विवशता को दर्शाना ही लेखक का अभीष्ट है। अप्रत्यक्ष रूप से उपन्यास यह स्वीकार करता है कि जीवन में छोटी-मोटी घटनाएं होती ही रहती है—मानवीय रिश्ते भी इनमें शामिल है। रिश्तों का बनना-टूटना जीवन की बहुत बड़ी अथवा महत्त्वपूर्ण घटना नही है। चमेली के जीवन की विसंगतियों के लिए रामेश्वेर कहता है, "अरी छोड़ भी इस बात को, यह जिन्दगी का रोना है। जो कुछ भाग्य में बदा है वह होकर ही रहेगा।"[2] तात्पर्य यह है कि जीवन की छोटी-मोटी घटनाओं की बिसात ही क्या है जब समस्त जीवन ही भाग्य का एक बड़ा प्रवाह है। यहां सब कुछ जुए के खेल की तरह दांव पर लगा हुआ है।

उपन्यास के कथातत्त्व मे तो नियति की प्रबलता दिखलाई पड़ती है, शिल्प पर भी नियतिवादी चिंतन का प्रभाव है। जब भी कथा में कोई 'हेयर पिन' मोड़ आता है उसका आभास पात्रों को किसी न किसी रूप में होता है और इस मोड़ को परिस्थितियों की अनिवार्य परिणति के रूप में चित्रित न करके भाग्य के खेल के रूप मे चित्रित किया जाता है। चमेली रामेश्वर से कहती है, "जाने क्यों मेरा मन बड़ा उदास है। मुझे ऐसा लगता है मानो विपत्ति के बादल हमारे जीवन पर घिरते आ रहे हैं।"[3] और इसी के बाद किशोर के द्वारा उसके चारों ओर षडयंत्र का एक जाल बुना जाता है। कथानक की चरम सीमा तक पहुंचने के पहले भी बीसवें परिच्छेद का प्रारम्भ इस तरह होता है, "उस दिन चमेली जब सोकर उठी, वह बहुत उदास थी। वैसे उसकी उदासी का कोई कारण न था, लेकिन उसने अपने प्राणों में एक तरह की आशंका का अनुभव किया।"[4]—इस तरह के अतर्क्य पूर्वाभास कथानक की पूरी तरह एक ही व्यक्ति के जीवन तक सीमीत कर देते हैं जिसमे सामाजिक समस्या के विस्तार के लिये स्थान नहीं रह जाता। आखिरी दांव में अर्थ-पिशाच से उत्पन्न मानवीय संकट की चर्चा अवश्य है पर उस संकट की बात को सघनता नही प्राप्त हो सकी है।

---

१. आखिरी दांव, पृष्ठ १३५

२. वही, पृष्ठ १३६

३. वही, पृष्ठ १८६

४. वही, पृष्ठ २५८

प्रौढ़ता के बिन्दु पर

अपने खिलौने

१६५७ में प्रकाशित भगवती बाबू के उपन्यास 'अपने खिलौने' ने हिन्दी उपन्यास-क्षेत्र की एक बड़ी कमी को पूरा किया था। प्रारम्भ से ही हिन्दी उपन्यास साहित्य में हास्य-व्यंग्य की कमी रही है। विदेशी भाषाओं मे तथा उर्दू, बंगला और मराठी जैसी भारतीय भाषाओ के कथा-साहित्य में विशुद्ध हास्य तथा हास्य-व्यंग्य की समृद्ध परम्परा रही है किन्तु हिन्दी में विशुद्ध हास्य-व्यंग्य पर आधारित अच्छी रचनाओं का अभाव रहा है। जो थोड़े बहुत हास्य-व्यंग्य उपन्यास प्राप्त थे वे स्तरहीन थे। 'अपने खिलौने' एक स्तरीय हास्य-व्यंग्य उपन्यास के रूप में महत्वपूर्ण है। वर्माजी के अन्य उपन्यासों की तरह न तो अपने खिलौने में कोई बड़ा उद्देश्य है और न बड़ी-बड़ी बातें। सुगठित और संतुलित कथानक वाले इस उपन्यास से यह सिद्ध होता है कि एक अच्छे उपन्यास के लिए बहुत बड़े घोषित उद्देश्य का होना आवश्यक नहीं है। 'अपने खिलौने' न केवल भगवती बाबू के उपन्यासों में बल्कि सम्पूर्ण हिन्दी उपन्यास साहित्य में विशिष्ट स्थान रखता है। अपने को कला और संस्कृति का ठेकेदार समझने वाले वर्ग का खोखलापन बड़ी मनोरंजक शैली में इस कृति के माध्यम से सामने आता है। रियासत के युवराज, मिल ओनर, उच्च सरकारी अधिकारी, कलाकार, साहित्यकार, फिल्म प्रोड्यूसर और इनके आस-पास मंडराने वाले 'पैरासाइट्स' की दुनिया इस उपन्यास में एकबारगी जीवित हो उठी है। समाज के उच्च वर्ग की महिलाओं की नज़ाकत, ऊंची शिक्षा के बावजूद उनका बचकाना स्वभाव, उनकी अस्थिरता—सभी को लेखक हास्य के माध्यम से व्यक्त करता है। इस उपन्यास में व्यक्त हास्य के पीछे अत्यंत सूक्ष्म व्यंग्य का हथियार भगवती बाबू छिपाए हुए हैं।

जयदेव भारती की सुन्दर और सुशिक्षिता पुत्री मीना भारती उच्च समाज की पार्टियों की रौनक है। मिल ओनर अशोक से उसका विवाह करीब-करीब तय है। अशोक की विधवा बुआ भी सभ्य समाज में काफी 'पापुलर' हैं। उनमें ढलती जवानी के साथ-साथ धन का आकर्षण है जिसमें मीना का ममेरा भाई रामप्रकाश बंधा हुआ है। ये सभी व्यक्ति मिलकर कला भारती नामक संस्था खोलने का प्रयास करते हैं। संस्था खोलने के पीछे सभी के अपने-अपने स्वार्थ हैं। अचानक इन लोगों के शांत जीवन में यशनगर का युवराज वीरेश्वर प्रताप, जो फ्रास में भारतीय राजदूत का प्रथम सचिव है, हलचल की भांति आ जाता है। युवराज का प्रेम जीतने के लिए अन्नपूर्णा और मीना में होड़ लग जाती है। दोनों के प्रेमी

अशोक और रामप्रकाश काफी व्यग्र हो जाते है। दोनों ही अपनी प्रेमीकाओ को प्राप्त करने के लिए क्या-क्या उछल-कूद करते है इसे लेखक ने अत्यन्त रोचक ढग से प्रस्तुत किया है।

युवराज की पार्टी में सज-धजकर जाने को तैयार मीना के सेंट में अशोक चुपके से 'कॉड लिवर आयल' मिला देता है। दुर्गन्ध के कारण पार्टी में लोगों के द्वारा प्रकट की गई विरक्ति से नाजुक-मिजाज मीना को ऐसा मानसिक झटका लगता है कि वह बीमार पड जाती है। अपनी तबियत सुधारने के लिए तथा कला भारती का प्रचार करने के लिए मीना और अन्नपूर्णा रामप्रकाश तथा शायर 'जखमी' के साथ भ्रमण करने के लिए निकल पड़ती है। लखनऊ में फिलम डायरेक्टर सैदा मीना को हिरोइन बनने का आमंत्रण देता है। ट्रेन मे सैदा और चेट्टियार मीना से हिरोइन बनाने की पूरी कीमत वसूलने का प्रयास करते हैं किन्तु अन्नपूर्णा के द्वारा पिस्तौल से गोली चलाने पर दोनों को रास्ते मे ही उतरना पड़ता है। कैरा कोमल नामक कलाकार युवती से घबराकर बंबई भागा हुआ युवराज इन लोगों को भी बंबई बुलवा लेता है। बंबई मे दोनों का ही प्रेम युवराज पर बरस पड़ता है किन्तु युवराज की फ्रांसीसी मगेतर उसे ढूंढती हुई बंबई आ जाती है और मीना अशोक के साथ तथा अन्नपूर्णा रामप्रकाश के साथ बंबई से वापस लौट आती हैं।

अत्यंत रोचक कथानक में परिस्थितियों की विषमता तो हास्य उत्पन्न करती ही है, लेखक की चित्रांकन शैली और पात्रो की अजीब उलझनें भी हास्य को जन्म देती हैं। वर्माजी ने हर तरह से हास्य उत्पन्न किया है। इस उपन्यास का हर वाक्य अपने-आपमें मनोरंजक है। वर्माजी ने अपनी विनोदी प्रकृति को अभि-व्यक्ति की पूरी छूट इसमें दी है। मीना का परिचय लेखक इस तरह प्रस्तुत करता है—"इतना कह लेने के बाद, मीना के रूप की बात और रह जाती है। वैसे मैं न जाने कितनी लड़कियों को निष्कलंक रूपवती कहकर उन्हें प्रसन्न कर चुका हूं, इसीलिए मीना को अद्वितीय रूपवती कहकर मैं उन लड़कियों को नाराज करने का दुस्साहस तो न करूंगा, लेकिन—जी हां, आप मेरा मतलब तो समझ ही गए होंगे। दूध का-सा सफेद रंग और उसपर चेहरा गोल-गोल, लम्बा-लम्बा, यानी गोल और लम्बे के बीच में; जो गोल चेहरा पसंद करने वालों को गोल दिखे और लम्बा चेहरा पसंद करने वालों को लम्बा दिखे।······चेहरे पर स्वास्थ्य की एक ल।लिमा, जो चेहरे पर गुलाबीपन की झलक पैदा कर देती है। अक्सर लोगों को शक हो जाता है कि उस चेहरे पर लिपाई हुई है। जी, पेंट के लिए हिन्दी में लिपाई शब्द का प्रयोग हो सकता है, क्योंकि लेप लगाने की प्रथा हमारे यहां प्राचीन काल में भी थी, लेकिन लोगों का ख्याल गलत है। चेहरे पर लिपाई-पुताई पढ़ी-लिखी लड़कियां नहीं करतीं—ऐसा मुझे एक पढ़ी-लिखी लड़की ने ही बतालाया है। वैसे कुछ अन्य लोगों का अनुभव इससे विपरीत हो सकता है।"

उपन्यास का तेवर यह सिद्ध करता है कि भगवती बाबू ने यह उपन्यास मनोरजनार्थ लिखा है। वैसे भी भगवती बाबू मनोरंजन को कला मे उच्च स्थान देते है। मनोरजन को महत्त्वपूर्ण तत्त्व मानने के बाद भी भगवती बाबू की सामाजिक प्रतिबद्धता कम नही होती। "व्यंग्यात्मक दृष्टिकोण से लेखक ने इसमे यह सिद्ध किया कि सामाजिक पतनोन्मुखता नैतिक मूल सक्रमण का मूल कारण है।"[१] मनोरंजन के लिए भगवती बाबू ने किसी छिछले कथानक को नही उठाया है यह बात महत्त्वपूर्ण है। जो कथानक उनके पास है उसे भी वे सतही ढंग से प्रस्तुत नही करते। वह कथानक की गहराई तक पहुंचकर उसे सामाजिक विसंगतियों को प्रदर्शित करने का माध्यम बनाते है। इस हास्य-व्यग्य से भरे हुए उपन्यास में भी संयोगों का सहारा लिया गया है। उपन्यास की अधिकाश घटनाएं भाग्यचक्र के रूप में घटती है।

भूले-बिसरे चित्र

१९५९ में प्रकाशित 'भूले-बिसरे चित्र' को निर्विवाद रूप से भगवती बाबू की सर्वश्रेष्ठ कृति कहा जा सकता है। यह हिन्दी साहित्य के उन उपन्यासों में से है जिनमें महाकाव्य के स्वर विद्यमान हैं। भारतीय जीवन के विविध पक्षों को समेटते हुए इस उपन्यास का कथानक लगभग पचास वर्ष के परिवर्तन की झांकी प्रस्तुत करता है। 'भूले-बिसरे चित्र' भगवती बाबू की साहित्य-यात्रा का मील का पत्थर है। अपनी कुछ विशिष्ट कमियों के कारण यह उपन्यास विश्व-स्तर को प्राप्त नहीं कर सका और नेमिचंद्र जैन के शब्दों मे कहें तो 'अधूरा साक्षात्कार' होकर रह गया है। किन्तु फिर भी यह एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण कृति है। वास्तव में यह उपन्यास एक विस्तृत कैनवास पर अंकित चटक रंगों वाले उस चित्र की तरह है जिसमें कलाकार 'डायमेंशन' उत्पन्न करने मे चूक गया है। "इसके विशाल चित्रफलक को देख सहसा फ्रेंच उपन्यासकार मार्शल प्राउस्त के उपन्यास 'Remem-berance of things past' की याद आ जाती है। परन्तु जहां प्राउस्त का दृश्यांकन स्मृति के त्रिपार्श्व फलक से छनकर आता है, वहां इस उपन्यास में इतिहास की वस्तुपरक परक दृष्टि मात्र है।"[२] सन् १८८५ से लेकर १९३० तक के कालखण्ड को लेखक इस उपन्यास में पांच खण्डों के माध्यम से सामने रखता है। एक परिवार को केन्द्रबिंदु बनाकर उसके द्वारा समय के परिवर्तन को वह प्रस्तुत करता है और चार पीढ़ियों का अंतर स्पष्ट करता है।

उपन्यास के कथानक का प्रारम्भ ४ जुलाई, १८८५ से होता है जब मुंशी शिवलाल को खुशामदखोरी का पुरस्कार यह प्राप्त होता है कि उनके लड़के

१. डॉ० प्रताप नारायण टंडन : हिन्दी उपन्यास का परिचायक इतिहास, पृ० ३८५
२. डॉ० शांतिस्वरूप गुप्त : हिन्दी उपन्यास : महाकाव्य के स्वर, पृ० ५९

ज्वालाप्रसाद को नायब तहसीलदारी के लिए नामजद कर लिया जाता है। ज्वाला प्रसाद अपने पद पर अत्यंत ईमानदारी से कार्य करता है जो मुंशी शिवलाल को विशेष पसन्द नही है। नम्बरदारिन जँदेई के मन में ज्वालाप्रसाद के लिए कम-जोरी है यह जानकर मुंशी शिवलाल अपने बेटे को नेक सलाह देते हैं कि नम्बर-दारिन बड़ी धनवान है अतः ज्वाला को चाहिए कि वह जायदाद खड़ी कर ले। अपने पिता के प्रति पनपती वितृष्णा को महसूस करते हुए ज्वालाप्रसाद का चित्रण प्रस्तुत कर पहला खण्ड समाप्त होता है। अपने पिता, चाचा और चचेरे भाई के रुपये कमाने के षडयंत्र में ज्वालाप्रसाद शामिल नही होता इस बात पर क्रोधित होकर मुंशी शिवलाल आत्म हत्या कर लेते है और चाचा तथा भाई रुष्ट होकर चले जाते हैं। नम्बरदारिन जँदेई ज्वाला प्रसाद के लड़के गंगाप्रसाद को अपने संरक्षण में पढ़ाने-लिखाने के लिए सोरांव से इलाहाबाद ले आती है। ज्वालाप्रसाद डिप्टी कलेक्टर होकर रिटायर होते है किन्तु उनके लड़के गगाप्रसाद की नियुक्ति सीधे डिप्टी कलेक्टर के पद पर होती है। अपने अक्खड़ और साहसी स्वभाव के कारण वह अत्यंत सफल अफसर साबित होता है। स्वाधीनता-आंदोलन का वह उसी तरह विरोधी रहता है जिस तरह उस समय असमय के अधिकांश सरकारी अफसर थे। कलेक्टर के पद पर पहुंचकर उसकी असमय मृत्यु हो जाती है।

गंगाप्रसाद का लड़का नवल पिता की विचारधारा के विपरीत स्वाधीनता-आंदोलन का पक्षधर है तथा लड़की विद्या भी नवीन विचारधारा की है। आई० सी० एस० की पढ़ाई के लिए इंग्लैंड जाने तथा लखपती व्यक्ति का दामाद बनने के बदले नवल कांग्रेस का कार्य करता है और अंत में नमक बनाओ आंदोलन में हिस्सा लेकर गिरफ्तार होने निकल पड़ता है। विद्या भी पति और ससुर के अत्याचार का विरोध करती है और अपनी ससुराल को छोड़कर अपने घर वापस आ जाती है तथा नौकरी करने लगती है। ज्वाला प्रसाद को यह सब बड़ा अजीब लगता है। वह अनुभव करता है कि उसके युग की मान्यताएं बदल गई हैं और दुनिया तेजी से बदल रही है। इस परिवर्तन का तीव्र आभास देते हुए यह उपन्यास इस तरह समाप्त होता है—"दो बूढ़े, जिन्होंने युग देखा था, जिन्दगी के अनेक उतार-चढ़ाव देखे थे जिन्होंने, जिनके पास अनुभवों का भंडार था, विवश थे, निरू-त्तर थे। और दूर हजारों, लाखों, करोड़ों आदमी जीवन और गति से प्रेरित, नवीन उमंग और उल्लास लिए हुए एक नवीन दुनिया की रचना करने के लिए चले जा रहे थे।"[१]

भारत के सर्वाधिक परिवर्तनशील काल की चार पीढ़ियों के माध्यम से लेखक उनकी सफलताओं, असफलताओं, मान्यताओं और उपलब्धियों को प्रस्तुत करता है। जहां तक उपन्यास के प्रवाह और उसकी रोचकता का प्रश्न है यह एक अत्यंत

---

१. भूले-बिसरे चित्र, पृ० ५६०

सफल कृति है। उपन्यास कितने ही पात्र और कितनी ही घटनाओं को सामने रखता है। ऐसी भी घटनाएं हैं जो मूल कथा की कोई सहायता नहीं करती। गंगा-प्रसाद और संतों की कथा, मलका की कथा, अल्लामावहशी और जटिलानन्द का शास्त्रार्थ, लाल रिपुदमन सिंह की कथा—युग-परिवर्तन के व्यक्तिकरण में सहायक नहीं हैं जो कि लेखक का अभीष्ट है। ये कथाएं प्रवाह को नहीं नष्ट करतीं, निहायत रोचक भी हैं पर कथानक के उद्देश्य की गरिमा को हलका कर देती हैं। इसमें संदेह नही कि जो उपन्यास एक विस्तृत कालखण्ड को बांधता है उसमें कितनी ही अवांतर कथाएं मूल कथा के साथ चलती हैं। प्रश्न यह है कि क्या वे कथाएं, मुख्य नदी की सहायक नदियों की तरह, मूल कथा को सार्थकता का रस प्रदान करती हुई उसमें एकाकार हो सकीं या नहीं ? फणीश्वरनाथ 'रेणु' के मैला आंचल और परती परिकथा में ऐसी कथाएं आई हैं किन्तु उनकी विशेषता यही है कि वे मूल कथा से घुल-मिल गई हैं। एक सम्पूर्ण अंचल की करवट बदलती हुई चेतना को व्यक्त करने मे वे मूल कथ्य की न केवल सहायता करती हैं बल्कि उन्हें और अधिक गहरा रंग प्रदान करती है। 'भूले-बिसरे चित्र' में यह कार्य सफलता पूर्वक नहीं हो पाया है। प्रथम दो खण्ड मे अद्भुत कसाव है। पुराने लोगों की दुनिया को भगवती बाबू अत्यंत कुशलतापूर्वक चित्रित कर सके है किन्तु नवीन दुनिया के चित्र उतनी ही पूर्णता से उपस्थित नही हुए है।

तीसरे खण्ड से कथानक की अन्विति बिखरती है। पहले दो खण्ड जिस खूबी से एक परिवार के माध्यम से समय के बदलाव को प्रस्तुत करने में सफल रहे है वह बात तीसरे खण्ड में नहीं है। तीसरे खण्ड में कथानक का केन्द्रबिंदु ज्वालाप्रसाद का परिवार नहीं रह जाता। कथानक कभी हिन्दू-मुस्लिम-वैमनस्य में खो जाता है और कभी संतों बीबी के मानसिक भटकाव के चित्रण में। किन्तु इसके बावजूद तीसरे खण्ड मे सब कुछ है जिसे चित्रित करने में भगवती बाबू अत्यन्त सिद्धहस्त है। पाठक कथानक की धुरी को सरका हुआ अनुभव करता है। फिर भी रोचकता को कायम रखने में लेखक सफल हुआ है चौथे खण्ड में कथानक को उसके केन्द्रबिंदु यानी ज्वालाप्रसाद के परिवार में लेखक पुनः स्थापित तो कर देता है लेकिन यहीं से वह बिखरा लगने लगता है। यहीं से कथा-नक की गहनता समाप्त होने लगती है परिणाम स्वरूप पांचवें खण्ड में चित्रित नई पीढ़ी का संघर्ष बड़ा ऊपरी आदर्शवादी मालम पड़ता है। चौथे और पांचवें खण्ड में चित्रित दुनिया पहले और दूसरे खण्ड की दुनिया की तरह प्रामाणिक नहीं लगती। बंगला के प्रसिद्ध लेखक विमल मित्र की कृतियों 'साहब, बीबी और गुलाम' अथवा 'खरीदी कौड़ियों के मोल' मे प्रारम्भ से अंत तक जो पकड़ है उसका 'भूले-बिसरे चित्र' के उत्तरार्द्ध में अभाव दिखलाई पड़ता है। समय का परिवर्तन पुरानी दुनिया और पुराने लोगों को किस तरह तोड़ता है यह विमल

मित्र बडी खूबी से चित्रित करते हैं। भगवती बाबू की तरह विमल मित्र मे भी सांमती समाज के चित्राकन के प्रति मोह है और किसी हद तक सहानुभूति भी। उस व्यवस्था के टूटने के दर्द को पाठक को अनुभव करा देने की क्षमता विमल मित्र मे भगवती बाबू से अधिक है।

'भूले-बिसरे चित्र' के विषय मे नेमिचंद्र जैन लिखते है, "पूरा उपन्यास एक प्रकार से अनगिनत, असबद्ध अथवा शिथिल रूप मे सबद्ध चित्र-शृंखला जैसा है और अंत मे जब वह समाप्त होता है तो हमे यह अनुभव नही होता कि हम सचमुच पचास वर्षो के एक घटना-बहुल, क्रांतिकारी तथा विविधतापूर्ण कालखण्ड की यात्रा करके लौटे है।"[1] यहा इस बात की चर्चा अप्रासगिक न होगी कि असंख्य चित्रों और ढेर सारे पात्रो मे एक तारतम्यता को कायम रखते हुए एक सम्पूर्ण समाज तथा कालखण्ड को जीवित कर देने की जो क्षमता टॉलस्टाय के 'युद्ध और शांति' तथा शोलोखोव के 'दोन' मे है वह 'भूले-बिसरे चित्र' में नहीं है। निस्संदेह कृति एक प्रशंसनीय ऊंचाई तक उठी है पर पूरी रचना मे समान गहराई का अभाव खटकता है। देश की चेतना और जन-जीवन का अध्ययन तथा उसकी वेदना को पकड़ने की अद्भुत क्षमता के कारण ही 'युद्ध और शांति' और 'दोन' एपिक नावेल की श्रेणी मे उच्च स्थान प्राप्त कर सके हैं। उस स्तर की पकड़ 'भूले-बिसरे चित्र' मे नहीं है।

'भूले-बिसरे चित्र' एक व्यक्ति को केन्द्र में रखकर समय के परिवर्तन का चित्रण है। संयुक्त परिवार से हटती हुई आस्था पहले और चौथे खण्ड के द्वारा स्पष्ट हो जाती है। मुंशी शिवलाल विधुर होने के कारण अपने भाई की पत्नी को घर की मालकिन मानते हैं। वे उसकी मर्जी के विरुद्ध कोई कार्य नही करना चाहते किन्तु गंगाप्रसाद अपने चाचा के लड़के वंशीधर को नही पहचानता। इतना ही नहीं, जब वंशीधर नौकरी के सिलसिले मे उसके पास आता है तब वह ज्ञानप्रकाश से कहता है, "देख रहे हो चचा जान, इस जगली को बप्पा ने मेरे पास भेजा है। शक्ल देखी तुमने इसकी, हैवानियत बरस रही है चेहरे पर। और जी हां, यह मेरे बिरादर हैं। जौनपुर में मेरे भाई होने का ढोल पीटते घूमेंगे, मैं तो शरम से गड़ जाऊंगा। अजीब मुसीबत में डाल दिया है बप्पा ने।"[2] परिवार से लेकर समाज और शासन तक मे हुए परिवर्तन को लेखक उपन्यास में चित्रित करता है। कहीं वह इसे नई पीढ़ी का करिश्मा जाहिर करता है और कहीं वह इसे केवल नियति-परिवर्तन मान लेता है। उपन्यास में बदलते हुए समय का साक्षी ज्वालाप्रसाद है। सारा परिवर्तन उसे बड़ा अजीब-सा लगता है और जब इस परिवर्तन को वह समझ नहीं पाता तो कहता है, "मैंने तो सोचना-विचारना ही छोड़

१. नेमिचद्र जैन : अधूरे साक्षात्कार, पृ० ८४
२. भूले-बिसरे चित्र, पृ० ३४४

दिया है, क्योकि आदमी का सोचा होता नही है।"[1] मानवसमाज के उतार-चढ़ाव तथा उसकी गलतियों का दायित्व भी लेखक नियति पर डालता है। संतो के पतन के विषय मे लाला रिपुदमन सिह तर्क देता है, "मनुष्य की आधारभूत प्रवृत्तियां विशेष परिस्थितियों मे उभरेंगी ही, उभारने के लिए यदि तुम साधन न बने होते तो कोई दूसरा साधन बन गया होता। आदमी कुछ नही करता, जो कुछ कराती हैं वे परिस्थितियां ही कराती हैं।"[2] जीवन के महत्त्वपूर्ण मुद्दों मे इस तरह के नियतिवादी निर्णय को नेमिचंद्र जैन 'दृष्टि का सरलीकरण' मानते है।

दृष्टि के सरलीकरण के जैसी कुछ कमजोरियों के उपरांत भी 'भूले-विसरे चित्र' हिन्दी उपन्यास साहित्य की विशिष्ट कृति है। अपनी विस्तृति और रोचकता तथा पीढीगत सामाजिक परिवर्तनो का दर्पण होने के कारण 'भूले-बिसरे चित्र' की समता हिन्दी साहित्य में 'बूंद और समुद्र', 'झूठा सच', 'मैला आंचल', 'अलग-अलग बैतरणी', 'राग दरबारी' जैसी शक्तिशाली कृतियां ही कर सकती हैं। यह स्वीकार करना ही होगा कि वर्तमान से जुड़े हुए निकट अतीत को समग्रता से चित्रित करने का प्रयास इस उपन्यास में किया गया है। उपन्यास के कतिपय दोष भी इसी प्रयास का परिणाम है। सभवतः लेखक ने परिवेश को व्यापक स्तर पर अंकित करने के लोभ मे ही कई असबद्ध चित्रों का सृजन किया है। यह अलग बात है कि उसने परिवेश को गहनता, तीक्ष्णता और व्यापकता से चित्रित करने के स्थान पर कतिपय स्थूल घटनाओं का चयन करने का सरल मार्ग अपना लिया है। हमे यह नहीं भूलना चाहिए कि विश्व के अधिकांश पैनोरमिक उपन्यासों में यह दोष किसी-न-किसी मात्रा में विद्यमान है।

वह फिर नहीं आई

१९६० में प्रकाशित 'वह फिर नहीं आई' भगवती बाबू का लघु उपन्यास है। इसी नाम से भगवती बाबू एक लम्बी कहानी भी लिख चुके है। 'राख और चिनगारी' संकलन में यह कहानी संगृहीत है जिसका लेखन-काल १९५० है। कहानी और उपन्यास में केवल कलेवर का अतर है। आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया यह उपन्यास एक सामान्य घटना-प्रधान उपन्यास है। वस्तुतः इसका कथ्य एक कहानी के योग्य है। कहानी के रूप में यह कथानक उपन्यास से कही अधिक सफल और कसाव से युक्त है। 'वह फिर नहीं आई' कहानी में लेखक विशुद्ध कहानीकार है किन्तु उपन्यास में वह कहानीकार के साथ-साथ दार्शनिक भी है। अवसर पाते ही वह किसी-न-किसी विषय को लेकर दार्शनिक व्याख्या करने लगता है। उसकी ये व्याख्याएं सभी विषयो पर हैं—व्यापार; इतिहास, परिवार, प्रेम,

---

१. भूले-बिसरे चित्र, पृ० ५१२
२. वही, पृ० २८८

अर्थ, कानून, नैतिकता—किसी को भी उसने नही छोड़ा।[1] ये व्याख्याएं उपन्यास के चिंतन पक्ष को उभारती हैं किन्तु कथानक के प्रवाह को कम करती है। घटना-प्रधान कथानक में कानून, इतिहास और व्यापार पर किया गया चिंतन-मनन कथात्मकता को आघात पहुंचाने वाला सिद्ध होता है।

दिल्ली के एक होटल में ज्ञानचंद का परिचय रानी श्यामला से होता है। उसका पति जीवनराम भी उसके साथ है किन्तु अपने पति-पत्नी संबंध को वे किसीके सामने व्यक्त नही करते हैं। ज्ञानचद और रानी श्यामला का प्रेम-संबंध बड़ी तेजी से बढता है और ज्ञानचंद रानी श्यामला और जीवनराम को लेकर कानपुर आ जाता है। जीवनराम को ज्ञानचंद अपने आफिस में काम दे देता है और श्यामला को अपनी रखैल बनाकर उसके साथ सैर-सपाटा करता है। एक दिन ज्ञानचंद को पता चलता है कि जीवनराम ने उसके जाली हस्ताक्षर बनाकर बैंक से बीस हजार रुपये निकाल लिए हैं। ज्ञानचंद जीवनराम को पुलिस के हवाले कर देता है, तब रानी श्यामला बतलाती है कि जीवनराम वास्तव में उसका पति है।

रानी श्यामला अपनी कहानी ज्ञानचंद को सुनाती है। लाहौर मे जीवनराम को 'राजा' का खिताब मिला हुआ था और वह अपनी पत्नी के साथ सुखी जीवन बिता रहा था। पति-पत्नी एक-दूसरे को बेहद चाहते थे। जब लाहौर में साम्प्र-दायिक दंगे हुए तब उनकी सारी दौलत लूट ली गई और घर जला दिया गया। जीवनराम के मित्र ने उनकी रक्षा की और प्राणरक्षा की कीमत बीस हजार रुपयों के रूप में मांगी। अपनी पत्नी को मित्र के पास बंधक रखकर एक साल की अवधि लेकर जीवनराम चला जाता है। जीवनराम एक कम्पनी में नौकरी करता है और अपनी कम्पनी से बीस हजार का गबन कर उन पैसों से अपनी पत्नी को फिर से प्राप्त करता है। पुलिस वारण्ट से बचने के लिए जीवनराम इधर-उधर भटकता फिरता है। रानी श्यामला बतलाती है कि उसी वारण्ट से बचने के लिए जीवनराम ने ज्ञानचंद का पैसा गबन किया। ज्ञानचंद उदारतापूर्वक जीवनराम को छुडा देता है किन्तु जीवनराम को भीख लेना पसन्द नहीं है अतः अपनी पत्नी को वह ज्ञानचंद के पास बंधक रखकर फिर बीस हजार रुपये प्राप्त करने के लिए निकल पड़ता है। उसके जाने के बाद श्यामला अत्यंत उदासी से भरा हुआ जीवन बिताती है। साल-भर के बाद थका-हारा जीवनराम लौटता है और पत्नी की गोद में दम तोड देता है। पति की मृत्यु के बाद श्यामला एक बार फिर से पुरानी प्रसन्नता प्राप्त करने का प्रयास करती है। एक दिन ज्ञानचंद को छोड़कर वह स्वेच्छा से वेश्यावृत्ति अपनाने के लिए चली जाती है। कुछ दिनों के बाद सम्पन्न

---

१. डॉ० कुसुम वार्ष्णेय : चित्रलेखा से सबहिं नचावत राम गुसाईं तक, पृ० १८६

बनकर वह ज्ञानचंद के बीस हजार रुपये लौटाने आती है। रुपये लौटाकर वह फिर चली जाती है और लौटकर कभी नहीं आती।

प्रस्तुत उपन्यास में जीवनराम और श्यामला के जीवन के उतार-चढ़ाव को लेखक परिस्थितियों की विडंबना मानता है और नियतिवादी दर्शन की पुष्टि करता है। जीवनराम की विवशता को लेखक मनुष्य की विवशता से जोड़ता है और उसके गलत कार्य करने की बाध्यता को स्वीकार करता है—"हम स्वयं न कुछ करते हैं, न कर सकते हैं। जो कुछ हम करते हैं वह हो जाया करता है अपने-आप, इसके लिए हमें अपने को श्रेय देना व्यर्थ है। जीवनराम ने जो कुछ किया वह उसने अपनी इच्छा से नहीं किया, वह सब कुछ उससे हो गया है। और आगे भी वह जो कुछ करेगा, वह उसे करने के लिए बाध्य होगा।"[1]

इस उपन्यास में लेखक का निययिवादी दर्शन एक अत्यंत सामान्य कथानक के माध्यम से सामने आता है अत: वह प्रभावित नहीं कर पाता। यह एक साधारण कोटि का उपन्यास है। उपन्यास में लेखक अपने नियतिवादी जीवन-दर्शन को आरोपित कर देता है। यह हर दृष्टि से घटना-प्रधान उपन्यास है। उपन्यास की घटनाएं जीवन-दर्शन का स्वरूप नहीं धारण कर पातीं। इन घटनाओं में किसी हद तक असाधारणता भी है इसीलिए उनकी लेखक के जीवन दर्शन से संगति अच्छी तरह नहीं बैठ पाती। रानी श्यामला का स्वयं अपनी इच्छा से वेश्यावृत्ति अपनाना और फिर उसे अपनी विवशता अथवा नियति का विधान स्वीकार करना विशिष्ट दर्शन का आरोपण ही लगता है। वस्तुतः कथानक की घटनाओं के द्वारा नियति की अजेयता सिद्ध न होकर मुख्य पात्रों की दुर्बलता ही सिद्ध होती है। लेखक उन पात्रों की कमजोरी को ही नियति का जामा पहना देता है।

सामर्थ्य और सीमा

सन् १९६२ में प्रकाशित भगवती बाबू का उपन्यास 'सामर्थ्य और सीमा' सही अर्थों में एक प्रौढ़कृति है। औपन्यासिक तत्त्वों का सही संतुलन इस कृति में हमें देखने को मिलता है। उपन्यास वह विधा है जिसमें कृतिकार अधिक से अधिक विद्यमान रहता है। विचार और चिंतन का जैसा प्रक्षेपण उपन्यास में संभव है वैसा किसी अन्य विधा में संभव नहीं है। केवल सौन्दर्य और कोमलता के सृजन के लिए उपन्यास नहीं लिखा जाता। केवल मात्र एक कहानी कह देना भी इसका उद्देश्य नहीं होता। जब केवल इतना ही उद्देश्य लेकर कोई लेखक चलता है तब रचना 'विशिष्ट' नहीं बन पाती। रचना में 'विशिष्टता' आती है रचनाकार की गहन दृष्टि से और वजनदार कथ्य से। साथ ही सबल और सरस प्रस्तुतीकरण

---

१. वह फिर नहीं आई, पृ० ८५

भी उसकी आवश्यक शर्त है ताकि रचना बोझिल न हो जाय और औपन्यासिक कृति के रूप में स्वीकृत की जा सके। इसी अर्थ में 'सामर्थ्य और सीमा' एक प्रौढ़ कृति है। वह केवल किस्सागोई और घटनाओं के प्रवाह में नहीं बह गई है। भगवती बाबू के कुछ उपन्यासों में यह दोष है कि कथा मे घटनाओं की क्षिप्रता के कारण चिंतन-पक्ष को आघात पहुंचा है। कभी-कभी उनका जीवन-दर्शन संवादों का ही अंग बनकर रह गया है। ऐसी दशा मे, जिसने उनके सभी उपन्यास नही पढ़े है उसके लिए उन कृतियो में व्यक्त उनका जीवन-दर्शन स्फुट विचार का ही आभास दे पाएगा। 'पतन' 'आखिरी दांव' जैसे उपन्यासों में ऐसा हुआ भी है। 'सामर्थ्य और सीमा' लेखक के जीवन-दर्शन की आत्यंतिक स्वीकृति है। यदि 'चित्रलेखा' व्यक्तिवादी घोषणा-पत्र है तो 'सामर्थ्य और सीमा' को हम हिन्दी का नियतिवादी घोषणा-पत्र कह सकते है। वास्तव में यह उपन्यास कथा को ही दर्शन के स्तर पर उतारने का प्रयास है जिसमें लेखक पूर्ण सफल हुआ है।

'सामर्थ्य और सीमा' में लेखक मनुष्य की सामर्थ्य और उसकी सीमा का मूल्यांकन करता है। उपन्यास का प्रारम्भ ही बड़े दार्शनिक ढंग से मानव सभ्यता के इतिहास पर प्रकाश डालते हुए मनुष्य की सामर्थ्य के चित्रण के साथ होता है। लेखक यहीं यह स्वीकार कर लेता है कि मनुष्य प्रकृति का सहयोगी न रहकर धीरे-धीरे उसका स्वामी बनता गया। मनुष्य अपने को प्रकृति का स्वामी मानता है किन्तु लेखक इसे मनुष्य की खामखयाली मानता है। बल्कि लेखक यह मानता है कि मनुष्य प्रगति के पथ पर कितना ही क्यों न बढ जाय पर "अन्य प्राणियों की भांति मनुष्य भी प्रकृति से ही उभरा है, उसका समस्त अस्तित्व इस प्रकृति का ही एक भाग है।"[1]

प्रकृति की गोद में बसे हुए सुमनपुर स्टेशन पर एक दिन पांच व्यक्तियों का आगमन होता है। रतनचंद्र मकोला जो हिन्दुस्तान के बड़े भारी उद्योगपति हैं और जिनमें देश की सरकार बनाने-बिगाड़ने की क्षमता है। दूसरे व्यक्ति हैं वासुदेव चिंतामणि देवलंकर जो विश्वख्याति के इंजीनियर है। वे प्रकृति को अपने वश में करने का दावा करते हैं। तीसरे व्यक्ति हैं ज्ञानेश्वर राव—देश के सुप्रसिद्ध दैनिक पत्र 'रिपब्लिक' के प्रधान सम्पादक जो यह जानते हैं कि उनकी हर राय बहुत कीमती और दूसरों के भाग्य को बनाने बिगाड़ने वाली है। चौथे व्यक्ति प्रसिद्ध साहित्यकार एवं संसद सदस्य पंडित शिवानंद शर्मा है जो सरस्वती के वरद पुत्र है। पांचवें हैं एक अत्यत सफल माने जाने वाले व्यक्ति अल्बर्ट किशन मंसूर जो बड़े भारी कलाकार एवं आर्चीटेक्ट हैं और लोगों की राय है कि सरकार का कोई काम उनके बिना नही चल सकता। ये सभी समर्थ व्यक्ति सुमनपुर के विकास के

---

१. सामर्थ्य और सीमा, पृ० १०

लिए उत्तर प्रदेश के मंत्री जोखन लाल की ओर से आमंत्रित किए गए है।

सुमनपुर में इन व्यक्तियों की भेंट यशनगर की अनिंद्य सुन्दरी और युवा किन्तु विधवा रानी मानकुमारी से होती है। ये सभी व्यक्ति सुमनपुर के विकास की योजना बनाते है और बिना किसी अपवाद के सभी रानी मानकुमारी के रूप पर आसक्त होते हैं। रानी मानकुमारी के अंदर भी फिर से जीने की इच्छा बलवती होती है। वह इन सभी समर्थ व्यक्तियों के व्यक्तित्व के किसी न किसी पहलू से प्रभावित होती है। रानी की गिरती हुई स्थिति के प्रति सभी को सहानुभूति होती है और वे सभी रानी की सहायता करना चाहते हैं। हर व्यक्ति का प्रयास होता है कि रानी के सुमनपुर के बंगलों का मुवावजा उसीके माध्यम से तय हो ताकि वह रानी का प्यार पा सके। देवलकर तो रानी से विवाह का प्रस्ताव ही कर देते है। मकोला उन्हें अपनी कम्पनी का मैनेजिंग डायरेक्टर बनाना चाहते हैं। शर्माजी को रानी मे असीम साहित्यिक प्रतिमा दिखलाई देती है और वे रानी को साहित्याकाश का नक्षत्र बनाने का वायदा करते है। अल्बर्ट किशन मंसूर उन्हें सांस्कृतिक मण्डल की नेता बनाकर विदेश घूमने के लिए आमंत्रित करते है। ज्ञानेश्वर राव उन्हें दिल्ली के राजनैतिक वातावरण में स्थापित कराने का वादा करते है। रानी के मन में जीवन के परिवर्तन के इस पूर्वाभास से एक असीम उल्लास हिलोरें लेने लगता है। उनके काका ससुर मेजर नाहरसिंह भी उन्हें यह कहकर उत्साहित करते है कि यह जीवन की स्वाभाविक प्रक्रिया है किन्तु इसके साथ ही साथ नाहरसिंह यह भी कहते हैं कि वहां एकत्रित्र हुए किसी भी व्यक्ति के स्वप्न पूरे नही होगे क्योंकि उन्हे मौत की भयानक परछाई मंडराते हुए दिखलाई दे रही है। रोहिणी नदी के मार्ग में पहाड़ गिर जाने के कारण रोहिणी प्रपात का पानी एकाएक कम हो गया था इसे वे अत्यत अशुभ निरूपित करते है। उनकी दृष्टि में रोहिणी का सिमटना एक विशेष अर्थ रखता है—"मैने शेर को हमला करते हुए देखा है, हमला करने से पहले वह ठीक इसी तरह सिमटता है।"[1]

अपने जन्म-दिन के अवसर पर रानी मानकुमारी इन सभी व्यक्तियों को यशनगर आमंत्रित करती है जहां एक उत्सव मनाया जाने वाला है। जिस सुबह, अपनी-अपनी योजनाओं से आश्वस्त, सभी व्यक्ति यशनगर से वापस जाने वाले थे, आकस्मिक वर्षा के कारण रोहिणी नदी का रुका हुआ पानी कच्चे पहाड़ों को तोड़ कर यशनगर में भीषण बाढ़ के रूप में घुस पड़ता है। सभी व्यक्ति भागने का प्रयास करते है किन्तु मृत्यु के सामने सभीको आत्म समर्पण करना पड़ता है। रानी मानकुमारी और नाहरसिंह अपने महल के ऊपर चढ़कर अपनी प्राणरक्षा का प्रयास करते हैं। जब उन्हें यह आशा बंधने लगती है कि पानी कम हो

---

१. सामर्थ्य और सीमा, पृ० १०३

जायगा तभी भूकम्प के झटके में यशनगर का राजमहल टूट जाता है और वे अथाह जल में समा जाते हैं।

राल्फ फॉक्स ने लिखा है कि लेखक को अपनी कृति मे उसी तरह सर्वव्याप्त होना चाहिए जिस तरह ईश्वर अपनी सृष्टि में विद्यमान हुआ करता है, हर जगह उपस्थित किन्तु अदृश्य।[1] 'चित्रलेखा' और 'सामर्थ्य और सीमा' इस शर्त को बड़ी खूबी से निभाते हैं। 'चित्रलेखा' का व्यक्तिवादी और नियतिवादी दर्शन कथानक के साथ बड़ी खूबी से मिल गया है पर इसके उपरांत भी उसमें उतनी सघनता नहीं है जितनी 'सामर्थ्य और सीमा' में विद्यमान है। 'चित्रलेखा' का कथ्य यदि वाष्पपुंज है तो 'सामर्थ्य और सीमा' का कथ्य घनीभूत मेघ-खण्ड है। 'चित्रलेखा' के विषय में भगवती बाबू ने स्वयं स्वीकारा है, "चित्रलेखा में मैने पुराने इतिहास को नये शब्द दिए हैं, स्पष्ट रूप से मेरे पास उस समय कोई दर्शन था ही नहीं।"[2] सामर्थ्य और सीमा की रचना भगवती बाबू ने अपने विचारों को व्यक्त करने के लिए की है। इसे हम चिंतन-प्रधान उपन्यास कह सकते हैं। भगवती बाबू के अन्य उपन्यासों से विपरीत इसमे घटनाओं की कमी है और कथानक अत्यंत संक्षिप्त है। कथानक में संयोगों और घटनाओं के तीव्र मोड़ों की सहायता लेकर कुछ अप्रत्याशित घटाकर मनुष्य की विवशता को दर्शाने का प्रयास, जैसा लेखक ने अन्य कृतियों में किया है, इसमें नहीं किया गया है। पूरा कथानक एक ऐसे घटना-चक्र को सामने रखता है जो मनुष्य की विवशता को बड़े सबल ढंग से प्रस्तुत कर सका है। "इसकी कथा प्रतीकात्मक रूप में अदृष्ट की महान शक्ति और उसके समक्ष मनुष्य की सामर्थ्य की तुच्छता का द्योतन करती है।"[3]

सम्पूर्ण कथानक मनुष्य के अहम् और प्रकृति की शक्ति के बीच होने वाले संघर्ष पर आधारित है। मानव सभ्यता का इतिहास प्रकृति पर मनुष्य की विजय का इतिहास है। विज्ञान आधुनिक मानव की सबसे बड़ी शक्ति है जिसकी सहायता से वह अपने को प्रकृति का स्वामी अनुभव करता है। इसी मानवीय सामर्थ्य के प्रतीक के रूप में देवलंकर सामने आता है, "विज्ञान मानव का वह पुरुषत्व है जो प्रकृति को उसके वश में रखता है, जो प्रकृति के अनगिनत रहस्य खोलता है। हमारा समस्त विकास इस विज्ञान का विकास है। मनुष्य सक्षम और समर्थ है, वह कर्ता है। जब बांध बांधने की बात सोचता हूं तब मेरे सामने उस बांध का

---

1. The author in his work must be like God in the Universe present everywhere and visible nowhere, art being a second nature the creator of this nature must act by similar methods in each atom, in every aspect, there must be left a hidden and infinite impossibility.—Rolph Fox.

Novel and the people—Page 90

२. कादम्बिनी : नवम्बर, १९७३, पृ० ७३

३. डॉ० प्रतापनारायण टंडन : हिन्दी उपन्यास का परिचयात्मक इतिहास, पृ० ३९०

औचित्य नहीं है, मैं उसकी सार्थकता नहीं देखता हूं। उस समय मैं प्रकृति को मानव की एक चुनौती के रूप में खड़ा देखता हूं। उस समय मैं केवल एक बात सोचता हूं—मुझे यह करना है, क्योंकि मैं कर्ता हूं और किस प्रकार यह किया जा सकता है, मेरी चेतना और बुद्धि उस समय मेरी सहायता करती है।"[१] प्रकृति की शक्तियों का उपयोग मनुष्य अपने लिए करे यहा तक तो लेखक सहमत है किन्तु प्रकृति को वश में करने की महत्त्वाकांक्षा का वह समर्थक नहीं है। नाहर सिंह, जो लेखक का मुख-पात्र है, देवलंकर से कहता है, "प्रकृति को हम एक सीमा तक ही वश में कर सकते हैं। लेकिन इंजीनियर साहब, इस प्रकृति में भी प्राण हैं, इन पहाड़ों में प्राण हैं, इन जंगलों में प्राण हैं। इस नदी में प्राण हैं। यह प्रकृति कभी-कभी बड़ा भयानक बदला लेती है इंजीनियर साहब।"[२] कथानक में यशनगर को नष्ट करने वाली रोहिणी की बाढ़ इसी रूप में चित्रित की गई है—"और वही रोहिणी नदी एकाएक क्रुद्ध हो उठी, वह विनाश का ताण्डव करने निकल पड़ी, वह मनुष्य को बतलाने आई कि उसपर विजय नहीं पाई जा सकती, वह अविजित है।"[३] नाहरसिंह की चेतावनी सत्य निकलती है कि रोहिणी बदला लेगी। लेखक आभास देता है कि प्रकृति पर मनुष्य अपने सामूहिक प्रयास से काबू पा सकता है किन्तु प्रकृति जब भयानक रूप धारण करती है तब व्यक्ति की हैसियत से मनुष्य उसके सामने बिलकुल असहाय हो जाता है। सभी समर्थ व्यक्ति एक नदी की बाढ़ के सामने अत्यंत दुर्बल साबित होते है।

उपन्यास में लेखक का नियतिवाद अत्यन्त सबल ढंग से उभरता है। इस कृति में नियतिवाद भाग्यवाद का पर्यायवाची बनकर नही आया बल्कि भाग्यवाद से जुड़ी हुई तमाम बातों—कर्मफल, जन्मान्तरीण प्रवृत्तियां, पाप-पुण्य—से अलग हटकर नियत घटना-चक्र के रूप में उसे उपस्थित किया गया है। अन्य उपन्यासों में भी भगवती बाबू नियति को ही सर्वोच्च स्थान देते है किन्तु बहुत बार पात्रों की त्रुटियों से उपस्थित परिणाम को भाग्य का खेल स्वीकृत कर लेना बुद्धिजीवी पाठक के लिए कठिन होता है। इस उपन्यास के कथानक की विशेषता यही है कि लेखक ने घटनाओं और संयोगों के ताने-बाने में पात्रों को नहीं फंसाया। कोई भी पात्र अपनी गलती से नष्ट नहीं होता। वे सभी नष्ट होते हैं क्योंकि उन्हें नष्ट होना था। वे सुमनपुर में एकत्रित हुए थे क्योंकि यह नियत था। असीम सृष्टि की छोटी से छोटी घटना भी तय है और उसी तय कार्यक्रम के अनुसार सब कुछ घटित होता है—कर्म फल या पाप-पुण्य के अनुसार नहीं। नाहरसिंह के

१. सामर्थ्य और सीमा, पृ० ९५
२. वही, पृ० १००
३. वही, पृ० ३२४

माध्यम से सबको सूचना मिलती रहती है कि सभीको नष्ट होना है। उस अभि-शप्त क्षेत्र मे सभी को उनकी मौत खीच लाई है। नाहरसिंह सबको भाग जाने के लिए कहते है और अन्त मे यह भी जोड़ देते हैं, "नही माग सकोगे तुम। मृत्यु से कहीं कोई भाग सका है ?"[1]

सहज और सीधे ढंग से कहानी यह व्यक्त कर देती है कि यह सब कुछ इस-लिए हुआ कि यह घटित होना था। अपने कथ्य को तीखा बनाने के लिए लेखक मनुष्य की सबलता का चित्रण भी करता है किन्तु वह सीधा तर्क यह देता है कि मनुष्य की ताकत उसीका मुकाबला कर सकती है जो दिखलाई पडता है—"जो अचानक अदृश्य से आकर मुझपर प्रहार कर सकता हो, मुझे नष्ट कर सकता हो, उससे बचाव करने का और जिससे मुकाबला करने का हमारे पास कोई साधन नहीं है, उसीसे हम डरते है।"[2] जो कुछ होने वाला है वह किसी पुण्य के फल से, किसी प्रार्थना की ताकत से भी टल नही सकता। नाहरसिह का अन्तर्द्वन्द्व इन शब्दों मे प्रकट होता है, "तुम भी उतने विवश हो जितने हम है। अपनी सृष्टि की कुरू-पता तुम नहीं दूर कर सकते। तुम स्वयं एक नियम और क्रम मे बधे हुए हो, तो फिर तुम स्रष्टा कैसे ?"[3]

जहां उपन्यास अपने कथ्य की स्पष्टता और सघनता के लिए सराहनीय है वहीं यह बात खटकती है कि व्यर्थ विस्तार का लोभ इस कृति में भी लेखक सव-रण नहीं कर पाया। यदि व्यर्थ के संवाद तथा जयाली के मुसलमानों की समानान्तर कहानी से लेखक बच सकता तो निश्चय ही अपने थोड़े-छोटे कलेवर में उपन्यास और भी प्रभावशाली होता।

थके पांव

सन् १९६३ मे प्रकाशित 'थके पांव' भगवती बाबू का लघु उपन्यास है। किसी भी लेखक की प्रत्येक कृति प्रेरणा-स्फूर्त नहीं होती। कभी-कभी कृति की रचना के पीछे प्रेरणा से हटकर अन्य कारण भी हुआ करते हैं। ऐसी स्थिति में, यह स्वाभाविक है, लेखक खींच-तानकर कोई भरती की रचना ही प्रस्तुत कर सकता है—सबल एवं समर्थ कृति नहीं। विवशतावश लेखक ने 'थके पांव' नाम का एक रेडियो प्ले लिखा था—उसी प्ले को उसने दूसरी बार विवश होकर उपन्यास का रूप दे दिया। इसके विषय में स्वयं भगवती बाबू ने लिखा है, "उसे मैंने कभी महत्त्व दिया ही नही। यह प्ले मैने 'थके पांव' नाम से ही सन् १९५३ में लिखा

---

१. सामर्थ्य और सीमा, पृ० ३०७
२. वही, पृ० १०२
३. सामर्थ्य और सीमा, पृ० ३१४

था, किसी प्रेरणा से नही, एक तरह से विवश होकर।"[1]

'थके पांव' की रचना के कारण कुछ भी रहे हों किन्तु 'थके पाव' उन कृतियों में हैं जो लेखक की कीर्ति को घटाती हैं। शहरी जीवन की घुटन को भोगते हुए निम्न-मध्य वर्ग के आर्थिक संघर्ष को चित्रित करना उपन्यास का ध्येय है किन्तु लेखक उसे गहराई से चित्रित नही कर पाया है। यों लेखक उपन्यास में स्थान-स्थान पर पाठक को यह विश्वास दिलाना चाहता है कि जीवन एक भीषण संघर्ष है—"जीवन एक अनवरत संघर्ष है, उस संघर्ष का केशव को एक लम्बा अनुभव है, और इस संघर्ष का अन्त है मृत्यु जो असफलता और निराशा की प्रतीक है।"[2] 'थके पाव' की असफलता यह है कि वह सघर्ष का उल्लेख तो करता है किन्तु संघर्ष की भीषणता का अहसास वह पाठक को नही दे पाता। आज की आर्थिक कठिनाइयों में जकड़े हुए आम आदमी का यह केवल 'किस्सा' है। सघर्षों में टूटते-पिसते आदमी की पीड़ा का ऐसा साक्षात्कार इसमे नहीं है जो पढ़ने वाले के हृदय की गहराई तक उतरकर उसे मथ डाले।

उपन्यास के कथानक का प्रारम्भ पचास वर्ष तक संघर्ष करके थके-हारे केशव के जीवन से होता है जो घर की बैठक के तख्त पर लेटे-लेटे अपने जीवन का मूल्यांकन कर रहा है। वह अनुभव करता है कि उसका सारा जीवन केवल विवशता की कहानी है। केशव को अपने जीवन का वह दिन याद आता है जब वह बी० ए० पास हुआ था। हर आदमी की तरह उसने भी बड़े-बडे सपने देखे थे किन्तु बी०ए० पास करते ही उसे नौकरी की आवश्यकता का अनुभव हुआ क्योंकि उसकी बहन की शादी परिवार के सामने एक समस्या थी। काफी दौड़-धूप के बाद उसे क्लर्की मिली और युवावस्था के सुनहरे स्वप्नों को कुचलकर वह परिवार के भरण-पोषण के लिए अनवरत श्रम प्रारम्भ कर देता है। अपने बच्चो को वह किसी तरह ऊंची शिक्षा देता है। बड़ा लड़का मोहन बी० ए०, एल-एल० बी० पास करके 'इण्डियन एक्सपोर्ट' में असिस्टेण्ट मैनेजर हो जाता है किन्तु वहां की अस्थायी नौकरी छूटने के बाद उसे भी अपने पिता की तरह क्लर्की करनी पड़ती है।

छोटा लड़का किशन फक्कड़ और रंगीन मिजाज का है। लोग समझते है कि जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण गंभीर नहीं है किन्तु वास्तव में जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण परम्परावादी न होकर नया और व्यावहारिक है। वह बम्बई जाकर अभिनेता बन जाता है और उसकी प्रेरणा से उसकी बहन माया भी शादी करने से इन्कार कर एक दिन मां-बाप को बतलाए बिना फिल्मों में काम करने चली जाती है। दिन-रात मेहनत करने के परिणामस्वरूप मोहन

---

१. डॉ० कुसुम वार्ष्णेय : चित्रलेखा से सबहिं नचावत गुसाईं तक, परिशिष्ट-२ (वर्माजी के पत्र से उद्धृत), पृ० २१९

२. थके पांव, पृ० ४३

को टी० बी० हो जाती है। एक लम्बे और खर्चीले इलाज से वह ठीक होता है। अपने अभावों से त्रस्त केशव बाबू एक हजार रुपये की रिश्वत ले लेते हैं किन्तु रिश्वत लेने के बाद उनकी मध्य वर्गीय, धर्मभीरु आत्मा की शांति नष्ट हो जाती है। आत्मग्लानि से प्रेरित होकर वे अपने आफिसर के सम्मुख जाकर अपना अपराध स्वीकार कर लेते हैं और नौकरी से ईस्तीफा दे देते हैं। उसी समय आशा की किरण की तरह किशन और माया के भेजे हुए डेढ़ हजार रुपये उन्हें प्राप्त होते हैं तथा वे रिश्वत के पैसे अनाथालय को दान देकर आत्मग्लानि से छुटकारा पाते हैं।

उपन्यास पढ़ते समय निरन्तर यह लगता रहता है कि लेखक स्वयं भी अनुभव कर रहा है कि उसके पास कथ्य की कमी है किन्तु वह फिर भी पृष्ठ भर रहा है। बीच-बीच मे लगता है जैसे लेखक मध्य वर्ग पर निबंध लिख रहा है। करीब-करीब हर परिच्छेद का प्रारम्भ इसी तरह होता है। नवम परिच्छेद का प्रारम्भ द्रष्टव्य है—

"माया ने विवाह करने से इन्कार कर दिया—विवाह नहीं करेगी तो क्या करेगी ? हरेक मध्य वर्ग का आदमी अपनी लड़की का विवाह करने की बात सोचता है, लेकिन लड़की का विवाह करने में मध्य वर्ग वाले व्यक्ति को अत्यधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। मध्यवर्ग वाले के लिए सम्पत्ति का अभाव है, लेकिन उसमें सम्पत्ति का मोह है। उच्चवर्ग का आदमी सम्पन्न है, भरा-पूरा है, और वहां लड़की के विवाह के लिए रुपयों का प्रश्न नहीं उठता। निम्नवर्ग वालों के लिए सम्पत्ति का अभाव तो है लेकिन उनमें सम्पत्ति का मोह नही है। वहां पैसों की मांग नहीं है।[1]

उक्त अंश उपन्यास के किसी परिच्छेद के प्रारम्भ के गुणों से बिलकुल हीन है। इसमें पैसे की महत्ता से उत्पन्न संकट की भीषणता का सम्प्रेषण नही है बल्कि बहुत ऊपरी और नीरस ढंग से आर्थिक स्थिति का विश्लेषण मात्र है। आज मध्य-वर्ग के प्रत्येक मनुष्य का दृष्टिकोण, उच्चवर्ग की तरह ही आर्थिक हो गया है— इस बात को बतलाने के लिए लेखक कितने ही स्थलों पर ठहरकर स्वयं इस संबंध में चर्चा करने लगता है। ऐसे अवसर पर यह आभास होता है कि परिस्थितियों और घटनाओं के माध्यम से समस्या के हर पहलू को लेखक दर्शा नहीं पाया है अतः उसे यह अतिरिक्त प्रयास करना पड़ रहा है।

किशन के माध्यम से व्यक्तिवादी विचारधारा सामने आई है। अपने भाई से वह कहता है, "मोहन भैया, परिवार के प्रति मेरा जो कुछ भी कर्तव्य है वह मैं जानता हूं, लेकिन उसके पहले अपने प्रति भी मेरा कुछ कर्तव्य है यह मैं कैसे भूल जाऊं, अपने को कष्ट में डालकर रहना मेरे ख्याल से सबसे बड़ी बेवकूफी है।

---

१. थके पांव, पृ० १०३

दूसरे तुम्हें उसी समय पूछ सकते हैं जब तुम खुद अपने को पूछो।"[१] किशन और माया को, जो परम्परा मे विद्रोह कर रहे हैं, लेखक नई पीढ़ी के विद्रोह का प्रतिनिधि नही बना सका है हालांकि लेखक ने उन्हें इस रूप में चित्रित करने का प्रयास किया है। इस लघु उपन्यास में भी कही-कहीं व्यर्थ का चिंतन दिखलाई पड़ता है। इस उपन्यास में यदि किसी वस्तु का नितान्त अभाव है तो वह है रोचकता का। लेखक की सपाट बयानी इसका प्रमुख कारण रही है। संक्षेप में कहें तो 'थके पांव' एक सामान्य कृति है।

अद्यतन रचनाएं

रेखा

'रेखा' उपन्यास सन् १९६४ में प्रकाशित हुआ। यौन-कुंठाओं से ग्रस्त रोमानी आदर्श और कटु यथार्थ के बीच भटकती हुई विवाहिता स्त्री की यह कहानी है। किसी हद तक इसे हम मनोवैज्ञानिक उपन्यास कह सकते हैं यद्यपि इसमें पात्रों के सूक्ष्म मनो-विश्लेषण का अभाव है। जैनेन्द्र कुमार, इलाचंद्र जोशी, अथवा अज्ञेय जैसी विश्लेषणात्मक क्षमता वर्माजी में नहीं है। वे बाह्य चित्रांकन के शिल्पी हैं। यही कारण है कि 'रेखा' में वह गहनता नहीं है जो मनोवैज्ञानिक उपन्यास के लिए अपेक्षित है। शारीरिक तृष्णा और मानसिक बेचैनी की उलझन-भरी वीथियों को लेखक 'टेलीकास्ट' नहीं कर सका है इसीलिए इसे हमने 'किसी हद तक' ही मनोवैज्ञानिक माना है। उपन्यास यौन-कुंठाओं और मानसिक गुत्थियों पर आधारित होने के उपरांत भी मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की पंक्ति में स्थान प्राप्त नहीं कर सका क्योंकि भगवती बाबू पात्रों के जीवन के उतार-चढ़ाव को तथा उनकी परिस्थितियों को चित्रित करने में अधिक रुचि लेते हैं। परिस्थितियों का विशद चित्रण करके यह चिंतन करना कि पात्रों के कर्म उचित अथवा नैतिक है या नहीं—भगवती बाबू को प्रिय है। रेखा उपन्यास परिस्थितियों की पकड़ में छटपटाते हुए पात्रों की विवशता को चित्रित करते हुए कुछ प्रश्न-चिह्न भर छोड़ जाता है।

दर्शन-शास्त्र की एम० ए० की छात्रा रेखा अंतर्राष्ट्रीय ख्याति के प्रोफेसर डॉ० प्रभाशंकर के व्यक्तित्व से अत्यंत प्रभावित होती है। डॉ० प्रभाशंकर के प्रति उसका आकर्षण श्रद्धा की भावना से भरा हुआ है। प्रोफेसर प्रभाशंकर एम० ए० फाइनल के डिजर्टेशन के लिए रेखा का गाइड होना स्वीकार कर लेते है। रेखा के सौन्दर्य और अध्ययनशील व्यक्तित्व के प्रति प्रोफेसर का भी झुकाव

---

१. थके पांव, पृ० ८९

होता है। प्रोफेसर का रेखा के प्रति आकर्षण अध्यापक का विद्यार्थी के प्रति सामान्य आकर्षण नही है बल्कि वह एक अतृप्त पुरुष का नारी के प्रति आकर्षण है। विधुर प्रोफेसर का देवकी से भी अनैतिक सबध है। जब देवकी अपने स्वार्थ-वश प्रोफेसर के पास इलाहाबाद से दिल्ली आती है तब प्रोफेसर अनायास ही देवकी और रेखा की तुलना करते है और रेखा की ओर अत्यंत तीव्रता से आर्कषित होते है। प्रोफेसर का विडबनापूर्ण रिक्त जीवन रेखा के मन मे उनके प्रति करुणा और प्रेम जागृत करता है। आदर्श और भावुकता से भरे हुए प्रेम से प्रेरित होकर रेखा शानदार व्यक्तित्व के मालिक किन्तु वार्धक्य की ओर बढ़ते हुए प्रोफेसर के विवाह के प्रस्ताव को स्वीकृत करके प्रोफेसर से परिणयसूत्र में बंध जाती है।

विवाह के बाद शारीरिक अतृप्ति के रूप में उसके जीवन का विद्रूप रेखा के सामने आता है। अमेरिका से आए हुए अपने भाई अरुण के मित्र सोमेश्वर से वह शारीरिक संबंध स्थापित करती है। जब सोमेश्वर उससे अपने साथ अमेरिका चलने का प्रस्ताव करता है तब वह उत्तर देती है, "शरीर नश्वर है, इसलिए शरीर के संबंध तो बनकर टूटना ही चाहिए। जहा तक आत्मा का संबंध है, वह तो तुम्हारे साथ कभी मेरा रहा ही नहीं है, रह भी नही सकता है। वह प्रोफेसर के साथ हो गया है, और मृत्यु पर्यन्त प्रोफेसर के साथ रहेगा।"[१] दर्शन की विदुषी रेखा के हाथ अपने-आपको सतुष्ट करने का यह अच्छा नुस्खा लग जाता है और फिर वह एक के बाद एक कई पुरुषों से अपने संबंध स्थापित करती है। मसूरी मे निरंजन कपूर के साथ उसका शरीर-सबंध स्थापित होता है जिसका पता प्रोफेसर को लग जाता है। यही से उनके जीवन में जहर घुलना प्रारम्भ हो जाता है।

रेखा अपनी गलती का अनुभव करके यह निश्चय करती है कि भविष्य में वह इस तरह की कमजोरी का शिकार नही होगी किन्तु वह अपने निश्चय पर अडिग नहीं रह पाती। प्रोफेसर के साथ वह बबई जाती है और वहां मेजर यशवंत सिंह से भी उसके संबंध बनते हैं। यशवंत सिंह से भी वह पुराना राग अलापती है, "मैं प्रोफेसर को बेहद प्यार करती हूं और मैं नहीं चाहती कि प्रोफेसर के प्रति मेरे प्रेम में किसी तरह का आघात पहुंचे।"[२] रेखा लगातार यह प्रयास करती है कि वह शारीरिक तृप्ति अन्यों से प्राप्त करते हुए हृदय से प्रोफेसर को चाहती रहे किन्तु उसका यह प्रयास सफल नहीं होता। डॉ० योगेन्द्रनाथ जब दिल्ली में रीडर बनकर आता है तब रेखा का उसके साथ भी गहरा संबंध स्थापित होता है।

रेखा और योगेन्द्रनाथ के संबंधों को लेकर विश्वविद्यालय के विभाग में

---

१. रेखा, पृ० १२५
२. रेखा, पृ० २१२

अप्रिय चर्चाएं होती है। अत्यधिक मानसिक तनाव के कारण प्रोफेसर को हार्ट अटैक हो जाता है। रेखा को कभी अनुभव होता है कि वह प्रोफेसर को बहुत चाहती है और कभी उसे लगता है कि उसे प्रोफ़ेसर से विरक्ति हो रही है। प्रोफेसर रेखा और योगेन्द्रनाथ के प्रति हिंसा से भर उठते है। वे योगेन्द्रनाथ को त्याग-पत्र दिलवा कर आसलो विश्वविद्यालय की नौकरी स्वीकृत करने के लिए बाध्य करते हैं। रेखा भी योगेन्द्रनाथ के साथ जाने को तैयार हो जाती है, किन्तु बीमार प्रोफेसर को देखकर उसका मन करुणा से भर जाता है और वह योगेन्द्र-नाथ को फोन करके उसके साथ जाने मे असमर्थता व्यक्त करती है। इतने मे ही प्रोफेसर क्रोध मे आकर उससे अपशब्द कहते हैं तो वह सूटकेस लेकर एयरोड्रम भागती है। जब वह एयरोड्रम पहुचती है तब पाती है कि योगेन्द्रनाथ का हवाई जहाज रवाना हो चुका है। वह वापस लौटती है तो पाती है कि इस बीच उसके पति की मृत्यु हो गई है। इन दो अप्रत्याशित झटकों से रेखा विक्षिप्त हो जाती है और हंसते हुए डॉक्टर से कहती है, "आप जानते है नियति ने मेरे साथ बहुत बड़ा खिलवाड़ किया है, लेकिन मैं रेखा हूं—रेखा। सब मिट गए, लेकिन यह रेखा मिट-मिटकर भी अमिट है। जाइए अब सोइए जाकर।"[1]

उपन्यास के इस मूल कथानक के साथ ही साथ शिवेन्द्र धीर और ज्ञानवती की अद्‌भुत प्रेमकथा, देवकी की कथा तथा शीरीं और निरंजन की कथा भी सहायक कथाओं के रूप में विद्यमान है। ऐसा लगता है कि यौन-कुंठाओं से ग्रस्त पात्रों का एक मेला लगा हुआ है। किन्तु इतना होने के बाद भी यह उपन्यास सेक्स की ग्रंथि का कोई विश्लेषण नही कर पाता। रेखा के बाह्य जीवन के उतार-चढ़ाव को चित्रित करने में ही लेखक इतना व्यस्त रहता है कि वह स्त्री-पुरुष-संबंधों को गहराई से प्रस्तुत नही कर सका। आत्मा और शरीर के धर्म को अलग माना जाए अथवा एक ? एक व्यक्ति क्या कइयों से प्रेम कर सकता है ? ऐसे कुछ प्रश्न इस उपन्यास मे 'चित्रलेखा' की तरह ही उठाए गए हैं। इतना ही नही, कई स्थलों पर रेखा का अतर्द्वद्व चित्रलेखा की परछाई की तरह लगता है पर जहां चित्रलेखा का द्वंद्व स्वाभाविक लगता है वही रेखा का द्वंद्व आरोपित लगता है।

अधिकांश स्थलों पर रेखा के तर्क-वितर्क उसके कार्यों से इतने विरोधी बैठते है कि स्पष्ट लगता है कि लेखक केवल तर्क करने के लिए ही तर्क कर रहा है। रेखा का व्यवहार अपरिपक्व लगता है। वह घर से तय करके निकलती है कि निरंजन से संबंध तोड़ लेगी किन्तु घर से निकलकर वह सीधे निरंजन के यहां जाती है और कहती है, "चलो निरंजन, वहां, जहां हम दोनों एक-दूसरे में अपने को खो दें।"[2] जबकि कुछ ही देर पहले उसने सोचा था—"कितने महान, कितने

---

१. रेखा, पृ० ३५१
२. वही, पृ० १७५

अच्छे थे प्रभा शंकर। उन्होने रेखा पर अभी तक किसी तरह का शक नही किया था, और अब वह प्रभा शकर को शक करने का मौका ही नही देगी। उसे निरजन को अपने जीवन से दूर करना होगा।"[1] रेखा के आदर्श और उसकी आत्मा पर वासना की विजय के चित्राकन को लेखक ने अनावश्यक तर्कों में उलझाया है। संभवत: लेखक ने यह सोचा कि दर्शन के प्रोफेसर और दर्शन की छात्रा के हर छोटे-मोटे कार्य मे भी तर्क-वितर्क आवश्यक है। सैद्धातिक तर्क-वितर्कों ने एक ओर भावना के चित्रण मे व्याघात पैदा किया तो दूसरी ओर उसने वासना के जुनून को सही तौर पर प्रस्तुत करने मे भी बाधा डाली। डी० एच० लारेंस के उपन्यास 'लेडी चेटर्ली' अथवा फ्लावेयर के 'मादाम बोवारी' मे वासना की जैसी निर्भीक स्वीकृति है वैसी भी रेखा में नही है। लारेंस और फ्लाबेयर अतृप्त स्त्री के पतन को बड़ी निर्ममता और स्वाभाविकता से चित्रित कर सके है वही भगवती बाबू रेखा की अराजक क्रियाओं को परिस्थितियों की गलती सिद्ध करने की कोशिश करते है। ऐसा उनके नियतिवादी जीवन-दर्शन के कारण हुआ।

रेखा के कथानक मे मानसिक टूटन-घुटन से कही अधिक परिस्थितियो के उतार-चढ़ाव है। इसका कारण यह है कि लेखक सिद्ध करना चाहता है कि जो कुछ रेखा के जीवन मे घटित हुआ वह भाग्य का खेल था। काफी तर्क-वितर्क के बाद अपने को उठाने का संकल्प करने के बाद भी रेखा पतित होती है किन्तु लेखक उसके पतन का दायित्व परिस्थितियों पर डाल देता है। "जो कुछ हुआ, उसमें यशवंत सिंह का दोष नही था, रेखा को लग रहा था, सारा दोष परि-स्थितियों का था। ये परिस्थितियां बुरी तरह उसके पीछे पड़ी थी, परिस्थितिया उसे खिलौना बनाए हुए थी।"[2] शशिकान्त के साथ जब रेखा उसके ठहरने के स्थान पर जाती है तब उसके अंदर शारीरिक भूख थी। उस भूख की तुप्टि के लिए ही, अपनी मर्जी से, वह उसका साथ स्वीकार करती है किन्तु लेखक ने इसे भी अदृश्य का खेल मान लिया है। अपनी उहापोह के कारण वह योगेन्द्रनाथ के साथ नहीं जा पाती। इसे भी नियति का खेल ही चित्रित किया गया है—"यंत्र की भांति वह गाड़ी में बैठ गई और उसने अपनी कार घर की ओर मोड़ दी। नियति ने जो मार्ग उसके लिए निर्धारित किया है, वह उससे नहीं हट सकेगी। उस नियति के विधान के प्रति आत्म-समर्पण—उस घुटन, उस कुंठा को प्राणों से हमेशा-हमेशा के लिए चिपटाए रहना, जिसको उसने वरण किया है।"[3] इस उपन्यास के कथानक में भी नियतिवादी संकेत भगवती बाबू के अन्य उपन्यासों

---

१. रेखा, पृ० १७४
२. वही, पृ० २१७
३. वही, पृ० ३५०

की तरह विद्यमान हैं। भावी अनिष्ट का संकेत पात्रों की निराशा या उदासी के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

सीधी-सच्ची बातें

'सीधी-सच्ची बातें' १९६८ मे प्रकाशित भगवती बाबू का डिमाई आकार का—पांच सौ चौसठ पृष्ठ का वृहत् उपन्यास है। 'भूले-बिसरे चित्र' में लेखक ने १८८५ से लेकर १९३०-३१ तक के भारतीय परिवेश को चित्रित किया था। इस उपन्यास को 'भूले-बिसरे चित्र' की अगली कड़ी के रूप मे लिखा गया है। इस उपन्यास की पृष्ठभूमि सन् १९३८ से लेकर १९४८ तक का काल है, जिसमें त्रिपुरी कांग्रेस से लेकर बापू की मृत्यु तक की घटनाए है। अपने अद्भुत प्रवाह और रोचकता के कारण 'भूले-बिसरे चित्र' एक विशिष्ट कृति है। अपनी गहनता और सतुलन के कारण 'टेढ़े-मेढे रास्ते' भी एक आकर्षक उपन्यास है। किन्तु उक्त कृतियों का कोई भी गुण 'सीधी सच्ची बातें, मे नही दिखलाई पड़ता। एक विशिष्ट कालखण्ड के विषय में अधिक से अधिक जानकारी देने की प्रवृति ने औपन्यासिकता को भयानक क्षति पहुंचाई है। कथानक का संतुलित क्रियान्वयन (Balanced handling of plot) नहीं हुआ है। भावना के आवेग ने इस उपन्यास में एक ऐसी लेखकीय अराजकता पैदा कर दी है कि उपलब्धियों के नाम पर विशाल कलेवर, सुन्दर बाइंडिग और मुखपृष्ठ ही पढने वाले के हाथ लगते है। भगवती बाबू ने भारत के आधुनिक काल की हलचलों और परिवेश को उपन्यासों के रूप में शृंखलाबद्ध किया है। 'सीधी सच्ची बातें' उस अनुक्रम की मात्र खानापूर्ति करता है। इसमें पैनोरमिक उपन्यास (Panoramic novel) की गरिमा का अभाव है।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के शोध-छात्र जगत प्रकाश को केन्द्र बनाकर कथानक का ताना-बाना गूथा गया है। राजनीति में रुचि न होने के बाद भी अपने मित्र कमलाकांत के कहने पर वह त्रिपुरी काग्रेस को देखने जाता है। त्रिपुरी में वह देश की बदलती हुई राजनीति का जायजा तो लेता ही है साथ ही राजनीति से प्रतिबद्ध कुछ अत्यंत समृद्ध लोगों से उसकी मित्रता होती है। जसवत कपूर, त्रिभुवन मेहता, कुलसुम कावसजी तथा मालती बेन का परिचय उसके जीवन की धारा को बदल देता है। इनसे परिचित होने के बाद से उपन्यास के अत तक जगत प्रकाश कैरम के 'स्ट्राइकर' की तरह इधर से उधर 'रिबाउड' होता रहता है। बीमार कुलसुम को पहुंचाने वह बबई जाता है तो वहां उसकी भेट जमील काका से होती है जो उसीके गांव का व्यक्ति है तथा बंबई की कम्यूनिस्ट पार्टी का सक्रिय कार्यकर्त्ता है। जमील के साथ वह बबई का असली रूप देखता है और साम्यवादी विचारधारा का पहला पाठ भी पढ़ता है। कुलसुम के प्रति उसके मन

मे आकर्षण जागता है और कुलसुम भी जगत की ओर आकृष्ट होती है। रिसर्च पूरी करके जगत विश्वविद्यालय मे प्रोफेसर हो जाता है किन्तु बंश गोपाल वकील एवं रूपलाल इंस्पेक्टर के षड्यन्त्र से उसे कम्यूनिस्ट होने के सदेह मे गिरफ्तार करके देवली कसेन्ट्रेशन कैम्प भेज दिया जाता है। देवली कैम्प में वह सचमुच कम्युनिस्ट बन जाता है।

देवली कैम्प से छूटकर उसे मालूम होता है कि उसकी वाग्दता यमुना का विवाह इंस्पेक्टर रूपलाल से हो गया है। जगत के मन पर ठेस लगती है। इसके बाद जब उसे यह मालूम होता है कि कुलसुम ने परवेज से शादी कर ली है तब उसका मन इतना कड़ुवा हो उठता है कि वह सेना मे भर्ती हो जाता है तथा कमीशन प्राप्त करके द्वितीय विश्वयुद्ध में जर्मनी के विरुद्ध लड़ने के लिए मित्रराष्ट्रों के मोर्चे पर चला जाता है। किन्तु वह युद्ध की विभीषिका भी नही झेल पाता है और नरक की कमजोरी के कारण सेना से मुक्ति प्राप्त करता है। भारत लौटकर उसे फिर एक आघात मिलता है। आंदोलन दबाने के लिए फौजियों द्वारा अंधाधुंध चलाई गई गोलियों से उसकी बड़ी बहन की मृत्यु हो जाती है, जो उसके जीवन का एकमात्र सहारा थी। जगत को इलाहाबाद विश्वविद्यालय में फिर से नौकरी मिल जाती है जहां सुषमा का नकली प्रेम उसे एक और आघात देता है। कुलसुम के निमंत्रण पर वह नौकरी से इस्तीफा देकर बंबई चला जाता है जहां न वह उस महाविद्यालय की नौकरी प्राप्त कर पाता है जहां उसे नौकरी की उम्मीद थी, न वह कांग्रेसी बन पाता है न कम्यूनिस्ट और न ही वह मालती का प्रेम पा सकता है। वह केवल कुलसुम के पैसों और प्यार के सारे दिन काटते हुए सारी दुनिया की गतिविधि से परेशान होते हुए अपने को दुनियां मे 'मिसफिट' पाता है। जब जमील काका भारत-पाक विभाजन के बाद पाकिस्तान चले जाते है तो उसके विश्वास को एक और चोट लगती है और सबसे भयंकर चोट लगती है गांधीजी की हत्या से। गांधीजी की हत्या का समाचार सुनकर उसका हार्ट फेल हो जाता है और स्वप्नलोक में विचरण करने वाली उसकी प्रेमिका उसे 'फरिश्ता' का खिताब दे देती है। उपन्यास इस तरह समाप्त होता है—"कुलसुम ने बढ़कर जगत प्रकाश का हाथ पकड़ लिया, उसकी नब्ज जाती रही थी। उसने पीछे हटकर कहा,' गया—महात्मा के पीछे-पीछे एक फरिश्ता भी गया।' और उसकी आंखों से दो आंसू टपक पड़े।"[१]

इस कथानक के अतिरिक्त जगत के आसपास की और भी कहानियां इसमें हैं। मालती और त्रिभुवन, शिवदुलारी और सुखलाल, माता प्रसाद और यमुना, शायर सैलाब की कहानियां भी समानान्तर चलती हैं पर वस्तुतः उपन्यास में

१. सीधी-सच्ची बातें, पृ० ५६४

मुख्य तथा गौण—कोई भी कहानी विशेष मतलब नही रखती। १६३८ से १६४८ तक की घटनाओं का जिक्र और उनपर वाद-विवाद ही उपन्यास में भरा हुआ है। हिंसा-अहिंसा, हिन्दू-मुसलमान, कम्यूनिज्म और कांग्रेसी आंदोलन का विश्लेषण उपन्यास में इतना अधिक है कि कई बार लगता है कि हम उपन्यास नही पढ रहे हैं बल्कि इतिहास की पुस्तक पढ़ रहे हैं। व्यर्थ के चिंतन में उपन्यास का कलेवर आवश्यकता से अधिक बडा हो गया है। हर पात्र दार्शनिक की तरह बोलता है और फिर बोलता ही जाता है। बबई की भीड़ को देखते ही जमील 'रिसर्च स्कालर' जगत को मनुष्य की सामाजिकता पर व्याख्यान जैसा पिलाने लगता है। मजदूरो को देखकर जगत जमील से एक व्यर्थ का प्रश्न करता है, 'जमील काका। "इस सड़ांध और गंदगी में रहने के लिए अपने वतन को छोडकर हजारों मील की दूरी पर लोग खुशी से चले आते हैं, इसपर मुझे आश्चर्य होता है।"[1] अर्थशास्त्र के रिसर्च स्कालर के इस प्रश्न के उत्तर में जमील एक लम्बा-चौड़ा उत्तर देता है और उत्तर में जब वह बड़ी सामान्य-सी बात कहता है तो स्पष्ट हो जाता है कि न तो जगत ने प्रश्न किया और न ही जमील ने उत्तर दिया। वस्तुत: लेखक ने ही प्रश्न खड़ा कर दिया क्योंकि उसे उत्तर के रूप में कुछ कहना था। कथा के प्रवाह को दरकिनार कर लेखक किसी भी शब्द से उलझ पड़ता है। मोर्चे पर जगत प्रकाश को कैप्टन सांडर्स गाली देता है। बस, चिंतन प्रारम्भ हो जाता है :

"कैप्टन सांडर्स ने उसे गाली दी थी, गाली देने का उसे अधिकार था, क्योंकि वह अफसर था। लेकिन उसने गाली खाई क्यो? अनुशासनवश होकर। अनुशासन! जगत उलझ गया। इस अनुशासन की कही कोई सीमारेखा तो होनी चाहिए। जब अनुशासन मनुष्य के विवेक को कुंठित कर दे, उसकी चेवना को जड़ कर दे, तब वह गुलामी से भी निकृष्ट पशुता का रूप धारण कर लेता है।"[2]

पूरा उपन्यास इस तरह के तथाकथित चिंतन से भरा हुआ है। व्यर्थ विस्तार की प्रवृत्ति पात्रों की ट्रेन यात्रा के विवरण में भी दिखलाई पड़ती है। उपन्यास का बड़ा हिस्सा पात्रों की रेल-यात्रा तथा उनके द्वारा इण्टर और सेकड क्लास की टिकट बदलवाने की क्रिया को समर्पित है। कभी-कभी उपन्यास रेलवे टाइम टेबल का आभास देता है।

उपन्यास के सारे पात्र बड़े 'प्यारे और भोले' है। वे सभी स्वप्नलोक के निवासी लगते हैं। वे यात्राएं करते हैं, अधिवेशनों में हिस्सा लेते हैं और बहस करते हैं। अत तक यह समझना मुश्किल पड़ता है कि भिन्न-भिन्न मुद्दों पर पात्रों की सही राय क्या है। जसवत कांग्रेस और कांग्रेस के नेताओं की गलतियां

१. सीधी-सच्ची बाते, पृ० ७४
२. वही, पृ० ३५५

बतलाता है। कांग्रग्रेस के पूरे कार्यक्रम को 'गलत' निरूपित करके दूसरी ही सांस मे वह जगत से कहता है, 'शायद देश मे जो कुछ हो रहा है वह सबका सब गलत है। और इन्ही गलतियों में हमें रहना है। मेरी समझ मे तुम कांग्रेस ज्वाइन कर लो। मैंने कम्यूनिस्ट पार्टी को अदर से देखा है, और मै समझता हूं कि देश की जनता का विश्वास प्राप्त करने में अभी कम्यूनिस्ट पार्टी को लम्बा समय लगेगा।''[1] टेढे-मेढे रास्ते की तरह विभिन्न विश्वासों को आत्मसात् किए हुए पात्र इसमे नही हैं, 'सीधी-सच्ची' बाते के पात्र अपनी विचारधारा और विश्वास से प्रेरित हो कर बहस नही करते बल्कि बहस करने के लिए बहस करते है।

कथानक का सबसे कमजोर पक्ष है नायक का उसमें संपृक्त न हो पाना। यह भी द्रष्टव्य है कि लेखक ने उसे गालिबन महान व्यक्ति के रूप मे चित्रित किया है जबकि वह पूरी तरह निष्क्रिय और परनिर्भर जीवन बिताता है। कथा-नक का राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक सघर्ष जितना तीव्र होता जाता है वह उतना ही कुलसुम का आश्रित होता जाता है। वह इस हद तक अनिश्चय का बंदी बन जाता है कि कम्यूनिस्ट पार्टी मे भर्ती होने के लिए भी वह कुलसुम की राय पर निर्भर है। यहां तक कि अपनी नौकरी बेवजह छोड़कर वह दूसरों का आश्रित बनता है और ओढा हुआ संघर्ष मागता है। वह कुछ नही करता केवल संसर्ग मे आने वाली स्त्रियों पर मोहित होता है और उनका बाडीगार्ड या दूत बन कर यात्राएं करता है। पर लेखक उसे संघर्ष में जीता हुआ दिखलाने का प्रयास करता है। यहां तक कि अंत में उसे फरिश्ता घोषित कर खून चुपड़कर शहीद बना देता है। समय की हलचलों से प्रसूत दर्द को व्यक्ति द्वारा भोगने की कथा पास्तरनाक की 'डॉ० जिवागो' भी है जिसमें एक व्यक्ति को केन्द्र मे रखकर एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक परिवर्तन को लेखक चित्रित करता है। 'डॉ० जिवागो' की विशेषता यह है कि उसके नायक की आतरिक टूटन बेहद ईमानदार लगती है। 'सीधी-सच्ची बातें' का जगत स्वभाव से निष्क्रिय और संशयग्रस्त लगता है। ऐसा महसूस होता है कि देशव्यापी हलचल को दर्शाने के लिए कथानक में किसी नायक की आवश्यकता अनिवार्य समझकर उसकी रचना की गई है।

राष्ट्रीय हलचल पर स्पष्ट वार्तालाप और नेताओं पर दो टूक राय इस उप-न्यास में व्यक्त की गई है। लेखक यह मानता है कि स्वाधीनता-आंदोलन के पीछे कांग्रेस के माध्यम से पूंजीवादी वर्ग ही सक्रिय था क्योंकि स्वाधीनता का सबसे अधिक लाभ उस वर्ग को ही मिलना था। अहिंसा की नीति पर लेखक का विश्वास नही है। कहीं-कही तो अहिंसा को उसने भारत की आधारभूत कायरता का नया बौद्धिक रूप माना है। जर्मन शाइनर जगत से कहता है, ''एक हजार वर्ष

---

१. सीधी-सच्ची बाते, पृ० ५३२

से गुलामी करने वाले राष्ट्र में कही तो कोई आधारभूत दोष रहा होगा, और यह आधारभूत दोष तुम्हारी अहिसा वाली कायरता है। तुम्हारी यह आधारभूत कायरता ही इस युग में अहिसा का एक नया बौद्धिक जामा पहनकर आगे आ रही है।"[१] कम्यूनिस्ट पार्टी की हिंसा पर लेखक उसी तरह प्रहार करता है जिस तरह काग्रेस की अहिंसा पर उसने किए है। 'भीषण हिंसा और रक्तपात के बीच कम्यूनिस्ट जगत को प्रेम और अहिसा का मूल्य समझ मे आता है। उपन्यास के कम्यूनिस्ट पात्र भी समृद्ध है और बीच-बीच मे एक-दूसरे को वे 'शौकिया कम्यूनिस्ट' घोषित करते है। लेकिन लेखक का रुख कभी भी उन पात्रों के लिए, विशेष कर कुलसुम और जसवत के लिए, व्यग्यात्मक नही लगता।

लेखक हिसा और अहिंसा दोनों की तारीफ करता हुआ और दोनों की कटु आलोचना करता हुआ दिखलाई पडता है। लेखक के संदर्भ मे फिर भी यह कहा जा सकता है कि वह किसी विशिष्ट विचारधारा का समर्थन नही करना चाहता अथवा वह विचारधाराओं के हर पहलू को प्रस्तुत करना चाहता है किन्तु राजनीति में डूबे हुए पात्रों की स्पष्ट विचारधारा का समझ मे न आना लेखन की कमजोरी है। कही-कही लेखक की नितांत निजी विचारधारा इस हद तक अजीब तर्क प्रस्तुत करती है कि पाठक को कोफ्त होती है। हिसा-अहिसा के तात्त्विक चिंतन को जब लेखक सामिष और निरामिष भोजन से जोड़ता है तब तर्क अत्यत हास्यास्पद हो जाते है। जसवंत कपूर अहिंसा-दर्शन का विश्लेषण इस तरह करता है, "हां, तो हमारे समाज का एक छोटा सा वर्ग ही निरामिष भोजी है, लेकिन यही छोटा-सा वर्ग हमारा बौद्धिक नेतृत्व करता है। हमारे समाज का बौद्धिक नेतृत्व ब्राह्मणों के हाथ में है और अधिकाश ब्राह्मण निरामिषभोजी हैं, हमारा आर्थिक नेतृत्व बनिये के हाथ में है और हमारे देश का बनिया निरामिषभोजी है। और ब्राह्मण तथा बनिये की यह अहिसा एक ऐसी भयानक सामाजिक हिंसा में बदल गई है जिसकी मिसाल दुनिया में नही मिलेगी।"[२] जो पात्र गांधी को देवता कहता है वही गांधी को मतलबपरस्त कहता हुआ भी दृष्टिगोचर होता है। निष्कर्ष के रूप मे हम कह सकते हैं कि 'सीधी-सच्ची बातें' में कही गई बातें आश्वस्त करने की सीमा तक न तो सच्ची हैं और न ही सीधी।

सबहिं नचावत राम गुसाईं

वैसे तो हर उपन्यास का कथानक पूर्व नियोजित होता है किन्तु उसके पूर्व नियोजित होने का आभास लेखक की असफलता है। लेखक यदि पाठक को यह अनुभव करा दे कि जो कथा वह पढ़ रहा है वह गढ़ी हुई नहीं है बल्कि घटित हुई

१. सीधी सच्ची बातें, पृ० १५६
२. वही, पृ० ३५

है तो इसे उपलब्धि मानना होगा क्योंकि तब पाठक की चेतना के लिए वह सहज ग्राह्य होगी। १९७० में प्रकाशित भगवतीचरण वर्मा का उपन्यास 'सबहि नचावत राम गुसाईं' इस कसौटी के आधार पर अत्यन्त सफल कृति मानी जायेगी। कथ्य और शिल्प के अद्भुत संतुलन के कारण उनकी परवर्ती कृतियों में यह कृति सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। विश्वयुद्ध के समय जो काला बाजारी और रिश्वतखोरी प्रारम्भ हुई थी वह बढ़ते-बढते किस तरह स्वतन्त्र भारत में व्यापक रूप धारण करती है ! तिकड़मबाजी और दादागिरी के बल पर सामंतशाही में शासन प्राप्त होता था किन्तु स्वाधीन प्रजातान्त्रिक युग मे भी उसीका बोलबाला है केवल उसका स्वरूप बदल गया है—इन बातों का कच्चा चिट्ठा यह उपन्यास अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से प्रस्तुत करता है।

इसे एक निरन्तर चलने वाली कहानी मानते हुए लेखक कहता है—"कहानी पूरी हो गई, लेकिन खत्म नही हुई। अनादिकाल से यह कहानी किसी न किसी रूप मे चलती आई है और अनन्त काल तक किसी न किसी रूप मे चलती रहेगी।"[1] लेखक का विश्वास है कि मानवीय मूल्यों का विघटन कभी ससार की उन्नति को रोक नही सकता। विघटन का संकट हर युग ने भोगा है फिर भी दुनिया से अच्छाई नष्ट नही हुई है। रक्त चूसने वाले व्यापारी, भ्रष्ट गद्दीनशीनों के काले कारनामों ने ससार की प्रगति की गति को धीमा अवश्य किया है किन्तु उनके कारण कोई भी युग और देश हमेशा के लिए पगु नही हुआ है। युग-युग से अच्छाई और बुराई का यह युद्ध चल रहा है। कभी-कभी ऐसा समय आता है कि लगता है कि अब अच्छाई, और ईमानदारी कभी उभर नही सकेगी किंतु लेखक का विश्वास है कि अच्छाई दबकर भी नष्ट नहीं होती, वह बुराई से लोहा लेती रहती है। भगवती बाबू ने अपने कई लेखों में यह स्वीकार किया है कि उनके अन्दर प्रबल आस्था है। यह उपन्यास उनकी आस्था का साक्षी है। इसमे मानवीय आस्था का स्वर प्रबल है अन्यथा उनकी कृतियों में मानव की असहायता का चित्रण अधिक होता है।

'अपने खिलौने' के बाद भगवती बाबू की यह दूसरी व्यंग्य-कृति है। किन्तु दोनों कृतियों में एक मूल अन्तर है। इन दोनों में ही नही वरन सम्पूर्ण समकालीन व्यंग्य लेखन और 'सबहि नचावत राम गुसाईं' में वही अन्तर है। व्यंग्य-लेखन में स्थितियों की विडंबना को चित्रित करते हुए विकृतियों पर तीखा वार करना लेखक का उद्देश्य होता है। व्यंग्य को पढ़कर एक तिलमिलाहट और बेचैनी का बोध होता है। बुराई का विरोध व्यंग्य के माध्यम से होता है किन्तु इस कृति में विषमताओं, विडंबनाओं पर भरपूर व्यंग्य होने के उपरान्त भी मानवीय अच्छाई

---

1. सबहिं नचावत राम गुसाईं, पृ० २८३

पर आस्था व्यक्त की गई है। यह कृति आक्रोश को व्यक्त नही करती बल्कि 'जग का मुजरा लेय' की मुद्रा मे केवल तीखी मुस्कुराहट को व्यक्त करती है। यही कारण है कि इसमें वह पैनापन नही है जो हरिशंकर परसाई के लेखन में होता है, किन्तु आशा से भरा हुआ स्वर कृति में निहित व्यंग्य को एक नई अर्थ-सार्थकता प्रदान करता है।

उपन्यास चार खण्डो में लिखा गया है और तीन विभिन्न कहानियों को सामने रखता है। तीनों कहानियों में तीन मुख्य पात्रों की तीन पीढियों का क्रमिक विकास है। पहले खंड का शीर्षक है—'राधेश्याम-बुद्धि'। इस खंड में देश के पूजीपति वर्ग की निरन्तर बढ़ती हुई हरामखोरी की कहानी है। लाला घासीदास किरानी थे। कम तौलना तथा डण्डी मारना ही उनकी बेईमानी की सीमा थी किन्तु उनका लड़का मेवालाल अपनी जालसाजी के बल पर अपने पिता की हजारों की दौलत को लाखों में बदल देता है। मेवालाल अपने लडके राधेश्याम को उच्चशिक्षा देता है और राधेश्याम अपनी बुद्धि के बल पर देश का बड़ा भारी उद्योगपति बन जाता है। राधेश्याम की बुद्धि पूर्णतः व्यावसायिक बुद्धि है जो सही अर्थो में बेईमानी और मौकापरस्ती का ही सम्भ्रान्त रूप है। जैसुखलाल से वह उद्योगपति बनने का गुर सीखता है और द्वितीय विश्वयुद्ध में फौजों को घटिया माल सप्लाई करके उद्योगपति बन जाता है। जब भारत की स्वाधीनता के लक्षण दिखलाई पड़ते है तब वह खद्दरधारी बनता है और स्वतन्त्र देश में भी बेईमानी करने का लाइसेंस प्राप्त करता है। प्रदेश के गृहमन्त्री जबरसिंह की आत्मा को पैसे से खरीद कर वह बड़े भारी उद्योग की स्थापना की योजना बनाता है।

दूसरे खण्ड का शीर्षक है—''जबरसिंह-भाग्य'। इस खण्ड में मन्त्री जबरसिंह के परिवार की उन्नति की कहानी है। पेशेवर डाकू का बेटा नाहरसिंह डाके की रकम से उत्तर प्रदेश में एक छोटी-सी जायदाद खरीद कर कुंवर नाहरसिंह राठौर बन जाता है। उसके बेटे केहरसिंह का विवाह बघेल ठाकुर रघुनाथसिंह की बहन से होता है जिससे उसके खानदान पर उच्चकुलीन ठाकुर होने का ठप्पा लग जाता है। उसका उजड्ड और अक्खड़ बेटा जबरसिंह अपने दुस्साहस के कारण राजनीति मे अत्यन्त सफल होता है। राजा गभीरसिंह की लड़की धनवंत कुंवर से उसका विवाह होता है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारतीय राजनीति के अपने अलग ही आदर्श और सिद्धान्त बनते है। उन आदर्शो एवं सिद्धान्तों मे प्रवीण होने के कारण जबरसिंह एक दिन प्रदेश का गृह मन्त्री बनता है। इस खण्ड के अन्त में जबरसिंह की सफलता का वर्णन लेखक इन शब्दों में करता है—''चारों ओर जबरसिंह का आतक था। जबरसिंह जानता था कि अपनी राजनीतिक सत्ता किस तरह कायम रखी जाए। और उसने देखा कि आदर्शवाद का युग देश के स्वतन्त्र होते ही समाप्त हो गया है। अब आदर्शवाद एक नारा-भर रह गया है, असली

चीज है अपनी सत्ता की रक्षा, और सत्ता की रक्षा केवल पैसों के बल पर ही हो सकती है।"[१]

तीसरा खण्ड राजाओ और ताल्लुकेदारों की गिरती हुई हालत का बयान है। सत्ता बलवानों के हाथ से निकलकर किस तरह पैसे वालों के हाथ में चली गई इसका जीता-जागता चित्र इस खण्ड मे प्रस्तुत है। खण्ड का शीर्षक है 'रामलोचन पाण्डे-भावना'। पडित रामसमुझ पाण्डे राजा पृथ्वीपालसिह का विवाह ऐंग्लो-इण्डियन लड़की से करवाकर जायदाद प्राप्त करके राजा की पदवी प्राप्त करते है। किन्तु समय के साथ ही ताल्लुकेदारो की स्थिति बिगड़ती है और उनके लडके रामलोचन पाण्डे को नौकरी करनी पड़ती है। अपने भाई के मित्र राजा महिपाल सिह के माध्यम से रामलोचन का परिचय जबरसिह से होता है और उसे पुलिस विभाग मे नौकरी मिल जाती है। ईमानदारी और सिद्धान्तप्रियता जैसे गुणों को लेकर रामलोचन पाण्डे भ्रष्ट समाज में कानून का सच्चा रक्षक बनने का प्रयास करता है।

तीन कहानियों के माध्यम से भारत का यथार्थ चित्र खीचकर लेखक अपने पात्रो को एक जगह एकत्रित कर लेता है। उपन्यास का चौथा खण्ड है—'उठा-पटक' जिसमें लेखक ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि बुद्धि और भाग्य मिलकर उन्नति कर सकते है किन्तु भ्रष्ट भी हो सकते हैं पर भावना को किसी कीमत पर खरीदा नही जा सकता। उठा-पटक के अन्तर्गत जहा बुद्धि, भावना और भाग्य का संघर्ष है वही राजनैतिक और सामाजिक उठा-पटक का चित्रण भी है। अपनी न्याय-बुद्धि से प्रेरित होकर रामलोचन पाण्डे गृह मन्त्री के परम मित्र भ्रष्ट उद्योगपति राधेश्याम को, गृह मन्त्री के आदेश की अवज्ञा करके भी, गिरफ-तार करता है और साबित करता है कि सामाजिक पतन का निदान नियम, कानून और व्यावहारिक बुद्धि में नही बल्कि भावना में है। नियम-कानून को सबल व्यक्ति अपने पक्ष में कर लेता है किन्तु भावना को किसी ताकत से नही जीता जा सकता। रामलोचन पाण्डे जबरसिह को चुनाव में हराता है और साबित करता है कि सबल और साधन सम्पन्न होने के बाद भी बुराई पराजित होती है।

उपन्यास का अन्तिम खण्ड, अपेक्षाकृत शिथिल है। इसमे घटनाओं की बहु-लता है और लेखक का सन्तुलन डिग गया है जिसके कारण उसने पहले तीन खंडों में अत्यन्त संयत व्यग्य का सृजन किया है। वास्तव में भगवती बाबू के लेखन मे खतरनाक स्थिति तभी उत्पन्न होती है जब वे लतीफेबाजी के मूड मे आ जाते है। ऐसी स्थिति में वे आवश्यकता से अधिक कल्पनाशील हो उठते हैं। परिणाम यह होता है कि कथानक में घटनाओं का भयानक उतार-चढ़ाव उत्पन्न हो जाता है।

१. सबहिं नचावत राम गुसाईं, पृ० ९७

इस उतार-चढ़ाव को भगवती बाबू बाद मे अपने नियतिवादी दर्शन से 'जस्टीफाई' कर देते हैं। इस उपन्यास के अन्तिम खण्ड के साथ भी यही हुआ है।

एक अत्यन्त विस्तृत कालखण्ड की कथा कहकर भगवती बाबू अपने नियतिवादी दर्शन की पुष्टि यह कहकर करते है कि यह सब कुछ इसलिए घटित हो रहा है क्योंकि इसे ऐसा ही होना है। सृष्टि की हर घटना अपने नियतक्रम की एक कड़ी है। हर व्यक्ति कठपुतली की तरह अदृश्य की डोरियों से बंधा हुआ नाच रहा है। इस तमाम उठा-पटक से निराश होने की आवश्यकता नही है क्योकि अच्छाई और बुराई का युद्ध शाश्वत है। उपन्यास का अन्त भगवती बाबू इन शब्दों के साथ करते है :—

"पढ़ा था—'सबहि नचावत राम गुसाई'। तो यह सब चरित्र ही नही, यह दुनिया राम गुसाई के इंगित पर नाच रही है, यानी मैने भी राम गुसाई के इंगित पर नाचते हुए यह कहानी लिख डाली है।"[१]

भगवती बाबू अपने अन्य उपन्यासों मे भी पतनोन्मुख भारतीय समाज का चित्रण करते रहे है किन्तु नवोदित राष्ट्र की घुन लगी हुई स्थिति का प्रभावशाली चित्रण जैसा 'सबहि नचावत राम गुसाई में हुआ है वह अपने ढंग का है। अन्य उपन्यासों में भारतीय जनमानस की घुटन को व्यक्त करने की उन्होंने कोशिश की है जबकि इस उपन्यास में व्यग्य की शैली से उन्होंने एक यथार्थ चित्रभर खींच दिया है। अन्तिम खण्ड की घटना-बहुलता और नियतिवादी दर्शन ने व्यंग्य की धार को थोड़ा कम अवश्य किया है किन्तु यह निःसंकोच स्वीकार किया जा सकना है कि विशुद्ध व्यंग्य शैली मे लिखे गए हिन्दी उपन्यासो मे 'सबहि नचावत राम गुसाइ' को श्रीलाल शुक्ल के 'राग दरबारी' के समानान्तर रखा जा सकता है। 'राग दरबारी' का स्वर अपेक्षाकृत तीखा है किन्तु मनोरंजकता और प्रवाह की दृष्टि से 'सबहि नचावत राम गुसाई' अधिक सफल कृति है।

प्रश्न और मरीचिका

१९७३ में प्रकाशित 'प्रश्न और मरीचिका' भगवती बाबू का नवीनतम बृहत् उपन्यास है। चार खण्डों का यह उपन्यास १५ अगस्त, १९४७ से लेकर १९६३ तक के भारतीय समाज की उथल-पुथल पर आधारित है। यह उपन्यास भारतीय जनमानस के मोह-भग को प्रस्तुत करता है। स्वातंत्र्योत्तर भारत के जीवन-मूल्यों के विघटन की कहानी सीधे और सहज ढंग से इस कृति के माध्यम से सामने आती है। स्वतंत्रता कभी किसी देश या समाज के लिए साध्य नही होती बल्कि वह अपेक्षाकृत अच्छे और ईमानदार समाज की रचना के लिए एक साधन है। भारत

---

१. सबहि नचावत राम गुसाईं, पृ० २८४

के स्वाधीनता-आदोलन ने मात्र राजनैतिक स्वाधीनता का राग कभी नही अलापा। इस आंदोलन ने समता, बंधुत्व, अहिंसा जैसे आदर्शों के माध्यम से एक बेहतर समाज को पाने की घोषणा की थी किन्तु कल्पना के विपरीत भारत को स्वाधीनता साम्प्रदायिक, वैमनस्य से उत्पन्न दंगों की छाया मे मिली और उसके बाद यह लगा कि कर्मठ लोगों का युग समाप्त हो गया। अत्यत तीव्रता से पतित होते हुए भारतीय समाज की कहानी अत्यंत स्पष्ट शब्दों में लेखक प्रस्तुत कर सका है। जो समाज सम्पूर्ण विश्व को चकित कर देने वाले आदर्श-सकुल आंदोलन को लेकर बढा था वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति के बाद क्यों इस तरह बहक गया ? यह एक विचारणीय प्रश्न है। लेखक ने इसका उत्तर जानने का ईमानदार प्रयास किया है। वह यह दावा भी नही करता कि उसका विश्लेषण ही सत्य है। उपन्यास के अंत में वह नायक के माध्यम से स्वीकार करता है :

"यह मेरे जीवन की कहानी इतनी नही है जितनी उन लोगों की जो मेरे इर्द-गिर्द हैं या थे, जो मेरे जीवन मे घनिष्ठ रूप से आए और जिन्होंने मेरे जीवन को प्रभावित किया। और इसलिए मै कह सकता हूं कि यह मानव-जीवन के उतार-चढाव की कहानी है। जहा तक सत्य, असत्य अथवा अर्द्ध सत्य का सवाल है इस कहानी का सत्य मेरा सत्य है, दूसरों का सत्य क्या है, मैं नही जानता। इस जीवन के न जाने कितने रग है, न जाने कितने पहलू है जो आसानी से पकड में नही आते।"[१]

आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया वह उपन्यास वास्तव में एक व्यक्ति अथवा परिवार की कहानी नही है। 'सीधी-सच्ची बातें' की तरह इस उपन्यास में केवल राजनैतिक विश्लेषण को दृष्टि में रखकर लम्बे-लम्बे संवादों की भरमार नही है बल्कि नायक का अवलोकन है। कथानक सचमुच ही नायक के जीवन के उतार-चढ़ाव पर केन्द्रित ना होकर उसके आस-पास के समाज पर केन्द्रित है। नायक ऊंचे तबके का व्यक्ति है अत: इस उपन्यास में निम्न वर्ग तथा मध्य वर्ग का चित्रण नही है। समाज के सबसे ऊंचे वर्ग की चरित्रहीनता तथा शाब्दिक आदर्शो की विडंबना को प्रस्तुत किया गया है। लेखक की ओर से किसी भीषण आक्रोश अथवा नारेबाजी का आग्रह भी इसमें नहीं है। लेखक केवल सरल ढंग से आदर्शच्युत, लालची और समझौता परस्त वर्ग का नकाब उतार फेंकता है। यही कारण है कि अपनी सपाट बयानी के उपरात भी उपन्यास का कथ्य प्रभाव डालता है। लेखक अपनी बात को कलात्मक ढंग से लिपिबद्ध करने के मोह में कहीं भी नहीं फसा है। उसने भरसक प्रयत्न किया है कि वह स्वयं निस्पृह और तटस्थ रह सके। अपने-आपको आरोपित करने का मोह भगवती बाबू में है यह

---

१. प्रश्न और मरीचिका, पृ० ५३७

उनके अन्य उपन्यासों से प्रमाणित है किन्तु 'प्रश्न और मरीचिका' मे उनकी निर्लिप्त मुद्रा भी उपन्यास के प्रभाव को बढ़ाने मे सहायक सिद्ध हुई है।

उपन्यास का पहला खण्ड नायक उदयराज उपाध्याय के व्यक्तिगत जीवन से जुड़ा होता है किन्तु उसके जीवन की कहानी ही अगले तीन खण्डों मे चित्रित की गई समाज की कहानी की आधारशिला का काम करती है। बबई से अपनी शिक्षा-दीक्षा समाप्त कर उदयराज १४ अगस्त, १६४७ को दिल्ली पहुंचता है। उदयराज भारत सरकार के वाणिज्य मंत्रालय के ज्वाइट सैक्रेटरी श्री जयराज उपाध्याय, आई० सी० एस० का त्याज्य पुत्र है। भारत के स्वाधीन होने पर वह अपनी आजीवका के सिलसिले में पिता के पास आता है। पिता के प्रभाव से उसके लिए हर क्षेत्र खुल जाता है और हर तरफ से उसे आमन्त्रण प्राप्त होता है। राजनीति में प्रवेश करने के इरादे से वह कांग्रेस के प्रभावशाली नेता शर्माजी का सेक्रेटरी बन जाता है। शर्माजी के सेक्रेटरी के रूप में वह राजनैतिक क्षेत्र की उठा-पटक से परिचित होता है। एक मुसलमान लडकी सुरैया से उसका प्रेम होता है किन्तु उनके प्रेम का मामला भी साम्प्रदायिक रग ले लेता है और अंत मे वह अपनी प्रेमिका को प्राप्त करने में असफल होता है। प्रथम खण्ड में लेखक स्वाधीनता-प्राप्ति के समय उत्पन्न हिन्दू-मुसलमान वैमनस्य का चित्रण करता है। बड़ी स्पष्टता के साथ लेखक यह स्वीकार करता है कि हिन्दू-मुसलमान-झगड़े के पीछे वास्तव में सत्ता का प्रबल आकर्षण था—"एक संघर्ष चल रहा है देश की राजधानी दिल्ली में। दोनों सघर्षो के रूप ऊपर से अलग-अलग दीख रहे है, लेकिन मुझे ऐसा दीखता है कि दोनों संघर्षों के मूल तत्व एक ही है, यह तत्व है सत्ता का। देश का साम्प्रदायिक आधार पर जो बटवारा हुआ उसकी तह मे नेहरू और जिन्ना के बीच मे सत्ता का संघर्ष था।"[1]

उपन्यास के दूसरे खण्ड से कथानक व्यापक होकर व्यक्ति की कथा से समाज की कथा का रूप धारण कर लेता है। उदयराज 'मार्निंग स्टार' के ख्यात सवाददाता की हैसियत से अमेरिका से भारत लौटता है और देखता है कि शर्मा जी जैसे कर्मठ और ईमानदार व्यक्ति राजनैतिक मंच से हटाए जा चुके है। श्रीमती रूपा शर्मा जैसी अर्थलोलुप और सिद्धांतहीन महिला न केवल लखपती बन रही हैं बल्कि राजनैतिक क्षेत्र में भी प्रभाव जमा रही हैं। देश की राजनीति जवाहरलाल नेहरू के आस-पास सिमट आई है। ईमानदार नेहरू के आसपास बेईमानों का जमघट लगा हुआ है—"इन लोगों को चरित्रवान और कर्मठ बनाना, इन्हें स्वाभिमानी और समर्थ बनाना, बहुत बड़ी जिम्मेदारी है नेहरूजी पर। लेकिन इन चालीस करोड़ आदमियों की जय-जयकार से वह आदमी अपनी जिम्मेदारी

१. प्रश्न और मरीचिका, पृ० ७५

भूल गया। अहम् और मरीचिका में पड़कर वह अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सबसे महान बनने का सपना देखने लगा है।"[1] मुहम्मद शफी जैसे तपे स्वतंत्रता सेनानी गलत लोगों के बढते प्रभाव को देखकर कुंठित हो गए हैं। भाषा और मजहब की कट्टरता बढ़ती जा रही है और धनवान व्यक्ति अपनी तिकड़म से अधिक धनवान होते जा रहे है। आई० सी० एस० आफीसर विश्वनाथ मदान की लड़की प्रमिला से उदयराज की शादी हो जाती है तथा अपने पिता और ससुर के प्रभाव के कारण उसे अधिक से अधिक सुविधाएं प्राप्त हो जाती हैं।

तीसरे खण्ड मे स्वतंत्र भारत के बढ़ते हुए राजनैतिक संबंधों तथा विरोधी पार्टियो के नेताओं की कुठाओं को भी कथानक अपने में समेट लेता है। प्रेम, मदान और मजीत तथा मेजर अमरजीत और कान्ता की कथाओं के माध्यम से उच्च वर्ग की खोखली नैतिकता और अर्थलोलुपता सामने आती है। भ्रष्ट नौकरशाही का चित्र विद्यानाथ के शब्दों के माध्यम से सामने आता है—"हर तरह की आजादी मिली है, लूटने की, अमीर बनने की, बेईमानी करने की, हर तरह की आजादी। तब कुछ इने-गिने अंग्रेजों के अधीन यह देश था, वह लोग खुद तो लूटते थे लेकिन दूसरों को नही लूटने देते थे। लेकिन आज हिन्दुस्तान का हरेक आदमी अपने को इस देश का मालिक समझता है, लूट मे एक होड-सी लग गई है।"[2]—बिदेसरी की कथा मूल कथानक की विशेष सहायता नही करती। यदि उसे राजनैतिक उठा-पटक की कहानी भी मान लिया जाए तो उदयराज और उसका शारीरिक सबंध कहानी में थोपा हुआ मालूम पड़ता है ठीक दूसरे खण्ड के सोफी गार्डनर प्रकरण की तरह। तीसरे और चौथे खण्ड तक भी चलने वाले लता और अंजनी कुमार का प्रकरण उपयोगी होने के बाद भी अपने भीतर छिपे सामाजिक संदर्भ को पूर्ण सफलता से प्रकाशित नहीं कर सका है। अंजनी कुमार के माध्यम से यह बात अवश्य सामने आती है कि अयोग्य और ऊपरी प्रदर्शन में सफल व्यक्ति किस तरह स्वतंत्र भारत मे सरकारी क्षेत्रों में प्रभाव जमा सके। किन्तु फिर भी यह कहानी उपाध्याय-परिवार की समस्या ही अधिक मालूम पड़ती है।

चौथे खण्ड में लेखक सभी कथाओं को समेटता है। मुहम्मद शफी और केशरबाई, मेलाराम, अंजनी कुमार आदि सभी कथाओं को निचोड़कर लेखक उनके सामाजिक संदर्भ और दार्शनिक संदर्भ का अर्क निकालने की कोशिश करता है। पतन के गर्त मे आकंठ डूबे समाज की किंकर्तव्यविमूढ़ता और बेवसी का नक्शा उपन्यास के अंत तक स्पष्ट हो जाता है। हमारी प्रजातांत्रिक प्रणाली के पूर्णरूपेण सड़ जाने की स्वीकारोक्ति विद्यानाथ के शब्दों मे इस तरह है :

---

१. प्रश्न और मरीचिका, पृ० १३५
२. वही, पृ० ३५३

"उदय, यह मतदान करने वाली जनता बेदिमाग अपढ़ और भुलावों में भटकने वाले लोगों का एक समुदाय-भर है। ये जितने चुनाव हैं ये सिद्धांतो पर नही लड़े जाते। बेतहाशा रुपया खर्च होता है चुनावों पर—चादी का जूता चलता है और असली जूता भी चलता है। वोटों को खरीदने के लिए शराब पिलाई जाती है। झूठे नारों और झूठे वादों पर लोगों को गुमराह किया जाता है। कभी-कभी लाठी और जूते का भी सहारा लेना होता है। मैने भी यह सब किया है, तब कहीं जाकर मैंने चुनाव जीता है।"[1]

१९६२ के चीनी आक्रमण से उत्पन्न कुंठा और निराशा में डूबने के बाद भी युद्ध की समाप्ति के बाद देश फिर वैसा का वैसा रह गया—"न लूटने वालों में किसी तरह का सकोच या रुकावट दिख रही थी, न लुटने वालों में किसी तरह का आर्तनाद या विद्रोह नजर आ रहा था। रक्षा फड में जो बेतहाशा रुपया या गहना मिला था, उसका क्या हुआ और वह कहां गया ? न किसीने इसका जवाब मांगा और न किसीने इसका पता दिया।"[2]—आदर्श, सुख, न्याय और स्वच्छ समाज की मरीचिका के पीछे व्याकुल होकर दौड़ने वाले ईमानदार और सजग व्यक्ति के सामने केवल प्रश्न रह गए है। उत्तरों का अभाव गहरे अवसाद को जन्म देता है। लेखक शायद यह मानता है कि राजनीति, समाजशास्त्र, इतिहास इन प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकते। उपन्यास का अंत दार्शनिक मुद्रा में इस तरह होता है :—

"और यह यात्रा मैं क्यों कर रहा हूं, इस यात्रा का उद्देश्य क्या है ? इस यात्रा की परिणिति क्या है ? मैं नहीं जानता। प्रश्न ही प्रश्न है मेरे सामने और उत्तर में एक भटकाव, सीमाहीन और अनंत।

"मै उठता हूं, आलमारी मे ह्विस्की की बोतल निकाल कर एक बड़ा पैग तैयार करता हूं, और चुपचाप बैठकर पीने लगता हूं।"[3]

सम्पूर्ण उपन्यास और विशेषकर उसका अंत स्थितियों के प्रति आक्रोश जाग्रत् नही करता बल्कि एक गहरे अवसाद को जन्म देता है। विसगतियों से भरी हुई आधुनिक स्थिति पर इसमें व्यंग्य भी नहीं है जोकि आधुनिक लेखन की बड़ी भारी विशेषता है। इसका कारण यह है कि लेखक काल की शक्ति को सर्वोपरि मानकर मानव की विवशता को स्वीकार करता है। बुरी स्थितियों से बार-बार टकराने के सिवाय मनुष्य के पास कोई उपाय नहीं है। लेखक अपने नियतिवादी दर्शन के अनुसार यह मानता है कि इस टकराव से जो सर फूटता है उसके दर्द से

---

१. प्रश्न और मरीचिका, पृ० ५१३
२. वही, पृ० ५३३
३. वही, पृ० ५५४

चिल्लाना तो व्यर्थ है ही, उस अदृश्य शक्ति के प्रति आक्रोश करना भी व्यर्थ है। सोफी के शब्दों में, "उपाध्याय, हमारे हाथ में कुछ नही है, कुछ भी नहीं है। सब कुछ आप ही आप होता जा रहा है और हमे चुपचाप उसे स्वीकार करना होगा, हाथ-पैर पटकने से कोई फायदा नही।"[१]

लेखक इस उपन्यास के माध्यम से यह भी कहता है कि अपनी समस्याओ का हल किसी तरह निकालकर बढने के सिवाय मनुष्य के पास दूसरा रास्ता भी नही है—"सब कुछ अदृश्य के हाथ में है। इससे भी अधिक भयानक विपत्तियां आई है इसान पर, लेकिन यह गजब की सहन शक्ति लेकर आया है। अपनी मुसीबतो का सही-गलत हल भी इस इसान को निकलना है।"[२] सामाजिक बुराइया हर युग में विद्यमान थी, है और रहेंगी। मनुष्य अपने स्वभाव के कारण उनसे जूझता रहा है और हमेशा जूझेगा। इतना सब होने के बाद भी काल की सत्ता ही अपराजेय है :

"बनना और मिटना—जो सृष्टि है वह इसमें बंधी है, एक अनादि और अनंत है—काल। इस काल के मुंह से सब कुछ निकलता है और फिर सब कुछ समा जाता है।"[३]

सामाजिक बुराइयों को प्रबल मान काल के अनिवार्य दूषण के रूप मे लेखक स्वीकार करता है। हजारों व्यक्तिगत और सामाजिक प्रश्नों से नित्य ही उलझने वाले मानव का अस्तित्व ही मरीचिका है—"अस्तित्व आशंकाओं और आश्वासनो से भरी एक मरीचिका है, और इसी मरीचिका में भटकते रहना जिन्दगी है।"[४] मानव की सत्ता और शक्ति को नियतिवादी भगवती बाबू ने सर्वोपरि कभी भी नहीं माना है किन्तु अकर्मण्यता का समर्थन भी उन्होंने कभी नही किया। इस उपन्यास में गीता के कर्मयोग पर भगवती बाबू की आस्था अधिक स्पष्ट रूप में दिखलाई पड़ती है।

---

१. प्रश्न और मरीचिका, पृ० २१६
२. वही, पृ० ४३१
३. वही, पृ० ५१४
४. वही, पृ० ४०७

अध्याय ५

वर्माजी के उपन्यासों का कथ्य जगत्

भगवती बाबू का व्यक्तिवाद

कुछ विद्वान यह मानते हैं कि कला, किसी सीमा तक, स्वयं में व्यक्तिवादी सृजन है क्योंकि कला का सबंध वस्तु से कहीं अधिक व्यक्ति से है। कभी-कभी यह संबंध इतना गहरा होता है कि कला का सृजन कलाकार के लिए साध्य हो जाता है—केवल आत्म-अभिव्यक्तिकरण का माध्यम। सामाजिक मूल्यों और परम्पराओं से कलाकार का संघर्ष स्वाभाविक है। कॉडवेल लिखता है कि कलाकृति अनिवार्यतः प्राचीन सामाजिक व्यवस्थाओं-कलारूपों और नवीन व्यक्तिगत अनुभव, निर्मित चेतना, कला विषयक रूपरेखा अथवा संदेश के बीच के संघर्ष का परिणाम है।[1] इस कथन के अनुसार कला किसी न किसी रूप में व्यक्तिवाद की सीमा में प्रवेश कर ही जाती है किन्तु लेखन के क्षेत्र में व्यक्तिवादी साहित्यकार उस लेखक को कहा जाता है जो परम्पराओं से हटकर अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण को सामने रखता है। व्यक्तिवाद का प्रक्षेपण दो स्तरों पर संभव है। पहला तो यह कि लेखक व्यक्तिगत अनुभवों को अधिक महत्त्व दे और दूसरा यह कि अपनी कृतियों में वह व्यक्ति को समाज के मुकाबले अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध करे। इन दोनों ही स्तरों पर भगवती बाबू व्यक्तिवादी लेखक सिद्ध होते हैं। हिन्दी उपन्यास के विकास पर दृष्टि डालते ही यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचंद से पहले इस क्षेत्र में व्यक्तिवादी परिकल्पना का स्वरूप स्पष्ट नहीं था। उस युग में समाज की अपेक्षा व्यक्ति के महत्त्व को स्वीकार नहीं किया गया। "पूर्व-प्रेमचंद काल में

---

१. क्रिस्टोफर कॉडवेल : स्टडीज इन ए डाइंग कल्चर, पृ० ४५

इस दृष्टिकोण के विकसित न होने का कारण यही है, क्योंकि इस युग के लेखकों ने इसकी कल्पना ही नही की थी कि समाज से भी अलग किसी व्यक्ति की सत्ता हो सकती है।"[१] प्रेमचद-युग में व्यक्तिवादी विचारधारा को अस्पष्ट स्वीकृति मिली किन्तु इसे स्पष्ट स्वीकृति भगवती चरण वर्मा के उपन्यासो से ही प्राप्त हुई। कुछ आलोचकों का यह मत है कि हिन्दी के प्रथम व्यक्तिवादी उपन्यासकार भगवती चरण वर्मा है और उनका 'चित्रलेखा' पहला व्यक्तिवादी उपन्यास है।[२]

भगवती बाबू की सृजन-प्रक्रिया के मूल में ही व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन विद्यमान है। उनका लेखन किसी आदर्श से परिचालित नही है बल्कि उनके लेखन का उद्देश्य उनके विचारों की अभिव्यक्ति है। समाज का विश्लेषण, व्यक्ति का चित्रण अथवा समस्याओं पर चिंतन आदि उनके लेखन का उद्देश्य नही है। उन्होने स्वयं स्पष्टता से स्वीकार किया है, "जो कुछ मै लिखता हूं, तर्क करने को नहीं लिखता, मैं तो अपने उन निर्णयों को पेश करता हूं, जिनपर मै अपने उन तर्कों द्वारा पहुचा हूं जो अनुभवों और अनुभूतियों पर अवलबित है।"[३]

व्यक्तिगत तर्कों एवं निर्णयों का उनकी सृजन-प्रकिया मे सर्वाधिक महत्त्व है। किसी भी लेखक के व्यक्तिवादी होने का निर्णय इस बात पर आधारित है कि अपने ज्ञान को वह समाज द्वारा अर्जित मानता है अथवा अंतरस्फूर्त मानता है। अर्जित ज्ञान की अपेक्षा व्यक्तिगत अनुभवों के प्रति अधिक आस्था होना व्यक्तिवादी लेखन की पहली शर्त है। इस सबंध में भगवती बाबू का यह कथन अत्यत महत्त्वपूर्ण है, "जो कुछ मुझे प्राप्त हुआ है वह मुझे जीवन के कडुवे-मीठे अनुभवों से ही प्राप्त हुआ है। मेरा समस्त ज्ञान और तर्क मुझे अदर से मिला है और अपने इस सीमित तर्क एवं ज्ञान पर मुझे अभिमान है। कम से कम वह अपना तो है।"[४] ज्ञान के 'अपने' होने की तृप्ति व्यक्तिवादी को ही हुआ करती है। इस तृप्ति के मूल में समाज द्वारा प्रदत्त ज्ञान के प्रति उपेक्षा विद्यमान है। ज्ञान के 'निजत्व' का उन्हें इतना गौरव है कि उसे वे अध्ययन की अपेक्षा अधिक महत्त्व देते हैं।—"अध्ययन एवं चिंतन और मनन से मैं बहुत दूर रहा हूं। मैं तो केवल अपने अनुभवों पर ही स्थित हूं।"[५]

अपने अहम् के प्रति भगवती बाबू अत्यंत सचेत हैं। किसी 'वाद' को वे अंतिम सत्य नहीं मानते एवं किसी व्यक्ति-विशेष की छवि से वे प्रतिबद्ध नहीं हैं। वे स्वयं व्यक्तिपूजा के विरोधी हैं और यही भावना उनके उपन्यासों मे चित्रित कई पात्रों

---

१. डॉ० सुरेश सिन्हा, हिन्दी उपन्यासों में नायिका की परिकल्पना, पृ० २७०
२. डॉ० सुरेश सिन्हा, उपन्यास : शिल्प और प्रवृत्तियां, पृ० २२३
३. भगवतीचरण वर्मा, हमारी उलझन (विचार-विनिमय से), पृ० ३०
४. रंगों से मोह (प्रस्तावना) पृ० ८९
५. भगवतीचरण वर्मा : साहित्य की मान्यताएं, पृष्ठ १

मे भी दिखलाई पड़ती है। अपने जीवन की ही तरह अपने लेखन मे भी वे अपने तर्क के सहारे बढ़े हैं—"मै फिर कहता हूं—अपने अंदर तर्क करो। दूसरों को देवता मत मानो, दूसरों का देवता मानना अपने अंदर असमर्थता से भरी गुलामी को पालना है।"[१]—इस तरह भगवती बाबू स्वय की मान्यताओं के कायल रहे है। इस सदर्भ मे एक मनोरजक तथ्य यह है कि एक स्थान पर भगवती बाबू ने, हास्य में ही सही, सबसे अच्छा लेखक स्वय अपने को माना है। मिर्जा गालिब ने अपने विषय में लिखा है :

"है और भी दुनिया में सुखनबर बहुत अच्छे
कहते है कि गालिब का है अंदाजे बयां और।

भगवती बाबू ने लिखा है :—"दुनिया के जितने ऐंडे-बेंडे कवि है—साहित्यिक हैं—जो अपनी कृतियों से बुद्धि और ज्ञान को चुनौती देते है—उनको मैं चुनौती देने आया हूं, और उन लोगो की नजरों में जो विचित्रता को, अस्पष्टता को और विलष्टता को ही कला की एकमात्र कसौटी समझते हैं, मैं सर्वश्रेष्ठ गिना जाऊंगा।"[२]—बात हास्य-व्यंग्य की शैली मे लिखी गई है फिर भी 'एक दिन' की पूरी भूमिका ही भगवती बाबू के अहम् का प्रमाण है।

समाज और व्यक्ति

समष्टिमूलक विचारधाराएं समाज को प्रमुखता देती हैं और व्यक्ति को मात्र समाज के अंग के रूप मे देखती है। व्यक्ति के समाज से अलग किसी अस्तित्व को ये अस्वीकार करती हैं। प्रसिद्ध दार्शनिक रूसो तो यह मानता है कि व्यक्ति का सार्थक और स्वतंत्र अस्तित्व समाज की 'सामान्य इच्छा' (General will) के अंदर ही संभव है; वह मानता है कि सामान्य इच्छा हमेशा सही होती है। इस तरह वह समाज को व्यक्ति से अधिक महत्त्व देता है। समाज-सापेक्ष सिद्धांतों की चरम परिणति आधुनिक युग में फासिस्टवादी विचारधारा तथा साम्यवाद में दिखलाई पड़ती है। किन्तु समष्टि-मूलक विचारधाराओं के विपरीत व्यक्तिवादी विचारधारा समाज को यह अधिकार देने के पक्ष मे नही है कि वह व्यक्ति की स्वतंत्रता में हस्तक्षेप करे। समाज व्यक्ति की सत्ता को अपने में लय कर ले व्यक्तिवादी विचारधारा को यह सह्य नही है। भगवती बाबू भी व्यक्ति की समाज से अलग सत्ता को स्वीकार करते हैं। उन्हें इस बात से इंकार नही कि दोनों का अटूट संबंध है :

"जहां तक मेरा मत है, मैं व्यक्ति को समाज द्वारा निर्मित नहीं मानता केवल

---

१. भगवतीचरण वर्मा : हमारी उलझन, पृष्ठ ३१
२. भगवतीचरण वर्मा : एक दिन (भूमिका), पृष्ठ ८

व्यक्ति को समाज द्वारा प्रभावित मानता हूं।"[१]

वे यह स्वीकार करते है कि व्यक्ति की स्थिति समाज मे ही सभव है पर इसके साथ ही वे इस बात पर भी जोर देते हैं कि व्यक्ति की स्वतत्र सत्ता भी है— "व्यक्ति का साधारण जीवन समाज द्वारा परिचालित अवश्य है क्योकि व्यक्ति समाज का भाग बनकर समाज मे स्थिर रहता है और उसे समाज के साथ सामंजस्य स्थापित करना ही पड़ता है, घर मे व्यक्ति की एक पृथक् आधार मूल सत्ता मानता हू, समाज से हटकर।"[२]

अपने उपन्यासों मे भगवती बाबू व्यक्ति की स्वतत्रता का घोर समर्थन करते हुए दिखलाई पड़ते है। 'चित्रलेखा' उपन्यास समाज में अपनी सत्ता को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए जूझते मनुष्य की कहानी है। व्यक्ति के महत्त्व को लेखक ने बीजगुप्त और चित्रलेखा की भेट के प्रकरण मे बड़ी स्पष्टता से स्वीकार किया है। जब चित्रलेखा बीजगुप्त से यह कहकर भविष्य मे मिलने से इंकार कर देती है कि उसके जीवन में 'व्यक्ति' का कोई महत्त्व नही है, वह केवल 'समुदाय' से मिलती है, तब बीजगुप्त कहता है, "व्यक्ति से ही समुदाय बनता है, समुदाय की प्यास उसके प्रत्येक व्यक्ति की प्यास है, फिर यह भेद क्यो?"[३]—जब चित्रलेखा व्यक्ति के महत्त्व को मानने से इंकार कर देती है तब वह यह कहकर वापस लौट जाता है, "व्यक्तित्व जीवन में प्रधान है और व्यक्ति से ही समुदाय बनता है। जब व्यक्ति वर्जित है तो उस व्यक्ति का समुदाय का भाग बनना अपना ही अपमान करना है।"[४]

मानव स्व-केन्द्रित है इसे भी भगवती बाबू सिद्ध करते है। मनुष्य किसी भी घटना-क्रम, परिवर्तन, दृश्य-विधान और संबंध को अपनी मन: स्थिति के अनुसार ग्रहण करता है। उसका यह ग्रहण करना ही उसके लिए सत्य है। दूसरे शब्दों में कहें तो बाह्य में जो कुछ भी घटता है वह उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है। व्यक्ति के जीवन में घटित होने वाली घटनाएं ही उसके लिए अधिक महत्त्वपूर्ण है। किसी भी सामाजिक एवं प्राकृतिक परिवर्तन पर व्यक्ति की प्रतिक्रिया उसकी मानसिक दशा के आधार पर ही होगी। भगवती बाबू इस बात को 'चित्रलेखा' उपन्यास में बड़े प्रभावशाली ढग से प्रस्तुत करते हैं। काशी-भ्रमण के लिए जाते समय रास्ते में यशोधरा को प्रकृति सुन्दर लगती है और बीजगुप्त को अत्यंत कुरूप एवं अपूर्ण। प्रकृति के सौन्दर्य पर होनेवाले वार्तालाप का पूरा प्रकरण ही व्यक्तिवाद को प्रस्तुत करता है। अन्य उपन्यासों में भी यही बात दिखलाई पड़ती है।

---

१. भगवतीचरण वर्मा : साहित्य की मान्यताएं, पृष्ठ ३
२. वही : पष्ठ ३१
३. चित्रलेखा, पृष्ठ १२
४. वही, पृष्ठ १२

मानव कितना ही विचित्र, शक्तिहीन अथवा महत्त्वहीन क्यो न हो यही संसार का केन्द्रबिंदु है तथा उसका अहम् ही उसके लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है—यह विचार भगवती बाबू अपने उपन्यासो में लगातार व्यक्त करते रहे है। 'तीन वर्ष' का अजित लीला से कहता है, "तुम्हारे लिए ही नही स्वय अपने लिए भी मैं एक पहेली हूं। पर इससे क्या ? प्रत्येक व्यक्ति एक पहेली है और संसृति इन पहेलियों के एकत्रित समूह का दूसरा नाम है।"[१] भगवती बाबू मानते है कि तत्त्व-ज्ञानी के लिए अहम् मायाजन्य हो सकता है किन्तु जहां तक सामान्य मनुष्य का प्रश्न है उसके अहम् में ही उसके अस्तित्व का गौरव है। 'सीधी-सच्ची बातें' में अहम् की महत्ता को लेखक परवेज के शब्दों में इस प्रकार व्यक्त करता है, "करें क्या शर्मिष्ठा बेन, जहां अपुन हैं वहां अपना भी है। यह अपना मिट जाए तो अपुन भी मिट जाए। अपना खानदान, अपना घर, अपनी जमीन-जायजाद, अपना मुलुक इसीसे तो अपुन कायम हैं।"[२]

अहम् की भावना किस सीमा तक सही है और कहां पहुंचकर धातक है यह एक अलग प्रश्न है पर व्यक्तिवाद की सैद्धांतिक विचारधारा के अनुसार व्यक्ति-वाद का समर्थन इस आधार पर भी किया जाता है कि जब तक मनुष्य है तब तक उसका व्यक्तिगत दृष्टिकोण भी रहेगा। अपने दृष्टिकोण के कारण ही कोई भी व्यक्ति अपने को गलत और मूर्ख नहीं मानता। इस विचारधारा की ओर भगवती बाबू का स्पष्ट झुकाव है—"कौन गलत है और कौन सही है, स्पस्ट रूप से यह नहीं कहा जा सकता। हरेक व्यक्ति के अपने निजी मापदण्ड है, हरेक व्यक्ति का अपना निजी दृष्टिकोण है, और हरेक व्यक्ति अपने को सही समझता है। अपना निजी या अपने परिवार की ही बात क्यों लू, समस्त देश में यह सही-गलत का प्रश्न अनिर्णीत पड़ा है। देश के बाहर अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी यह प्रश्न अनिर्णीत पड़ा है।"[३]

व्यक्तिगत मान्यताओं की प्रामाणिकता

व्यक्तिवादी विचारधारा के मूल में समाज पर व्यक्ति के महत्त्व की स्थापना के साथ ही व्यक्ति के विचारों की स्वतंत्रता का घनघोर समर्थन है। व्यक्ति को अपनी स्वयं की विचारधारा निर्मित कर उसपर अमल करने का अधिकार होना चाहिए। यह विचारधारा यह मानती है कि हर क्षेत्र में नये ढंग से सोचने की उत्कट अभिलाषा व्यक्ति में विद्यमान रहती है। इस आधार पर व्यक्ति को स्वतंत्रता होनी चाहिए कि वह समाज की बनी-बनाई मान्यताओं को दो टूक

---

१. तीन वर्ष, पृष्ठ ८८

२. सीधी-सच्ची बाते, पृष्ठ ३४३

३. प्रश्न और मरीचिका, पृष्ठ ३६९

शब्दो मे नकार दे। भगवती बाबू ने अपने उपन्यासों में 'रेडीमेड' मान्यताओं के प्रति अनास्था व्यक्त की है। सबसे पहले 'चित्रलेखा' में उन्होंने स्पष्ट शब्दों मे यह स्वीकार किया कि मनुष्य के कर्मो को किसी विशिष्ट नियम की तुला पर सही-सही तोला ही नहीं जा सकता। कोई कार्य किसीकी दृष्टि मे बहुत ऊंचा हो सकता है तो दूसरे की दृष्टि में अत्यंत गर्हित। किसी भी कर्म को आचरण-संहिता मे शामिल कैसे किया जा सकता है जब कि उसका मूल्यांकन सभी अपने-अपने ढग से करते है। किसी कार्य का अच्छा या बुरा लगना भी आश्रय के सस्कार और दृष्टिबोध पर निर्भर होता है—"मनुष्य मे ममत्व प्रधान है। प्रत्येक मनुष्य सुख चाहता है। केवल व्यक्तियों के सुख के केन्द्र भिन्न होते हैं। कुछ सुख को धन में देखते है, कुछ सुख को मदिरा में देखते है, कुछ सुख को व्यभिचार में देखते हैं, कुछ त्याग मे देखते हैं—पर सुख प्रत्येक व्यक्ति चाहता है, कोई भी व्यक्ति ससार मे अपनी इच्छा-अनुसार वह काम न करेगा, जिससे दुख मिले—यही मनुष्य की मनःप्रवृत्ति है और उसके दृष्टिकोण की विषमता है।"[१]

सुख की आकांक्षा के स्वरूप और उसके केन्द्र भिन्न-भिन्न होने के कारण मनुष्य कभी एक ही तरीके से नही सोच सकता। कोई भी ऐसी पद्धति जो मनुष्य को विशिष्ट तरीके से ही सोचने और कार्य करने को विवश करे, उचित नही है क्योंकि वह मनुष्य की मौलिकता पर प्रहार करती है। मनुष्य का एक तरह न सोच सकना कभी-कभी मनुष्य की ट्रेजेडी हो सकती है किन्तु यही उसकी विशेषता भी है। भगवती बाबू इस मानवीय विशेषता के प्रति पर्याप्त मात्रा में आकृष्ट है। चित्रलेखा का सम्पूर्ण कथानक यह सिद्ध करता है कि पाप-पुण्य जैसा गंभीर मसला भी सिद्धांत-विशेष की लाठी से नहीं हांका जा सकता। दृष्टिकोण की विषमता का भगवती बाबू पक्ष लेते हैं। 'चित्रलेखा' उपन्यास में कुमारगिरि से चित्रलेखा कहती है, "योगी सुमति के अर्थ में भेद होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने सिद्धांतों को निर्धारित करता है तथा उनपर विश्वास भी करता है। प्रत्येक मनुष्य अपने को ठीक मार्ग पर समझता है और उसके मतानुसार दूसरे सिद्धांत पर विश्वास करने वाला व्यक्ति गलत मार्ग पर है।"[२]

धर्म-शास्त्र, आचार-संहिता आदि के साथ ही, इसी आधार पर, मानव का इतिहास भी भ्रामक और असत्य हो सकता है। इतिहास भी किसी व्यक्ति का दृष्टिकोण है अतः उसके शत-प्रतिशत सत्य होने की संभावना लेखक की व्यक्तिवादी विचारधारा नहीं पाती :

"इतिहास वाले सत्य में और वास्तविक सत्य में जमीन-आसमान का अंतर है। आज से हजारों-सैकड़ों वर्ष पहले क्या हुआ कौन जानता है। कौन जान

१. चित्रलेखा, पृष्ठ १७७

२. वही, पृष्ठ ३०

सकता है। और उन घटनाओं का जो वर्णन हम पढ़ते हैं वह उस समय के किसी इतिहासकार द्वारा लिखे हुए होते हैं। वह इतिहासकार क्या वास्तविक सत्य को जानता था? वह तो जीवन की गतिविधि पर अपने ही दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है। वह दृष्टिकोण असत्य हो सकता है, अर्द्ध सत्य हो सकता है, सत्य तो नही होता।[1]

इस विचार से स्पष्ट है कि भगवती बाबू मानते हैं कि इतिहास भी पूर्ण सत्य नही हैं। जिन घटनाओं को हम जिस रूप मे सत्य समझते हैं वे उसी रूप में घटी हों—यह आवश्यक नही हैं। प्रत्येक घटना के वर्णन के पीछे वर्णन करने वाले की दृष्टि, विचारधारा और कोई उद्देश्य हुआ करता है। इस तरह वे मानते हैं कि मनुष्य हर क्षेत्र मे दृष्टि की विषमता को भोगने के लिए अभिशप्त है अतः उसे अपने विवेक को महत्त्व देना चाहिए।

नैतिकता—व्यक्तिगत प्रश्न

धर्म की ही तरह नैतिकता को भी भगवती बाबू एक व्यक्तिगत प्रश्न मानते हैं। अपने उपन्यासों के माध्यम से उन्होंने नैतिकता के प्रचलित मानदण्डों से अपनी अस्वीकृति व्यक्त की। 'चित्रलेखा,' 'तीन वर्ष', 'आखिरी दाव,' 'वह फिर नहीं आई,' 'रेखा'—ये सभी उपन्यास भगवती बाबू के नैतिकता-संबधी व्यक्तिगत दृष्टिकोण को सामने रखते हैं। समाज में प्रचलित नैतिकता के मानदण्डों को लेखक अत्यंत स्थूल मानता है। चित्रलेखा के माध्यम से वह सिद्ध करता है कि जो व्यक्ति ऊपरी तौर पर अत्यंत विलासी और समाज-निरपेक्ष दिखलाई पड़ता है, सभव है कि वह अत्यंत त्यागी और परोपकारी हो। तथा जिसे समाज महान त्यागी समझता है वह वस्तुतः वैसा न हो। भगवती बाबू नैतिकता को व्यक्तिगत दृष्टिकोण से जोड़ते है। नैतिकता के परम्परावादी दृष्टिकोण से परिचालित हो कर ही चित्रलेखा बीजगुप्त से कहती है कि वह अपवित्र और पतिता है किन्तु बीजगुप्त अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण के आधार पर उसे पवित्र मानकर ग्रहण करता है। सामंत मृत्युंजय के सामने भी बीजगुप्त अपने और चित्रलेखा के संबंध को पवित्र मानता है, "लोक की दृष्टि मे मैं अविवाहित हूं, पर मै वास्तव में विवाहित हूं। चित्रलेखा मेरी पत्नी है—यद्यपि चित्रलेखा का पाणिग्रहण मैंने शास्त्रानुसार नही किया है, और समाज के नियमों के अनुसार कर भी नही सकता हूं, फिर भी मेरा और चित्रलेखा का सबंध पति और पत्नी का-सा है।"[2]

नैतिकता का प्रश्न 'तीन वर्ष' में भी उठाया गया है। इस उपन्यास में भगवती बाबू वेश्या सरोज को प्रभा की तुलना मे ऊंचा सिद्ध करते है। उपन्यास का

१. वह फिर नही आई, पृष्ठ ४६
२. चित्रलेखा, पृष्ठ ७७

नायक रमेश उपन्यास के अंत में भद्र समाज की प्रतिनिधि प्रभा को, अपने मान दण्डों के आधार पर, वेश्या कहता है। वर्तमान क्षणों में ही जीने वाला अजित किसी विशिष्ट समय किसीके प्रति ईमानदारी से समर्पित होने को ही प्रेम की नैतिकता मानता है। जब लीला उससे पूछती है कि क्या वह उससे प्रेम करता है तब वह 'हां' में उत्तर देता है। साथ ही वह स्पष्टता से यह भी कहता है, :'लीला सच कहता हूं, बुरा न मानना। मैंने एक बार नहीं, अनेकों बार प्रेम किया है।"[१]—साथ ही—"मैं सौगंध से कहता हूं, मैं झूठ नहीं बोलता। मैं तुमसे प्रेम करता हूं, मैं तुमसे उतना ही प्रेम करता हूं जितना कोई भी व्यक्ति कर सकता है।"[२]—किन्तु इस प्रेम को वह भारतीय आदर्शवादी पद्धति पर आत्मिक, अलौकिक, स्वर्गिक भावना के रूप में न स्वीकार करके समझदारी तथा जीवन की आवश्यकता के रूप में स्वीकार करता है। इस बात को लेखक अपने उपन्यासों में अन्य स्थलों पर भी स्वीकार करता है। परम्परागत विचारधारा से अलग हटकर भगवती बाबू यह मानते हैं कि प्रेम कई बार और कई लोगों से किया जा सकता है। प्रेम को मनुष्य अलग-अलग स्तरों पर ग्रहण भी कर सकता है जैसा कि उन्होंने 'चित्रलेखा' का विश्लेषण करते हुए दर्शाया है।[३]

'वह फिर नहीं आई' के माध्यम से भी वे नैतिकता पर एक नये ढंग से विचार करते हैं। रानी श्यामला को अनैतिक और पतित कहना पाठक के लिए संभव नहीं होता जबकि परम्परावादियों की दृष्टि में वह निश्चय ही पतिता सिद्ध होगी। इसका कारण यह है कि भगवती बाबू का नैतिकता-संबंधी दृष्टिकोण अलग है जिससे परिचालित होकर वे रानी श्यामला का चित्रण इस ढंग से करते हैं कि पाठक को उसके कृत्यों से घृणा न हो। इसी उपन्यास में नैतिकता के संदर्भ में भगवती बाबू लिखते हैं, "नैतिकता कानून से ऊंची है, नैतिकता के साथ कम से कम एक मानवीय गुण है, भावनाजनित विश्वास, नैतिकता को कोई दूसरा आरोपित नहीं करता, नैतिकता को स्वीकार करना अथवा अस्वीकार करना, यह हमारी इच्छा पर, हमारी चेतना पर निर्भर है।"[४]—यहां भगवती बाबू स्पष्ट रूप से नैतिकता को सामाजिक नियम अथवा विचार न मानकर व्यक्तिगत विचार के रूप में ही ग्रहण करते हैं।

आधारमूल व्यक्तित्व

भगवती बाबू के व्यक्तिवाद का एक महत्त्वपूर्ण अवयव यह है कि वे मानते

---

१. तीन वर्ष, पृष्ठ ७३
२. वही, पृष्ठ ७३
३. चित्रलेखा, पृष्ठ ८२-८३
४. वह फिर नहीं आई, पृष्ठ ५०

है कि मनुष्य के कर्म उसके आधारभूत व्यक्तित्व के आधार पर होते हैं। इसे हम जन्मजात गुण भी कह सकते हैं। जन्मजात गुण परिस्थितियों के अनुसार विकसित होते है और वही मनुष्य के स्वभाव का निर्माण करते है। यह सर्वमान्य सत्य है कि जन्मजात प्रवृत्तियां भी अलग-अलग होती है। अलग-अलग प्रवृत्तियों के स्वामी होने के कारण विभिन्न मनुष्यों के कार्य एक-से नहीं होते और न ही किसी घटना की प्रतिक्रिया सभीमें एक जैसी होती है। 'भूले-बिसरे चित्र' का रिपुदमन सिंह कहता है, "परिस्थिति और आधारभूत व्यक्तित्व। बाबू गंगाप्रसाद, आधारभूत व्यक्तित्व में देवता होता है, दानव होता है। नेकी और बदी, क्रिया और प्रतिक्रिया हर व्यक्तित्व के भाग हैं। अंतर इतना है कि यह आधारभूत व्यक्तित्व परिस्थिति के अनुसार अपने को प्रकट करता है।···व्यक्ति की आधारभूत प्रवृत्तियां विशेष परिस्थितियों में उभरेंगी ही, उभारने के लिए यदि तुम साधन न बने होते तो कोई दूसरा साधन बन गया होता।"[1]

इस तरह मनुष्य का आधारभूत व्यक्तित्व इतना प्रबल होता है कि वह ऊपर आ ही जाता है। यह मनोवैज्ञानिक स्तर पर व्यक्तिवाद की स्वीकृति है। इसीलिए भगवती बाबू मानते हैं कि किसी भी साधन से मनुष्य को एक जैसा नही बनाया जा सकता। भावनाशील प्राणी मनुष्य को एक जैसा बनाने की कल्पना सुन्दर हो सकती है किन्तु यह भ्रामक है। रामनाथ तिवारी के माध्यम से भगवती बाबू अत्यंत सशक्त शब्दों में मानव की व्यक्तिगत विशेषताओं की चिरंतनता का समर्थन करते हैं :

अपने हित को मानवता का हित बना देना, अपने, सत्य को और मानवता के सत्य को एकरूप कर देना। बातें बड़ी सुन्दर हैं और मजेदार है। लेकिन सबसे बड़ा सवाल यह है कि क्या तुम यह सब कर सकते हो? एक बात याद रखना, तुम बने हो अपनी प्रवृत्तियों से, तुम शासित हो अपनी भावनाओ से। तुम्हारी ये प्रवृत्तियां और ये भावनाएं तुम्हें कर्म करने को प्रेरित करती हैं, अन्यथा कर्म असंभव है। प्रत्येक कर्म के पीछे एक प्रेरणा है, और वह प्रेरणा तुम्हारी भावना की है। मार्कण्डेय, भावना ही मनुष्य का जीवन है, भावना ही प्राकृतिक है; भावना ही सत्य है और नित्य है। भावनाओं के मामले में मनुष्य विवश है, और यही विवशता नित्य है। इस विवशता के कारण प्राणिमात्र में विषमता संसृति है। तुम सब एक-सा बनने की कोशिश करो, एक ही ढग से सोचना चाहो, लेकिन यह कभी संभव नही।"[2]

---

१. भूले-बिसरे चित्र, पृष्ठ २८८

२. टेढ़े-मेढ़े रास्ते, पृष्ठ १४७

सबल और निर्बल की विषमता

व्यक्ति-स्वातंत्र्य पर आधारित होने के कारण व्यक्तिवाद यह मानता है कि योग्य और सबल व्यक्ति समाज में उच्च स्थान प्राप्त करेंगे। 'योग्यतम ही जिए' (Survival of the fittest) का सिद्धांत उग्र व्यक्तिवादी मानते रहे है। उनके अनुसार निर्बल एवं अयोग्य मनुष्यों के लिए चिंता करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि सृष्टि का नियम है कि निर्बल प्राणी समाप्त हो जाते है। भगवती बाबू के उपन्यासों मे भी यह विचार प्राप्त होता है। 'पतन' से लेकर 'प्रश्न और मरीचिका' तक लेखक इस सिद्धांत का समर्थन करता है कि सबल और निर्बल को समान दर्जा देना एक अप्राकृतिक बात है। वे मानव-इतिहास के आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक इस विषमता को विद्यमान पाते है और मानते है कि यह विषमता हमेशा कायम रहेगी। कई स्थलों पर उनके विचार व्यक्तिवाद के मत्स्य-न्याय के शास्त्रीय विवेचन की समानता करते दिखलाई पडते है—"भगवान ने दुनिया में दो चीजें सम नही बनाई, सभी जगह विषमता है। सभी जगह अच्छे-बुरे, ऊचे-नीचे, सबल-निर्बल का भेद है। और यही भेद प्राकृतिक है। याद रखना, निर्बल सबल का आहार रहा है।"[१]

'टेढे-मेढे रास्ते' में लेखक ने इस विचार का बार-बार समर्थन किया है कि "सबल अधिकारी है, यह नियम अनादिकाल से लागू रहा है, अनंत काल तक लागू रहेगा।"[२] भगवती बाबू यह मानते हैं कि आदिम युग से यही होता आ रहा है कि संसार की श्रेष्ठ और सुन्दर वस्तुओ पर सबल व्यक्ति का अधिकार हो जाता है। लेखक 'सीधी-सच्ची बातें' मे पुराणों की कथा को भी नये संदर्भ में देखता है। सागर-मंथन के बाद लक्ष्मी पर, जो धन की देवी है, विष्णु ने अधिकार कर लिया। भगवती बाबू इस कथा का निष्कर्ष इस रूप में निकालते है—"अपने पुराणों की यह कथा क्या मानवीय स्वार्थ और बल-प्रयोग को प्रतिबिंबित नही करती ? सबल हमेशा से समर्थ रहा है, सबल ने हमेशा से निर्बलों पर शासन किया है।"[३]

कानून और व्यवस्था

सबल और निर्बल की विषमता की चिरंतनता के आधार पर लेखक यह मानता है कि दुनिया के जितने आदर्श और कानून बने हैं ये सबल व्यक्तियों के स्वार्थों की सिद्धि के लिए बने है। आदर्श इसलिए बने ताकि निर्बलों और कम-

१. टेढ़े-मेढ़े रास्ते, पृष्ठ १४६
२. वही, पृष्ठ ३६६
३. सीधी-सच्ची बातें, पृष्ठ ६१

जोरों में असंतोष उत्पन्न न हो। आदर्श की बड़ी-बड़ी बातें उन्हें उलझाकर रखे और वे समर्थो के विद्रोह में झण्डा न खड़ा करें—इस विचारधारा को भगवती बाबू ने सत्य माना है। "आदर्श एक नारा है जिसकी ईजाद सक्षम और समर्थ आदमियों ने दूसरों के लिए की है, उन्हे अपना अनुयायी बनाने के लिए। समर्थ और सक्षम व्यक्ति का सामर्थ्य और उसकी सक्षमता उसके लिए स्वयं ही उसका आदर्श है।"[1] आदर्शो के प्रति आस्था भगवती बाबू मे कभी नही रही। समाज में प्रचलित बडी-बड़ी मान्यताए थोपी हुई है यह उनका विश्वास है—"आखिर समाज का संचालन व्यक्ति ही तो करते है और समाज का संचालन करने वाले कुछ इने-गिने व्यक्ति अपनी मान्यताओं को समाज पर आरोपित करते है।"[2]—इस बात पर भगवती बाबू इस सीमा तक विश्वास करते है कि उनकी दृष्टि में कानून केवल 'दिखाने का दात' है। अपने उपन्यासो में इस बात को उन्होने बार-बार दुहराया है कि कानून एक भ्रमजाल मात्र है :

" 'कानून' तिवारी जी हंस पडे, 'शब्द-शब्द-शब्द। कानून शब्दों का एक जंजाल है। कानून बनता है कायरों के लिए, असमर्थो के लिए, निर्बलों के लिए। कानून हमने बनाए हैं, हम समर्थो ने अपनी सुविधा के लिए, और अपनी सुविधा के लिए हमी उन्हें बदल सकते हैं, तोड़-मरोड सकते है, उन्हें दूसरे अर्थ पहना सकते हैं।"[3] 'वह फिर नहीं आई' में भी भगवती बाबू यही बात दुहराते है :

"कानून वह बनाता है जो शक्तिशाली हों। हजारो, लाखों, करोड़ों आदमियों से अपनी अधीनता स्वीकार कराने के लिए यह कानून बनाया जाता है। पुराने कानून अगर शक्तिशाली लोगों के पक्ष में नही हुए तो उन्हें बड़ी निर्दयता के साथ नष्ट किया जाता है।"[4]

मध्य बिन्दु की तलाश

व्यक्तिवादी होने के कारण भगवती बाबू समाज मे प्रचलित मान्यताओं और कानूनो के प्रति आस्था नहीं रखते किन्तु उनकी विशेषता यह है कि विशुद्ध व्यक्तिवाद (Absolute Individualism) के समर्थको की तरह वे निर्बलो, असहायों को समाज की तरक्की का रोड़ा नही मान लेते। व्यक्ति और समाज के संघर्ष को शाश्वत मानने के बाद भी—सिद्धात की तुला पर व्यक्ति के तोले जाने का विरोध करने के बाद भी वे व्यक्ति और समाज को प्रतिद्वद्वी नही मानते बल्कि एक दूसरे पर आश्रित मानते है। आलोचकों ने इस बात को स्वीकार किया

---

१. प्रश्न और मरीचिका, पृष्ठ १२४
२. भगवतीचरण वर्मा : साहित्य की मान्यताए, पृष्ठ ३९
३. टेढ़े-मेढ़े रास्ते, पृष्ठ ३६७
४. वह फिर नही आई, पृष्ठ ४७

है कि "वर्मा जी व्यक्तिवादी है पर उनके व्यक्तित्व मे गतिशीलता है।"[१] भगवती बाबू का विचार यह है कि सामान्य मनुष्य से लेकर समाज के बड़े लोगों तक के दो रूप होते है। एक है व्यक्ति का स्वतंत्र रूप और दूसरा है समाज का अश रूप। मनुष्य को इन दोनों ही रूपों मे जीना पडता है। दोनों ओर प्रतिबद्ध होकर ही मनुष्य समाज के साथ कदम मिलाकर चल सकता है :

"और तभी जगत प्रकाश के सामने एक समस्या और उठ खड़ी हुई। ये जितनी सामाजिक मान्यताएं है, व्यक्तियों द्वारा ही तो प्रतिपादित होती हैं। आखिर व्यक्ति और समाज की मान्यताओं की सीमारेखा कहा है? जगत प्रकाश एक नई उलझन मे फस गया। क्या व्यक्ति की मान्यताए द्वैत रूप धारण कर सकती है? शायद हां, शायद नही। राष्ट्रों के नेता अथवा राजनीतिज्ञ, उनके व्यक्तित्व दो धाराओं में काम करते हैं। एक समाज के प्रतिनिधि रूप में, सामूहिक हित अहित के द्योतक। दूसरा व्यक्तिगत रूप में जहां मनुष्य का मनुष्य के साथ सबध है, जहां व्यक्तियों का हित ही सर्वोपरि है। इन दोनों व्यक्तित्वों की मान्यताओं मे अंतर होना चाहिए, अन्यथा समाज का विकास संभव नहीं है।"[२]

भगवती बाबू के उपन्यासों मे चित्रित व्यक्ति की समाज के प्रति विद्रोही मुद्रा क्रमशः नर्म पड़ती गई है। अहम् के प्रति सचेत होने के बाद भी उनके उपन्यासों मे चित्रित मनुष्य समाज से मिलने वाले प्रेम की महत्ता का अनुभव करते हुए दृष्टिगोचर होता है। 'प्रश्न और मरीचिका' में सभी पात्र, विशेषकर जयराज उपाध्याय अपने परिवार, अपने समाज के प्रति अधिकाधिक खिचाव अनुभव करते जाते हैं। जयराज उपाध्याय के इस खिचाव का चित्रण करके भगवती बाबू यह बतलाना चाहते हैं कि व्यक्ति अपने वातावरण को बिना चाहे नहीं रह सकता। उसके हृदय की अनजानी प्रक्रिया उसे वातावरण को प्यार करने के लिए बाध्य करती है। वस्तुतः भगवती बाबू व्यक्ति और समाज को एक केन्द्र-बिन्दु पर मिलाना चाहते हैं। वे मानते हैं कि व्यक्ति की स्वतंत्र सत्ता की मांग का अर्थ भी तभी पूरा होता है जब समाज के भीतर रहकर उसे यह स्वतन्त्रता मिल सके। इस तरह वे व्यक्ति और समाज के संतुलन में विश्वास करते है। वैयक्तिक प्रेरणा के सामाजिक पहलू को वह दृष्टि से ओझल नहीं करते :—

"मनुष्य के हरेक कर्म के मूल में एक प्रेरणा रहती है, लेकिन क्या यह प्रेरणा वैयक्तिक है, या यह प्रेरणा सामाजिक है? व्यक्ति से समाज बनता है—यह सत्य है, लेकिन समाज में ही तो व्यक्ति का अस्तित्व है, व्यक्ति समाज का अविच्छिन्न भाग है। जो व्यक्ति समाज से छिटक जाता है वह अपराधी होता है, या वह पागल होता है। हरेक वैयक्तिक प्रेरणा का सामाजिक पहलू होना अनिवार्य

१. रामप्रकाश कपूर, हिन्दी के सात युगान्तरकारी उपन्यास, पृष्ठ ८२
२. सीधी-सच्ची बाते, पृ० ३०२

है, इस वैयक्तिक प्रेरणा का सामाजिक प्रेरणा में विलयन ही मानव समाज है और इसके लिए मानव को सतत प्रयत्नशील होना पड़ेगा।"[1]

उक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि भगवती बाबू व्यक्ति और समाज को सहयोगी के रूप में देखना चाहते हैं। व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन में किसी ऐसे मध्य बिन्दु की तलाश कर लेना भगवती बाबू की अपनी विशेषता है।

अहम के परिष्कार की आकांक्षा

भगवती बाबू अहम् को मानव की सबसे बड़ी विशेषता स्वीकार करने के बाद ही अहम् के परिष्कार की कल्पना करते हैं। 'हमारी उलझन' संकलन के लेख 'अहम् का विकास' में वह स्वीकार करते हैं—"अहम् के सत्य में मानवता के सत्य को भर लें—यही मानवता का विकास है।" अपने उपन्यास 'सामर्थ्य और सीमा' में वे जोरदार शब्दों में इस बात का समर्थन करते हैं। अपने अन्य उपन्यासों में भी उन्होंने अहम् के पराजय का चित्रण किया है। कभी-कभी यह बात विरोधाभास की तरह लगती है कि अहम् को महत्त्व देने वाला लेखक अहम् की पराजय का चित्रण करता है। वास्तव में भगवती बाबू मानव के कर्ता होने के अहम् का विरोध करते हैं। समाज से व्यक्ति का संघर्ष वे अत्यंत स्वाभाविक मानते हैं किन्तु प्रकृति की शक्ति से तथा अदृश्य की शक्ति से मनुष्य के अहम् के संघर्ष को वे आत्महत्या मानते हैं। नास्तिकता से उत्पन्न कठोर अहम् उन्हें कभी अभीष्ट नहीं रहा। कठोर और शुष्क अहम् के पत्थर को गलाकर आर्द्रधारा में परिणत होकर ईश्वर के चरणों तक पहुंचने को ही वे उत्तम मार्ग समझते हैं। 'प्रश्न और मरीचिका' के जयराज उपाध्याय को हम उदाहरणस्वरूप ले सकते हैं। वास्तव में भगवती बाबू का व्यक्तिवाद उनके नियतिवाद का ही एक पूरक अंग है। इस व्यक्तिवाद को नियतिवाद से अलग करके नहीं देखा जा सकता। नियति की असीम बलशाली सत्ता के सामने मनुष्य को बेबस मानने वाले लेखक का अहम् को परिष्कृत करने का प्रस्ताव स्वाभाविक है। नियतिवाद और व्यक्तिवाद एक सीमा पर पहुंचकर उनके उपन्यासों में एक हो गए हैं। उनकी स्वीकारोक्ति इस प्रकार है :

"मैं तो बड़ा विवश हूं—अपनी प्रवृत्तियों और बहिर्परिस्थितियों में बंधा हुआ। जो नियंता है वही एक सक्षम संज्ञा है। मेरा व्यक्तिवाद इसी विवशता की उपज है। मेरे अंदर वाला अहम् ही मेरे लिए सत्य और नित्य है—प्राकृतिक रूप से इस अहम् में सत् और कल्याण की प्रवृत्तियां हैं। विशेष फल एवं परिणाम प्राप्त करने के लिए अपने इस अहम् को दबाने से कोई लाभ नहीं क्योंकि ऐसी

---

१. सीधी-सच्ची बातें, पृष्ठ ३१३

हालत में अपने अंदर वाली सत् और कल्याण की प्रवृत्तियां भी दब जाएगी। और यही मेरा व्यक्तिवाद मेरे नियतिवाद का पूरक अग बन जाता है।[1]

नियतिवाद

आदिकाल से मनुष्य अपने-आपको सृष्टि का केन्द्रबिन्दु मानता रहा है। इसके बाद भी वह अनुभव करता रहा है कि सृष्टि मे घटने वाली कई घटनाओं पर उसका वश नहीं है। यह विवशता तीन रूपों में स्वीकृत की गई है। पहली विचारधारा वैज्ञानिक चिंतन से उत्पन्न होती है कि हर कार्य अथवा घटना शृंखलाबद्ध कारणों के परिणामस्वरूप घटित होती है। मनुष्य के चाहने अथवा न चाहने से कुछ भी नहीं होगा—जो कुछ होना है वह होकर ही रहेगा। यह घटित होना एक वैज्ञानिक अनिवार्यता है—मसलन हाइड्रोजन और आक्सीजन के मिलने पर पानी बनना ही है—आदमी चाहे अथवा न चाहे। मानवीय जीवन के क्रिया-कलाप भी मस्तिष्क की गुत्थियों से परिचालित हैं। मनोवैज्ञानिक भी वैज्ञानिक तर्कों के आधार पर मानव की स्वतंत्र इच्छा-शक्ति को नकार कर उसे अत्यंत विवश बना देता है। हालबैच ने लिखा है कि क्या हम विचारों और अभिलाषाओं के क्षेत्र में भी स्वतंत्र है ?[2] वह मानता है कि वस्तुतः हम इसमे स्वतंत्र नहीं है। इस आधार पर मनुष्य का अपनी इच्छा के अनुसार कार्य कर लेने का गौरव पालना एक भ्रांति है। पूरी तरह वैज्ञानिक तर्कों से लैस यह विचारधारा साबित करती है कि हम सब अत्यंत असहाय अवस्था मे पूर्व घटित क्षणों के बधन मे कैद हैं। पूर्व घटित घटनाएं हमारी इच्छाओं के विरुद्ध ही हमें कठपुतली की तरह परिचालित करती रहती हैं।

दूसरी विचारधारा यह कहती है कि सारा संसार एक अतिमानवीय अदृश्य शक्ति से परिचालित है। सृष्टि में सब कुछ नियत है। मनुष्य चाहता कुछ है और होता कुछ है। न जाने कितनी घटनाएं ऐसी हैं जिनके पीछे कार्य-कारण का वैज्ञानिक तर्क भी पराजित हो जाता है। आइंस्टीन जैसा वैज्ञानिक इसी आधार पर एक सीमा के बाद दार्शनिक बन जाता है। आइंस्टीन के दार्शनिक बनने के पीछे प्राप्त-ज्ञान की सामर्थ्य का चुक जाना है। लेकिन ऐसे विचारक भी है जो मानते हैं कि काल का चक्र चल रहा है जिसके सामने मानवीय सामर्थ्य और उपलब्धियां अत्यंत बौनी हैं। हैडेगर के अनुसार मनुष्य एक क्रूर नियति द्वारा

---

१. पत्र नं १

2. Our volitions and desires are never in our pnwer. You think yourself free, because you do what you will, but are you free to will or not to will; to desire or not to desier ?—Hard and soft determinism—Paul Edwards—'Determinism and Freedom : In the Age of Mordern Science' Edited by Sideny Hook—Page 121

अनुशासित है—सहानुभूतिहीन जगत् मे अपने लक्ष्यों के प्रति उद्योगशील है, उसकी स्थिति करुण प्राणी की है, क्योंकि उसकी उपलब्धियों को मृत्यु अचानक नष्ट कर देती है। मनुष्य की विवशता को स्वीकार करने वाली इस विचारधारा को पूर्वी और पाश्चात्य जगत मे व्यापक मान्यता प्राप्त हुई। कुछ विचारक मानवीय असामर्थ्य के भय से आक्रांत होकर निराशावादी हो गए। शॉपनहावर जैसे दार्शनिक मृत्यु की अनिवार्यता से भयभीत थे और इसीलिए जीवन उनके लिए 'पीड़ा और अवसाद' में झूलता हुआ झूला मात्र था। किन्तु इसके विपरीतपूर्वी विचारधारा ने जीवन की क्षणभंगुरता और मृत्यु की अनिवार्यता को स्वीकार करके भी जीवन के प्रति आस्था को कायम रखा। गीताकार ने मृत्यु की अनिवार्यता को स्वीकार करके भी जीवन के कर्मो को महत्ता प्रदान की। उपनिषदों ने मृत्यु को ईश्वर का साहचर्य घोषित किया। मृत्यु की विभीषिका को कम करने का यह कार्य भारतीय चिंतन की बड़ी भारी देन है।

तीसरी विचारधारा के अनुसार सृष्टि की समस्त क्रियाएं तथा मानव-जीवन में घटने वाली घटनाएं ईश्वर की इच्छा से घट रही है। मनुष्य को जीवन में जो कुछ प्राप्त है वह उसके कर्मो के फलस्वरूप प्राप्त है। अदृश्य की शक्ति के आगे उसकी कुछ भी नही चल सकती। उद्यम नही भाग्य ही मनुष्य को उसकी स्थिति तक पहुंचाता है। बड़ा से बड़े पुरुषार्थ भाग्य के आगे व्यर्थ है।[1] इस विचारधारा के अनुसार ईश्वर सर्वशक्तिमान है और वह स्वयं किसी बंधन में नही बंधा है। उसकी आराधना करने पर सब कुछ प्राप्त हो सकता है। उसकी प्रसन्नता कार्य-कारण शृंखला को भंग करके किसीको कुछ भी प्रदान कर सकती है अतः मनुष्य को अपनी बलहीनता को स्वीकार करके उसकी आराधना करनी चाहिए। पहली विचारधारा का संबंध स्पष्ट रूप से आस्तिकता से नही है, दूसरी विचारधारा ईश्वर को ही काल के रूप में स्वीकृत कर उसकी सत्ता की सर्वोच्चता को स्वीकार करती है और तीसरी विचारधारा आस्तिकता के परम्परावादी दृष्टिकोण को सामने रखती है।

वर्माजी का दृष्टिकोण

भगवतीचरण वर्मा न केवल नियतिवादी दर्शन का समर्थन करते हैं बल्कि उसे एक स्वस्थ दृष्टिकोण मानते हैं—"नियतिवाद का दृष्टिकोण एक स्वस्थ दृष्टिकोण है—मेरा ऐसा विश्वास है जो मेरे निजी अनुभवों से मुझे प्राप्त है और अपने अनुभवों द्वारा इस विश्वास को प्राप्त करने के कारण मुझमें इतना साहस है

---

१. ऋषयोऽप्युग्रतपसो दैवेनाभि प्रपीडिता।
उत्सृज्य नियमांस्तीव्रान्भ्रश्यन्ते काम-मन्युभिः॥

वाल्मीकि रामायण, अयो० काण्ड, २२-२३

कि मैं अपनी बात को बिना किसी संकोच के कह सकूं।"[1] नियतिवाद की प्रचलित विभिन्न विचारधाराओं से उनकी विचारधारा का कितना साम्य और विरोध है इसका मूल्यांकन किए बिना उसका सही स्वरूप समझना कठिन है। भगवती बाबू स्वयं स्वीकार करते हैं कि वे किसी विचारधारा के पूर्वाग्रह से बंधे हुए नहीं हैं। उनकी विचारधारा अर्जित नहीं है बल्कि अनुभव-जन्य है। उन्होंने तो यहां तक स्वीकार किया है कि नियतिवादी विचारधारा उनके आधारभूत व्यक्तित्व में विद्यमान है अर्थात् जन्मजात स्वभाव के रूप मे उन्हें प्राप्त है। अपने पत्र मे उन्होंने लिखा, "जहां तक व्यक्तिवाद और नियतिवाद का प्रश्न है—यह दोनों ही मुझे चेतना के रूप में नहीं प्राप्त हुए हैं, शायद यह प्रवृत्तियां मुझमें जन्मजात हैं।"[2] अपने अंदर इन जन्मजात प्रवृत्तियों को वे परिस्थितियों के माध्यम से विकसित हुआ मानते हैं—"मैं तो बड़ा विवश हूं—अपनी प्रवृत्तियों और बहिर् परिस्थितियों से बंधा हुआ।"[3] अपने अंदर की इस जन्मजात प्रवृत्ति और पाश्चात्य नियतिवादी धारा से उसका अंतर वे इन शब्दों में व्यक्त करते हैं, "नियतिवाद' दर्शन के अंतर्गत अपने को कर्ता समझने वाला मनुष्य स्वय भयानक रूप से विवश है। वह स्वयं अपनी इच्छा से कोई काम नहीं कर सकता, कार्य और कारणो के नियम से जकड़ा हुआ और संचालित वह कर्म करता जाता है। नियतिवाद में दुखवाद के अवयव हैं, अनेक पाश्चात्य दार्शनिकों का यह मत है। मेरा नियतिवाद का दर्शन इस दु:खवाद से शासित नहीं है। वह समस्त रचना-विकास के नियमों पर आधारित है। मनुष्य में गुण सक्रिय है—वह दया, प्रेम, त्याग, सत्य आदि गुणों से युक्त होकर भी सामाजिक प्राणी बन सका है और निरंतर विकास करता जाता है।"[4]

भगवती बाबू के उक्त वक्तव्य से यह स्पष्ट है कि मनुष्य की विवशता का अर्थ वे मनुष्य की निष्क्रियता नही मानते। उनका दर्शन कार्य-कारण-श्रृंखला का स्पर्श अवश्य करता है पर इस तर्क को वे उस वैज्ञानिक सीमा तक नहीं खीचते कि वह विशुद्ध 'संकल्पवाद' बन जाए। मृत्यु की विभीषिका से वे इतने आक्रांत नहीं है कि उनका दर्शन 'दु:खवाद' में परिणत हो जाए। इसके साथ ही वे भाग्यवाद की परम्परागत मान्यता को भी स्वीकार नही करते। अंधविश्वास से युक्त दैववाद को अस्वीकृत करने का कारण यह है कि वे किसी सीमा तक भोगवादी है। वे उन्मुक्त भावनाओं की जी भरकर तृप्ति मे विश्वास करते हैं पर साथ ही भोगवाद की विकृतियों को वे अस्वीकृत कर देते हैं। इस तरह उनका नियतिवाद

१. भगवतीचरण वर्मा : रंगों से मोह (प्रस्तावना), पृष्ठ ११
२. पत्र नं० १
३. वही
४. रंगों से मोह (प्रस्तावना), पृष्ठ १०

अपने ढंग का है—वह न तो निराशा से जुड़ा हुआ है और न अंधविश्वास से। अपने नियतिवाद का स्पष्टीकरण उन्होंने इन शब्दों मे किया है, "मुझे यह कहते तनिक भी संकोच नही कि मैं नियतिवादी हूं, इस नियतिवाद को कुछ लोग भाग्यवाद कह देते हैं। मैं मनुष्य को कर्म करने में स्वतंत्र नहीं मानता हूं, हरेक मनुष्य अपने कर्म मे एक ओर तो अपनी आंतरिक प्रवृत्तियों से विवश है, जो उसे जन्म से प्राप्त होती हैं, दूसरी ओर वह बहिर् परिस्थितियों से विवश है, जिन्हें चाहे, अनचाहे उसे स्वीकार करना पड़ता है। जहां तक प्रवृत्तियों का प्रश्न है, कभी-कभी मनुष्य में एक-दूसरे के विरोधी प्रवृत्तियां डूबती-उतराती नजर आती है और इन प्रवृत्तियों को मोड़ देती रहती है परिस्थितियां, यह है मेरा नियतिवाद। लेकिन इस नियतिवाद से मनुष्य के आत्मविश्वास को किसी हालत में ठेस नही पहुच सकती, क्योंकि यह आत्मविश्वास भी तो मानव की एक प्रवृत्ति ही है।"[१]

कार्य-कारण-संबध

नियतिवाद जिन मुद्दों पर प्रमुख रूप से विचार करता है उन्हें भगवती बाबू ने अपने उपन्यासो में उठाया है। मानव-जीवन की सभी गतिविधियां शासित हैं, स्वतंत्र नही इस बात को उन्होंने रेखा उपन्यास में बड़ी सशक्तता से चित्रित किया है। मानव-जीवन की हर गतिविधि को स्वाभाविक मानते हुए उपन्यास का प्रमुख पात्र मनुष्य-जीवन के उतार-चढ़ाव की व्याख्या करीब-करीब नियतिवाद की शास्त्रीय पद्धति से करता है :

"कार्य और कारण, कारण और कार्य। दुनिया की स्थापना इसीपर है।" प्रभाशकर कहते जा रहे थे, "और इसीलिए जो कुछ हुआ है वह स्वाभाविक था, जो कुछ हो रहा है वह स्वाभाविक है और भविष्य में जो कुछ होगा वह भी स्वाभाविक होगा। डॉ० मिश्र, हम सब उस कार्य-कारण की शृंखला की कड़ियों के रूप में है, हमारे संकल्प-विकल्प और हमारी गतिविधि भी इसी कार्य-कारण के नियम से शासित और अनुप्राणित हैं। ऐसी हालत में जहां तक मेरा मत है, मैं समझता हूं कि हमारे संकल्प-विकल्प का रूप बदलता रहता है, हमारी गतिविधि एक तरह से निर्धारित है।"[२]

कार्य और कारण की शृंखला की स्वीकारोक्ति अनेक स्थलों पर प्राप्त होती है किन्तु भगवती बाबू यह भी मानते हैं कि कभी-कभी ऐसा कुछ घटित होता है जिसके पीछे छिपे कारण को समझना कठिन होता है :

"उसके साथ अभी तक जो कुछ हुआ है वह अकारण नही हुआ है, उस सबके कारण है, यद्यपि उन कारणों को ठीक-ठीक समझ पाना शायद संभव नही है।

---

१. कादम्बिनी, नवम्बर, १९७३, पृष्ठ ७२

२. रेखा, पृष्ठ २९५

और वे सब कारण कर्म कर रहे हैं उसके पहले अनेक कारणों के। यह कारण और कर्म, कर्म और कारण की शृंखला अनादि काल से चल रही है—अनंत काल तक चलती रहेगी।"[१]

मानव और स्वतंत्र इच्छा

मानव का जीवन कार्य-कारण शृखला से बंधा हुआ तो है ही, भगवती बाबू इससे भी आगे बढ़कर मानव-अस्तित्व पर भी प्रश्नचिह्न लगाते हैं। मानव की विवशता का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है कि उसका अस्तित्व भी उसकी एक विवशता-मात्र है :

"नियति के अनजाने किन्तु विवशता से भरे झोंके-सा अस्तित्व। घुटन और विस्फोट का सप्राण एकीकरण। और भयानक वेग के साथ दौड़ती हुई दुनिया में जहां नित्य ही बहुत कुछ बिगड़ता है और उससे भी अधिक बहुत कुछ बनता है, किसीका कोई पता हो सकता है, मुझे इस बात का भरोसा नहीं।"[२]

भगवती बाबू इस वेग से दौड़ती हुई इस दुनिया मे मनुष्य की स्थिति संदिग्ध मानते हैं। 'प्रश्न और मरीचिका' में भी वे इसी बात को दुहराते हैं, "अस्तित्व आशंकाओं और आश्वसनों से भरी एक मरीचिका है, और इसी मरीचिका में भटकते रहना जिन्दगी है।"[३]

जब मानव का अस्तित्व ही मरीचिका है तब उसकी स्वतंत्रता का प्रश्न ही नहीं उठता। लेखक की दृष्टि में मनुष्य-जीवन का प्रारम्भ ही उसकी विवशता से होता है। मानवीय स्वतंत्रता का प्रश्न नियतिवाद का केन्द्रीय प्रश्न है। इस दर्शन के अनुसार भगवती बाबू मानते हैं कि मनुष्य का कोई कार्य स्वतंत्र नहीं है :

"पर शायद विधान कुछ दूसरा ही था। नियति का ताना-बाना बुनने वाले पर हमारा कोई वश नहीं। उसके विरुद्ध चलने की, काम करने की, हिलने-डुलने की हमें स्वाधीनता नहीं, हममें क्षमता नहीं।"[४]

कार्य-कारण-शृंखला पर विश्वास करने और मनुष्य की स्वतंत्र इच्छा पर अविश्वास करने में भगवती बाबू पाश्चात्य नियतिवादियों के ही निकट बैठते हैं, साथ ही मनुष्य को परिस्थितियों से परिचालित वे मनोवैज्ञानिकों की ही तरह स्वीकार करते हैं। आधुनिक मनोवैज्ञानिक यह मानता है कि मनुष्य कब और क्या करेगा इसका पता स्वयं मनुष्य को नहीं होता। भगवती बाबू इस बात पर विश्वास करते हुए दिखलाई पड़ते हैं। उनके उपन्यासों में चित्रित पात्र नियति के क्रीड़ा-

---

१. सीधी-सच्ची बातें, पृष्ठ ३१४
२. वह फिर नहीं आई, पृष्ठ ८
३. प्रश्न और मरीचिका, पृष्ठ ४०७
४. वह फिर नहीं आई, पृष्ठ २७

कन्दुक हैं। सहज और स्वाभाविक जीवन में डूबे हुए ये पात्र स्वयं ही नही समझ पाते कि किस तरह अकस्मात् ही इनका जीवन समय की दुर्दान्त बाढ़ में तिनके की तरह बह जाता है और वे असहाय-से उसमें छटपटाते रहते है। लेखक स्वयं उन्हें परिस्थितियों के शिकंजे में बेबस चित्रित करता है और बार-बार इस बात पर बल देता है कि मनुष्य परिस्थितियों का दास है। लेखक के पात्र अपनी सम्पूर्ण शारीरिक और मानसिक शक्ति को समेटकर जो कुछ करना चाहते है—वह न करके अपनी अनजानी प्रवृत्तियों से बाध्य होकर उसके ठीक विपरीत कुछ कर बैठते हैं। 'चित्रलेखा' की कथा में लेखक इस बात को अत्यंत सशक्त ढंग से प्रस्तुत करता है। चित्रलेखा, बीजगुप्त, कुमारगिरि—यहां तक कि श्वेतांक और यशोधरा भी इस ट्रैजेडी के शिकार होते हैं। इनमें से हर पात्र की एक ही कहानी है—परिस्थितियों के आगे अपनी विवशता का अनुभव। बीजगुप्त पर जीवन न्यौछावर करने का सफल प्रयास करने के बाद भी चित्रलेखा, अपनी इच्छा के विपरीत, कुमारगिरि की ओर आकृष्ट होती है। चित्रलेखा को दीक्षा देने से इंकार करने के बाद भी कुमारगिरि चित्रलेखा के माध्यम से ही साधना-च्युत होता है। चित्रलेखा के प्रेम में आकंठ डूबा हुआ बीजगुप्त कब और कैसे यशोधरा के प्रति आकृष्ट होता है इसे समझ नहीं पाता और एकाएक श्वेतांक से उसका विवाह करवाकर स्वयं भिखारी बन जाता है।

चंद्रगुप्त की सभा में चित्रलेखा योगी कुमारगिरि को पराजित करती है। जब इस विजय पर श्वेतांक प्रफुल्लित होता है तो बीजगुप्त कहता है :

"नहीं समझ सके ? और तुम समझ भी किस प्रकार सकते हो। तुमने अभी संसार नहीं देखा है, तुम अनुभव से रिक्त हो। जिसे तुम चित्रलेखा की विजय समझे हो, वह उसकी बहुत बड़ी पराजय है। चित्रलेखा और कुमारगिरि, कोई भी विजयी नहीं हैं, दोनों ही पराजित हुए हैं। परिस्थिति का चक्र तेजी के साथ घूम रहा है, उसीके फेरे में ये दोनों प्राणी फंस गए हैं।"[१]

वास्तव में इस उपन्यास का हर पात्र पराजित है। भगवती बाबू बार-बार इस बात को चित्रित करते हैं कि मनुष्य होने का अर्थ परिस्थितियों का बंधन है। चित्रलेखा के प्रति बीजगुप्त की गहन आसक्ति को मृत्युंजय इसी रूप में देखता है : "परिस्थिति-चक्र का एक अभागा शिकार, पर साथ ही मनुष्यता से पूर्ण मनुष्य।"[२] यह विशेषता है कि अपनी असहायता की स्वीकृति से भी भगवती बाबू के पात्रों में कोई गहन निराशा नहीं दिखलाई पड़ती। उनके पात्र अपनी असहायता को एक जीवन-सत्य के रूप में स्वीकार कर लेते हैं :

" 'लक्ष्यहीन पथिक ?'—बीजगुप्त की विचारधारा बदल गई—क्या कोई भी

१. चित्रलेखा, पृष्ठ ५२
२. वही, पृष्ठ ७६

व्यक्ति लक्ष्यहीन है ? अथवा लक्ष्यहीन होना व्यक्ति के लिए कभी सभव है ? शायद 'हा'—बीजगुप्त असमंसज मे पड़ गया। एक दूसरा प्रश्न उसी समय उसके सामने खड़ा हो गया—'क्या मनुष्य का कोई लक्ष्य भी है ? कोई भी व्यक्ति बता सकता है कि वह क्या करने आया है, क्या करना चाहता है और क्या करेगा ? नही, यही तो नहीं सभव है। मनुष्य परतंत्र है, परिस्थितियों का दास है, लक्ष्य-हीन है। एक अज्ञात शक्ति प्रत्येक व्यक्ति को चलाती है। मनुष्य की इच्छा का कोई मूल्य ही नही है। मनुष्य स्वावलंबी नहीं है, वह कर्ता भी नही है, साधन मात्र है।' "[१]

परिस्थितियों के सामने मनुष्य की इस असहायता को लेखक बार-बार चित्रित करता है। अपने अहम् के पराजित होने की पीड़ा का परिचय भगवती बाबू के पात्रों को प्रारम्भ से अत तक होता रहता है। कभी-कभी उनके उपन्यासों में चित्रित मनुष्य को साधारण मनुष्य से 'विचित्र आदमी' बनने के दर्द को भी भोगना पड़ता है। ऐसे समय वे मनुष्य अनुभव करते हैं कि वे जान-बूझकर ऐसे नही बने है। 'तीन वर्ष' के रमेश को जब सरोज 'विचित्र आदमी' कहकर संबो-धित करती है तब वह उत्तर देता है, "हां, मैं वास्तव मे विचित्र आदमी हूं। आप लोगों के ही लिए नही, स्वय अपने लिए भी। पर मैं आपको विश्वास दिलाता हूं कि एक समय मै भी साधारण आदमी था—उतना ही साधारण जितना और लोग हैं। मेरे विचित्र आदमी बन जाने मे मेरा दोष तनिक भी नही है, यह तो मैं न कहुंगा, पर अधिकतर परिस्थितियो का दोष है।"[२]

अदृश्य की प्रबलता

कार्य-कारण शृंखला और परिस्थितियों के आगे मानव की विवशता को लेखक स्वीकार करता है पर मानव-असामर्थ्य की उसकी असली स्वीकारोक्ति उस अदृश्य के सामने है जो सृष्टि का नियंता है। उसकी भीषण शक्ति के सामने भगवती बाबू मानव को कठपुतली की तरह पाते हैं। वह शक्ति कभी प्रकृति की शक्ति के रूप मे और कभी भाग्य के उतार-चढ़ाव के रूप में मानव की समस्त कार्य-प्रणाली पर प्रहार करके उसे विवश बना देती है। वे इस अदृश्य की शक्ति को सर्वोच्च स्थान देते हैं। यहां तक कि वे यह मानते है कि कार्य-कारण-शृंखला भी उसी शक्ति का एक छोटा-सा अस्त्र-भर है। 'सामर्थ्य और सीमा' में नाहर सिंह विज्ञान के प्रतिनिधि देवलंकर से कहते है, "किसी एक नियम में बंधी हुई पृथ्वी घूमती है, दिन-रात होते है। हमने उस क्रम को नित्य देखा है और समझा है और हमें उस नियम का आभास हो गया है। जितना हमने देखा और समझा

१. चित्रलेखा, पृष्ठ १४४
२. तीन वर्ष, पृष्ठ १८८

हैं, उतने से हमारे विज्ञान की उपज हुई है, लेकिन कही अधिक ऐसा है जिसे हमने न देखा है और न समझा है। लेकिन वह बहुत कुछ है यहां पर, इससे तो इंकार न कर सकोगे इजीनियर साहब।"[1]

'सामर्थ्य और सीमा' की सारी कहानी अदृश्य की शक्ति के सामने मानवीय असामर्थ्य की कहानी है। वैज्ञानिक शक्ति को हासिल करके मनुष्य अपने को कर्ता समझने लगा है। किन्तु भगवती बाबू मानव की वैज्ञानिक शक्ति को भी अदृश्य की शक्ति के सामने न केवल असहाय पाते हैं बल्कि यह भी अनुभव करते है कि मानव जिसे अपना बल समझता है वह वस्तुतः उसका बल नही है :

"मैंने कहा न कि करता कोई कुछ नही है, यह सब आप ही आप हो जाया करता है। मेरा प्रयोजन यह है कि कर्ता कोई दूसरा ही है जो अदृश्य है, हम सब तो उस कर्ता के साधन है, हमरी मति, हमारी बुद्धि, हमारा ज्ञान, हमारी भावना —इनको अपना कहते हुए भी हमारा इनपर कोई अधिकार नही है।"[2]

मनुष्य की सारी उपलब्धियां—उसका विज्ञान, सभ्यता, सस्कृति—नियति के चक्र में सम्मिलित है। उसका बनना-मिटना भी उसके हाथ की बात नहीं है। आज का मनुष्य अपने-आपको अपना भाग्य विधाता मानता है किन्तु भगवती बाबू इस विचार को गलत मानते हैं। नाहर सिंह के माध्यम से उनका दर्शन इस रूप में सामने आता है, "रानी बहू, नियति का चक्र चल रहा है और इस नियति के चक्र की गति बदलने मे मैं असमर्थ हूं, तुम असमर्थ हो, हरेक आदमी असमर्थ है। बनाने और मिटाने वाला कोई दूसरा ही है। हम तो स्वयं बनाए-मिटाए जाते हैं।"[3]

आधुनिक मानव की असीम शक्ति को लेखक स्वीकार करता है। वह मानता है कि मनुष्य ने प्रकृति के रहस्य को जानकर उसे अपने वश में कर लिया है—यह उसका साहस है, उपलब्धि है किन्तु मनुष्य के कर्ता होने के अहम् को वह स्वीकृति नही देता। यही कारण है कि 'सामर्थ्य और सीमा' में ससार को बदल देने का अहम् पालने वाले पात्रों को वह एक जगह एकत्रित करता है और उनकी सम्मिलित शक्ति को भी अदृश्य की शक्ति के आगे दम तोड़ते हुए दिखलाता है। मंत्री जोखनलाल, उद्योगपति मकोला, इजीनियर देवलकर, आर्चिटेक्ट मसूर, पत्रकार ज्ञानेश्वर राव, कवि शिवानंद शर्मा, रानी मान कुमारी, क्रान्तिकारी रघुराजसिंह —ये सभी मात्र मानव की चहुमुखी शक्ति के प्रतिनिधि है पर ये सब नियति के द्वारा प्रेरित मृत्यु से नही बच सके। यशनगर और सुमनपुर के इलाके को अपनी

---

१. सामर्थ्य और सीमा, पृष्ठ २३५

२. वही, पृष्ठ २८४

३. वही, पृष्ठ ७४

क्षमता से, अपनी कल्पना के अनुरूप, बदल देने का इनका घमंड रोहिणी के एक थपेड़े में वह जाता है। मनुष्य की स्थिति भगवती बाबू की दृष्टि में मात्र इतनी है :

"कोई सार्थकता नही, कोई लक्ष्य नहीं, कोई उद्देश्य नहीं है किसी चीज का। पैदा होना और मर जाना, बनना और बिगड़ जाना। और इन दोनों के बीच की अवधि मे जो कुछ होता है उसपर भी हमारा कोई वश नहीं। अनगिनत देखी-अनदेखी, जानी-अनजानी, शक्तियां काम कर रही हैं अपने-अपने ढंग से। इनमें कोई भी शक्ति स्वतंत्र सत्ता नही है, ये शक्तिया आपस में मिलती हैं, आपस में टकराती है। कही संघर्ष है, कहीं समन्वय है। और इस प्रकार सब कुछ होता चला जाता है, होता चला जाएगा। फिर यह सृजन और विनाश की लीला क्यों ?"[१]

अंत में जुड़ा हुआ प्रश्न 'क्यों' मनुष्य के अंदर उत्पन्न होनेवाली जिज्ञासा है कि उसके अस्तित्व और दृष्टि के क्रम की सार्थकता क्या है ?

नियति का स्वरूप

अपनी सम्पूर्ण उपन्यास-यात्रा में भगवती बाबू इसी प्रश्न से जूझते रहे हैं। उन्होंने करीब-करीब अपने हर उपन्यास में यह दर्शाया है कि नियति के अंध तम में आंखें गड़ाकर देखने के बाद भी मनुष्य उस शक्ति के क्रिया-कलापों का न तो स्रोत ही ढूढ पाया है और न उससे लड़ पाया है। नियति के थपेड़ों से आहत राम-नाथ तिवारी का चित्रण लेखक इस तरह करता है :

"न वे अपने विपक्षी को देख सकते थे, और न वे अपना कर्त्तव्य निश्चित कर पा रहे थे। उनके मन में आ रहा था कि एक बार वे अपने विपक्षी को देख पाते। इन परिस्थितियों के चक्र को चलाने वाले के सामने होकर उसकी इच्छा वे जान पाते—उसके कार्यक्रम को वे समझ पाते। उनपर एक के बाद एक वार हो रहे थे —और वे वार एक अदृश्य स्थान से हो रहे थे, एक अदृश्य शक्ति द्वारा। और ऐसी हालत में उन्हें लड़ना था, साहस के साथ उस अदृश्य का मुकाबला करना था।"[२]

भगवती बाबू के नियतिवादी दृष्टिकोण को सर्वाधिक सघनता 'सामर्थ्य और सीमा' में प्राप्त हुई है किन्तु उनके सभी उपन्यास उनके इस दृष्टिकोण को किसी न किसी रूप में व्यक्त करते रहे है। 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' सामर्थ्य और सीमा से काफी पहले प्रकाशित हुआ था और प्रश्न और मरीचिका काफी वाद में किन्तु 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' की ही तरह प्रश्न और मरीचिका में भी मनुष्य की असमर्थता की स्वीकृति इस तरह है :

"'कर्ता कोई और है, हम सब तो निमित्तमात्र हैं।' मेरे पिता ने शान्त भाव

१. सामर्थ्य और सीमा, पृष्ठ ३१३
२. टेढ़े-मेढ़े रास्ते, पृ० ५३८

से कहा, 'न मनुष्य अपनी इच्छा से जन्म लेता है, न अपनी इच्छा से मरता है। ऊपर से कार्य और कारण एक-दूसरे से बुरी तौर से सबद्ध दिखते हैं, लेकिन इस कार्य और कारण की लम्बी शृंखला को देख पाना हमारे वश में नहीं है।'

"और फिर उन्होंने आकाश की ओर देखते हुए कहा, 'सत्-असत् भला-बुरा, पाप-पुण्य जो कुछ है वह सब तुम्हीं तो हो मेरे भगवान। लेकिन यह सब क्यों? आखिर क्यों?' "[१]

'क्यों' के प्रति जिज्ञासा-भाव लिए हुए यहां कार्य और कारण शृंखला भी ईश्वरीय शक्ति को समर्पित कर दी गई है। भगवती बाबू अपने प्रारम्भिक उपन्यासों में भगवान को हर कार्य के पीछे इतने स्पष्ट रूप में स्वीकार करत नहीं दिखलाई पड़ते। वे आस्तिक प्रारम्भ से ही रहे हैं किन्तु नियति को सीधे-सीधे ईश्वर से उन्होने परवर्ती उपन्यासों में ही जोड़ा है।

सब कुछ ईश्वर को समर्पित करने के उपरान्त भी वर्माजी मानते रहे हैं कि जगत् का स्रष्टा भी इतना स्वतंत्र नहीं है कि वह अपने विधान को बदल सके। सृष्टि के सूक्ष्म से सूक्ष्म परिवर्तन तथा मानव-जीवन के प्रत्येक उतार-चढ़ाव को वे ईश्वर की लीला अवश्य स्वीकार करते हैं किन्तु इस लीलापति को भी वे इतना निरंकुश नहीं मानते कि वह मनुष्य की प्रार्थना पर अपने विधान में परिवर्तन कर सके। आम तौर पर भारतीय विचारधारा यह स्वीकार करती है कि ईश्वर की प्रसन्नता और कृपा से जगत् में अनहोना परिवर्तन संभव है किन्तु भगवती बाबू इससे सहमत नहीं हैं। 'सामर्थ्य और सीमा' में उन्होंने यह बात बड़ी स्पष्टता से स्वीकार की है कि नियत-विधान अपरिवर्तनशील है। पहले वे नाहर सिह के माध्यम से कई प्रश्न उठाते हैं:

"तुम भी उतने विवश हो जितने हम हैं। अपनी सृष्टि की कुरूपता तुम नही दूर कर सकते। या फिर यह कुरूपता स्वयं में तुम्हारा ही एक भाग है? तुम स्वयं एक नियम और क्रम में बंधे हुए हो, तो फिर तुम स्रष्टा कैसे? तुम समर्थ कहां से हुए? तुममें किसी क्रम को बदल सकने की क्षमता ही नही है। फिर तुम्हारी पूजा जौर तुम्हारी उपासना की सार्थकता ही क्या है हम लोगों के लिए?"[२] इन प्रश्नों को सामने रखकर नाहर सिह स्वयं ही निष्कर्ष के रूप में कहते हैं—"मैं जानता हूं तुम मुझे उत्तर नही दोगे, तुम कोई उत्तर दे नहीं सकोगे। तुम विधाता अवश्य हो, और तुमने एक विधान बनाया है जिसके अनुसार यह समस्त सृष्टि संचालित होती है। उस विधान के प्रतिकूल कुछ हो ही नहीं सकता, अपने ही बनाए हुए विधान से तुम विवश हो।"[३]

१. सामर्थ्य और सीमा, पृ० ३१४
२. वही, पृष्ठ ३१४
३. वही, पृष्ठ ३१४

आस्था का प्रश्न

नियति की अपरिवर्तनशील और अंधी शक्ति की स्वीकारोक्ति निराशा को जन्म दे सकती है। नियति की इस शक्ति के भय से अपने को मुक्त रखने के लिए आस्तिक दर्शन ईश्वर की अनंत शक्ति और दया की कल्पना करता है। इसी प्रवृत्ति ने ईश्वर को प्रसन्न रखने के लिए कितने ही विधानों को जन्म दिया। भगवती बाबू नियति की शक्ति को ईश्वर के अपरिवर्तनशील विधान के रूप में चित्रित करते हैं। प्रार्थना को फलहीन मानने के बाद भी उनके दर्शन मे निराशा नहीं है। उन्होंने कहा भी है, "नियतिवादी होने के साथ-साथ हममें कहीं बहुत प्रबल आस्था है—शायद आस्था को हम नियतिवाद का अविच्छिन्न अग मानते हैं।"[1] नियतिवादी दर्शन मनुष्य की असमर्थता और विवशता के अनुभव से जहां एक ओर गहन निराशा को जन्म दे सकता है वही वह मनुष्य को फक्कड़ाना मस्ती भी दे सकता है। भगवती बाबू को दूसरी वस्तु भी प्राप्त हुई है। वे यह मानते हैं कि जब मनुष्य के जीवन का सब कुछ निश्चित है तब व्यर्थ की परेशानी क्यों ओढ़ी जाए। साथ ही वे यह भी मानते है कि मनुष्य का अपनी परिस्थितियों के साथ संघर्ष चलता ही रहेगा और उस सघर्ष से निराश होने की आवश्यकता नही है। आदिकाल से मनुष्य जूझ रहा है और अनंत काल तक जूझता रहेगा। अपने उपन्यासों में वे पहले नियति की शक्ति का एक व्यापक कैनवास तैयार करते हैं जिसमें मानव की क्षुद्र स्थिति का वे बोध कराते है किन्तु इसके साथ ही उनके उपन्यासों में उस मानवीय संकल्प के दर्शन भी होते है जो निरतर अदृश्य की शक्ति से जूझ रहा है। मानवीय आस्था को वे दो रूपों मे चित्रित करते है।

पहला स्वरूप है नियति-चक्र को अकुंठित भाव से भोगने का। वे मानते हैं कि क्षणभंगुर और विनाश की ओर प्रतिक्षण बढ़ते हुए जीवन मे मौत की चिंता व्यर्थ है—जैसाकि 'सामर्थ्य और सीमा' में नाहर सिंह कहते है, "असलियत यह है कि यह प्रदेश विनष्ट और ध्वस्त हो जाएगा। लेकिन इसकी चिंता क्यो की जाए?"[2] समय के परिवर्तन पर सिर धुनना व्यर्थ है, जो सामने है उसे अकुंठित भाव से भोगना ही बुद्धिमानी है। 'सीधी-सच्ची बातें' का भावुक नायक जगत निष्कर्ष निकालता है—"और तभी कहीं से एक प्रेरणा मेरे अंदर आई—जो कुछ आता है उसे स्वीकार करो और भोगो, प्रसन्न होकर। जन्म तुम्हारे हाथ में नही है, मरण तुम्हारे हाथ में नहीं है, फिर किस लोभ में यह सड़ांध और घुटन की जिन्दगी बिताई जाए?"[3]

---

१. भगवतीचरण वर्मा, ये सात और हम, पृ० १५५
२. सामर्थ्य और सीमा, पृ० २८४
३. सीधी-सच्ची बातें, पृष्ठ ३४६

दूसरा स्वरूप है जुझाऊ मनुष्य का। मानव का जीवन कर्म-प्रधान है अतः इस सृष्टि के घटनाक्रम में वह तटस्थ दर्शक की तरह नही बैठा रह सकता। समय के सामने अपनी विवशता को मनुष्य तुरत ही स्वीकार नही करता—"सब कुछ उस अदृश्य के हाथ मे है। उससे भी अधिक भयानक विपत्तियां आई हैं इसान पर, लेकिन यह गजब की सहन शक्ति लेकर आया है। अपनी मुसीबतों का सही-गलत हल भी इस इंसान को निकालना है।"[१] नियतिचक्र के स्वरूप से अपरिचित होने के बाद भी भगवती बाबू के उपन्यासों में चित्रित मनुष्य उसका मुकाबला करने में प्रयासरत दिखलाई पड़ता है। 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' के रामनाथ तिवारी काल की शक्ति से जूझने का सकल्प इस तरह करते है, "नियति का चक्र चल रहा है श्यामू। एक बहुत बडी ताकत हमारे खिलाफ है। जरा सोचकर और समझकर हमे उस ताकत का मुकाबला करना पड़ेगा, बहुत सम्भलकर। एक कदम भी गलत पड़ा और विनाश अवश्यम्भावी है। कहीं हम हार न जाएं, इसका खयाल रखना पड़ेगा।"[२]—योद्धा की मुद्रा अख्तियार करने के बाद भी रामनाथ तिवारी ईश्वर से ही उसके विरुद्ध लड़ने की शक्ति मांगते हैं—"हे भगवान, क्या मुझे पराजित होना पड़ेगा ? तुम क्या चाहते हो ? तुम्हारे विरुद्ध लड़ना। इतना बल मुझमें नही है। मुझे बल दो मेरे भगवान।"[३]

लेखक कई स्थलों पर गीता के कर्मवाद पर विश्वास करता हुआ दिखलाई पड़ता है। गीता के कर्मवाद मे विश्वास करना ही उसकी आस्था का प्रमाण है। अपनी नवीन कृतियों मे वह अधिक स्पष्ट शब्दों में गीता को मानवीय समस्याओं और उलझनों के समाधान के रूप में स्वीकार करता है। 'सीधी-सच्ची बातें' में सांसारिक विभीषिकाओं से त्रस्त जगत् परवेज के आग्रह पर गीता पढ़ता है और शान्ति प्राप्त करता है। 'प्रश्न और मरीचिका' में जयराज उपाध्याय भी निष्काम कर्म की शरण में जाता हुआ दिखलाई पड़ता है। 'प्रश्न और मरीचिका' में समय की हलचलों का पिष्टपेषण करके उदय निष्कर्ष इस रूप में निकालता है—"मेरा कुटुंब, मेरा परिवार, मेरा देश—इनसे बंधा हुआ मैं इस कमरे में अकेला बैठा सोच रहा हूं कि आखिर जीवन की सार्थकता क्या है ? अस्तित्व का प्रयोजन क्या है ? सृजन की प्रेरणा कौन-सी है ? कहीं कोई प्रकाश नही, कही कोई उत्तर नहीं। जो कुछ हमे मिला है उसे भोगना है हमे, चाहे हंसकर चाहे रोकर। हम स्वयं कुछ ले भी तो नही सकते, सब कुछ अपने-आप हमे मिलता रहता है। हम भले ही समझें कि हमने उसे प्राप्त किया है लेकिन, हम कर्ता कब हैं ? हम तो

---

१. प्रश्न और मरीचिका, पृ० ४३१

२. टेढ़े-मेढ़ रास्ते, पृ० ४७८

३. वही, पृ० ४७८

कर्म हैं, क्योंकि हम पैदा होते हैं, हम मर जाते हैं। न पैदा होना हमारे हाथ मे है, न मरना हमारे हाथ मे है। फिर यह चिंता और उदासी क्यों ?"[१]—इस उपन्यास में चित्रित किया गया उदय का 'मैं' सम्पूर्ण मानव का 'मैं' है। लेखक मानव की नियति का यही चित्र प्रस्तुत करना चाहता है और नियति के प्रति उसे मानव की यही मुद्रा अभीष्ट है।

नियतिवाद से उत्पन्न प्रश्न

नियतिवादी दर्शन के अनुसार सभी कुछ अपने-आप घटित हो रहा है, उसमे मनुष्य का कोई हाथ नहीं है। ऐसी स्थिति में कुछ प्रश्न बड़ी तीव्रता से उठते है। पहला प्रश्न तो यह है कि यदि मनुष्य के कार्यो पर स्वयं उसका कोई अधिकार नही है तो निश्चय ही उस कार्य के लिए उसे जिम्मेदार भी नहीं ठहराया जा सकता—ऐसी स्थिति में हमारी नैतिक मान्यताओं का क्या होगा ? वे सारे नियम अर्थहीन हो जाते हैं जो सभ्यता-संस्कृति के आधार हैं। उन नियमों पर मनुष्य को तोले जाने का फिर कोई मतलब नहीं रह जाता। भगवती बाबू नैतिकता की चालू मान्यताओं को इसी आधार पर नकारते हैं। चित्रलेखा उपन्यास मे वे यही सिद्ध करते है कि कर्म को अच्छा या बुरा कहना अत्यत कठिन है।—"ससार मे इसीलिए पाप की एक परिभाषा नही हो सकी—और न हो सकती है। हम न पाप करते हैं और न पुण्य करते हैं, हम केवल वह करते है, जो हमें करना पड़ता है।"[२] इस सिद्धांत के अनुसार कर्म को नैतिकता से जोड़ना कठिन है। रेखा उपन्यास में भी भगवती बाबू रेखा के पतन को पतन के रूप में चित्रित नही करते। वे मानते है कि रेखा के सारे क्रिया-कलाप परिस्थितियों के कारण हैं। रेखा अंत-र्द्वंद्व में पड़कर भी बार-बार अपने-आपको कितने ही पुरुषों की अंकशायिनी बनाती है किन्तु लेखक उसके कार्यो को अनैतिक नहीं कहता। आम तौर पर नैतिकता का प्रश्न शरीर-संबंधों से ही जोड़ा जाता है।[३] पर भगवती बाबू के उपन्यासों में शरीर-संबधों को नैतिकता के प्रश्न से परे अत्यंत सहज ढंग से चित्रित किया गया है। नैतिकता की किसी व्याख्या को भगवती बाबू सार्वकालिक नहीं मानते। वह देश-काल के अनुसार भिन्न-भिन्न होती है और अपना स्वरूप भी बदलती है। साथ ही वह व्यक्ति की भावना और उसकी परिस्थितियों के संदर्भ में ही व्याख्यायित की जा सकती है।

---

१. प्रश्न और मरीचिका, पृ० ५५३

२. चित्रलेखा, पृ० १७७

3. When we speak of morality, we are understood, nine hundred and ninety nin times out of a thousand to refer : To sexual morality—
—आर० ब्रिफाल्ट, भाग ३ पृ० २५३

दूसरा प्रश्न उठता है अपराध और न्याय के संबंध में। परिस्थितियों और अनजानी शक्तियों की प्रबलता को स्वीकृत कर लेने पर यह भी स्वीकृत करना होगा कि किसी भी अपराध के लिए अपराधी उत्तरदायी नही है। जा हास्पर्स ने अपने लेख मे एक न्यायविद् का यह वाक्य उद्धृत किया है :—The poor victim is not consious of the inner forces that exact him this ghastly toll; he battles, he schemes, he revels iu Pseudo-aggression, he is miserable, but he does not kuow what works within him to produce these catastrophic acts of crime. His aggressive actions are tbe wriggling of a worm on a fisherman's hook, And if it is so, it seems difficult to say any longer, he is responsible."[1] न्यायविद् का यह कथन मनुष्य के हृदय मे गतिशील अंतर्स्रोतो की प्रबलता को स्वीकार करता है जिसमे मनुष्य तिनके की तरह बह जाता है। वास्तव मे नियतिवादी विचारधारा मानवीय अपराध को बड़ा भारी हौवा नही मानती। 'आखिरी दांव' उपन्यास में रामेश्वर रघुनाथ दादा के साथ उसके तबेले में घूमकर अपराध की दुनिया का परिचय प्राप्त करता है। उसकी मन:स्थिति का चित्रण लेखक इस रूप में करता है :

"रामेश्वर गोरे गांव में सीधे अपने घर पहुंचा। उसका मन उस समय भारी था। आज दिन में उसने जो कुछ भी देखा था, वह सब का सब कुरूप था। वह सोच रहा था कि विधि ने इतनी कुरूपता का निर्माण क्यों किया। उसे एक तरह से ईश्वर पर ही क्रोध आ रहा था।"[2]

संसार की कुरूपता को देखकर रामेश्वर को ईश्वर पर क्रोध आता है; मनुष्य पर नही। इसी उपन्यास में शिवकुमार चमेली को हिरोइन बनाता है और उससे अपनी वासना की तृप्ति करता है। चमेली के उदास होने पर वह कहता है, "चमेली रानी ! न इसमें किसीका दोष है और न किसीने पाप किया है। जो कुछ हुआ है वह विधि का विधान था। भगवान को वही करना था, और वह बच कैसे सकता था।"[3]

भगवती बाबू के उपन्यासों में अपराधियों, अनाचारियों के प्रति कही भी आक्रोश और घृणा नहीं दिखलाई पड़ती। 'सबहिं नचावत राम गुसाई' उपन्यास इसका प्रमाण है। सामाजिक बुराइयों और अपराधो के संदर्भ में अपने पत्र मे उन्होंने लिखा, "कटुता और आक्रोश हो तो किसपर हो ? हरेक व्यक्ति विवश

---

1. What Means This Freedom 'Determinism and Freedom · In the Age of Modern Science · Edited by Sidney Hook, Page 132
२. आखिरी दांव, पृष्ठ १५०
३. वही, पृ० १२६

है उसके लिए जो वह कर रहा है। क्या दूसरों की बुराइयों पर प्रहार करने से बुराइयां नष्ट हो जाएंगी ?"[१] इस तरह भगवती बाबू मनुष्य को इस बात का अधिकारी नही मानते कि वह दूसरों की गलतियों का दण्ड उन्हें दे सके।

तीसरा प्रश्न उठता है कि नियतिवादी दर्शन पर यदि विश्वास किया जाए तो समय के प्रवाह मे मनुष्य के कर्मो की कीमत क्या आंकी जाए ? नियतिवादी दर्शन ऐतिहासिक घटनाओं में मनुष्य के कर्म को अदृश्य का औजार-मात्र मानता है।[२] जब सब कुछ नियत है तो अच्छे कर्म का महत्त्व स्वीकार किस तरह होगा ? आज मनुष्य ने सभ्यता-संस्कृति के जो महल खड़े किए हैं उसके लिए उसने न जाने कितना खून-पसीना बहाया है। इतिहास के क्रम में बेहतर समाज की आकांक्षा से उसने अपने प्राण अर्पित किए हैं उसका आकलन क्या हो ? इतिहास क्या मात्र संयोग और आकस्मिक घटनाओं का चढ़ाव-उतार है और कुछ नहीं ? यह मान लेने पर मानवीय शहादत अपना मूल्य खो देगी। इस विचारधारा के अनुसार सामान्य मनुष्य और महापुरुष में कोई अंतर नहीं रह जाता। इतिहास के पटल पर चित्रित सारे संघर्ष, युद्ध, राजनीति के दांव-पेंच, देशों की गुलामी और स्वतंत्रता के लिए किए गए संघर्ष—सभी कुछ नियत थे तब हम महापुरुषों और शहीदों को याद ही क्यों करें। निस्संदेह नियतिवादी दर्शन से उत्पन्न होने वाला यह प्रश्न अत्यत महत्त्वपूर्ण और साथ ही खतरनाक भी है।

भगवती बाबू समय और संसार को बदलने का दावा करने वाले 'इज़्म्स' और कार्यक्रमों को थोथा मानते हैं। अपने उपन्यास के माध्यम से वे सभी रास्तों के 'टेढ़ा-मेढ़ा' साबित करते हैं। भारतीय इतिहास को चित्रित करने वाले उनके सभी उपन्यासों में यह बात दुराई गई है कि जो कुछ भी घटित हुआ वह नियति की इच्छा से हुआ—मानव की इच्छा से नहीं। विश्व-युद्ध के छिड़ने से लेकर चर्चिल की हार तक की महत्त्वपूर्ण घटनाओं को भगवती बाबू केवल 'खुदा की मर्जी' मान लेते है—"तो अगर इस इलेक्शन में मिस्टर चर्चिल हार गए तो उस पर ताज्जुब क्यों ? उसकी मर्जी थी कि चर्चिल साहब हारें।"[३] आजादी की लडाई भगवती बाबू के अनुसार नियत थी और हिन्दू-मुस्लिम दंगे भी। इन दंगों

---

१. पत्र न० १

2. More over, though human individuals are the ostensible agents which bring about the movement of history, in most of these philosophies human actions are at best only the 'instruments' through which certain 'foices' operating and evolring in confirmity with fixed laws, became manifest—Determinism in History, Earnest Nagal 'Determinism, Free Will and Moral Responsibility'—
Edited by Gerald Dworkin. Page-53

३. सीधी सच्ची बाते, पृ० ५२१

के पीछे छिपी हुई मानवीय नफरत और राजनैतिक स्वार्थो को वे अवश्य चित्रित करते हैं पर देश के बंटवारे की जिम्मेदारी वे ईश्वर के कंधों पर डाल देते है। 'प्रश्न और मरीचिका' में मानव की इस भीषण ऐतिहासिक ट्रेजेडी का विश्लेषण मेला राम इस तरह करता है—"ठीक कहते हो बेटे। हमारे मुल्क का देवता है गांधी, यह गांधी इस मुल्क के बंटवारे के खिलाफ था।" और उसकी आवाज बुद-बुदाहट में बदल जाती है, "गांधी! कुदरत का करिश्मा गांधी, वह मजबूर हो गया था इस बंटवारे को मंजूर करने के लिए। यह बटवारा होना ही था, कोई नही रोक सकता था उसे। भला भगवान के विधान को भी कोई रोक सका है?"[१] भगवती बाबू ने जहां भी इतिहास की चर्चा की है, उसकी नियतिवादी व्याख्या ही उन्होंने की है। इस व्याख्या के समय उनका दृष्टि का सरलीकरण स्थान-स्थान पर दिखलाई पड़ता है। वास्तव में इतिहास के महत्त्वपूर्ण मोड़ों पर प्राप्त मानव की सफलता और उसके द्वारा की गई भयकर भूलों को 'खुदा की मर्जी' के नाम पर एकाएक खारिज नही किया जा सकता।

इतिहास की व्याख्या के साथ ही साथ महापुरुषत्व की व्याख्या का प्रश्न भी उठता है। मानव को कठपुतली मानने के कारण लेखक महापुरुषों के महत्त्व को स्वीकार करने के बाद भी उन्हें वह उच्च आसन नहीं देता जो सामान्य आदमी उन्हें देता है। जवाहरलाल नेहरू के स्वाधीनता-सेनानी बनने को लेखक भाग्य का खेल निरूपित करता है—"लेकिन यह जवाहरलाल, जिसे जिन्दगी में संघर्ष नही करने पड़े हैं जिसके भाग्य ने उसे देश पर आरोपित कर दिया है, इसे सैद्धांतिक दृष्टि से सोचने का मौका मिला है।"[२] कहीं-कहीं अपने नियतिवादी दर्शन की जिद मे महापुरुषत्व की अस्वीकृति को लेखक आवश्यकता से अधिक खीच देता है और एकबारगी महापुरुषों की स्थिति का भीषण अवमूल्यन कर देता है। 'तीन वर्ष' के अजित का विश्लेषण द्रष्टव्य है:

"अजित मुस्कराया, 'पता नहीं हमें क्या चाहिए—गांधी या लेनिन? हम सब चले जा रहे हैं—एक गति है और एक विधान है, हमारे ऊपर। हम सब संचालित होते है, और हमें संचालित करने वाले का हमे पता नही, कितनी विचित्र बात है! पर जो है, वह है। हम उसे मिटा कहां सकते हैं? गांधी, लेनिन और कृष्णमूर्ति—ये सबके सब, मनुष्य अधिक से अधिक कहां तक बडा हो सकता है—इसके उदाहरण हैं, उसी प्रकार कि जैसे एक कुरूप, अपंग तथा कंगाल बौना मनुष्य कहां तक गिर सकता है, इसके उदाहरण है लेनिन, गांधी और कृष्णमूर्ति। ये जरा भी संसार का भला नहीं कर सकते—ससार का भला या बुरा करने

---

१. प्रश्न और मरीचिका, पृ० १६

२. वही, पृ० १०६

वाला कोई दूसरा ही है।"[१]

गांधी, लेनिन जैसे महापुरुषों को अजित अपने मित्र कृष्णमूर्ति के स्तर पर रखकर मानव के साधारणत्व को व्यक्त करता है। जो लेखक नियति के साथ जूझने की बातें करता है वही लेखक महापुरुषों के अंदर छिपी हुई शक्ति को इस हद तक साधारण भूमि पर उतारने का प्रयास सैद्धांतिक आवेश में ही कर सकता है।

रोमांटिक प्रेम

उपन्यास को मनुष्य-जीवन की कहानी कहा जाता है। मनुष्य-जीवन में प्रेम सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं उलझी हुई भावना है। समर्थ उपन्यासकार जब मानव-जीवन को अपनी गहन दृष्टि से जांचता-परखता है तब यह संभव नहीं कि वह मानव-जीवन के इस महत्त्वपूर्ण अध्याय पर कोई विचार व्यक्त न करे। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि ससार की अधिकांश साहित्यिक कृतियां प्रेम की समस्या का ही चित्रण करती है। भगवती बाबू के उपन्यासों में भी मानवीय प्रेम को महत्त्व-पूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है। 'थके पाव' उपन्यास को छोड़कर उनके सभी उपन्यास प्रेम-संबधों को गहराई से चित्रित करते है। स्त्री-पुरुष-संबंध, प्रेम के स्वरूप का विश्लेषण, मानव-जीवन में प्रेम का स्थान आदि विषयों पर उन्होंने काफी सोचा है। उनके उपन्यास सामाजिक समस्याओं के साथ ही साथ प्रेम का भी विश्लेषण करते हैं। अपनी नियतिवादी और व्यक्तिवादी विचारधारा से परिचालित होने के कारण वे समाज-प्रचलित प्रेम की सामान्य अवधारणा से अलग अपनी धारणा बनाते हैं।

प्रेम मानव को तीव्रतम आवेग प्रदान करने वाली भावना है किन्तु इसी भावना पर समाज में सर्वाधिक अंकुश रहा है। नैतिक और धार्मिक भावनाओं से प्रेम का सघर्ष हमेशा होता रहा है। "प्रेम जहां अस्तित्व की समस्याओं को व्यक्ति के धरातल पर हल करने की कोशिश करता है वहीं धर्म और नैतिकता उसे समाज के धरातल पर सुलझाने का प्रयास करते हैं। फलतः प्रेम यहां भी अपने को धार्मिक धारणाओं, नैतिक धारणाओं के प्रतिपक्ष में पाता है। प्रत्येक युग की प्रचलित प्रेम-कथाएं उस युग की नैतिक तथा धार्मिक धारणाओं से प्रेम का द्वंद्व ही दर्शाती है।"[२] इस द्वंद्व का अनुभव भगवती बाबू ने भी किया अतः भगवती बाबू के उपन्यासों में चित्रित मनुष्य भी इसे महसूस करता दिखलाई पड़ता है।

---

१. तीन वर्ष, पृ०११३-११४

२. डॉ० विनय मोहन सिंह, आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में प्रेम की परिकल्पना, पृ० ५०

संबंधों के विविध रूप

स्त्री और पुरुष के बीच आमतौर पर तीन तरह के संबंधों की कल्पना की जाती है। पहली विचारधारा के अनुसार स्त्री और पुरुष का संबध केवल शारीरिक स्तर पर ही संभव है। शरीर की भूख ही स्त्री और पुरुष को एक-दूसरे के पास लाती है। यह विचारधारा संबंधों के स्थूल रूप को ही सत्य मानती है। दूसरी विचारधारा में शारीरिक आकर्षण को प्रेम की संज्ञा नहीं दी जाती। इसके अनुसार स्त्री और पुरुष के बीच आत्मिक सबंध ही विशुद्ध संबंध है जिसमें वासना की प्रमुखता न हो। तीसरी विचारधारा अपेक्षाकृत आधुनिक विचारधारा है जो स्त्री-पुरुष-संबंध को आर्थिक आधार पर तौलती है। साम्यवादी परिकल्पना विवाह को आत्मिक अथवा शारीरिक नही बल्कि एक आर्थिक समझौता मानती है। भगवती बाबू ने अपने उपन्यासों में न केवल इन सभी प्रकार के संबधों का चित्रण किया है बल्कि अपनी विचारधारा भी प्रस्तुत की है।

पहली विचारधारा को भगवती बाबू पूर्णतः अस्वीकृत कर देते हैं। केवल शारीरिक संबंधों को वे प्रेम के अंतर्गत नही रखते। शारीरिक तृष्णा के पीछे भागते रहने से कभी आत्म-शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती—इस बात पर वे बार-बार बल देते है। भगवती बाबू ने इस मनोवैज्ञानिक सत्य को भी स्वीकार किया है कि शारीरिक तृष्णा के शान्त होते ही इस तरह का आकर्षण तीव्रता से घृणा में बदल जाता है। विशेषकर नारी अविजित पुरुष के प्रति ही अधिक आकर्षित होती है। कुमारगिरि से शारीरिक सम्पर्क होते ही चित्रलेखा का सारा आकर्षण उसके प्रति समाप्त हो जाता है। सोमेश्वर और यशवंत सिंह से शारीरिक संबंध स्थापित करने के बाद रेखा का उनके प्रति आकर्षण शेष हो जाता है। इन दोनों ही उदाहरणों से स्पष्ट है कि नारी उस पुरुष की ओर अधिक आकृष्ट होती है जिसे वह जीत नहीं पाती। अपने उपन्यासों में भगवती बाबू ने शारीरिक स्तर पर ही बने स्त्री-पुरुष के संबंधों की परिणति गर्हित, अमानवीय और पतनयुक्त चित्रित की है। 'भूले-बिसरे चित्र' में संतो और गंगाप्रसाद के संबंध, 'प्रश्न और मरीचिका' में बिंदेसरी और उदयराज के संबंध, 'पतन' में सरस्वती और भवानी-शंकर के सबंध को भगवती बाबू ने मानव-जीवन की त्रुटियुक्त ट्रेजेडी के रूप में चित्रित किया है।

दूसरी विचारधारा से किसी हद तक भगवती बाबू की सहमति है। इसके विवेचन के पहले हम यहां तीसरी विचारधारा पर विचार करेंगे। आधुनिक युग में मानव के हर संबंध को आर्थिक आधार पर तोलने का प्रयास किया गया। यह प्रयास पूंजीवादी और साम्यवादी दोनों ही वर्गों ने किया। पूंजीवादी युग ने इस प्रवृत्ति को जन्म दिया कि प्रेम को वैवाहिक जीवन से न जोड़ा जाए। स्त्री-

पुरुष का विवाह जीवन की सुविधा को सामने रखकर होना चाहिए। 'तीन वर्ष' की नायिका प्रभा इस विचारधारा की उपज है। जब गरीब और साधनहीन रमेश उससे विवाह का प्रस्ताव करता है तब वह कहती है, "मैं तो विवाह को वह सस्था मानती हूं, जिसके द्वारा पुरुष स्त्री के भरण-पोषण तथा उसकी रक्षा का भार अपने ऊपर लेता है।"[१] इतना ही नही, वह विभिन्न स्तर के लोगों की विभिन्न आवश्यकताओं की दुहाई देकर विवाह को स्त्री-पुरुष के बीच होने वाले 'आर्थिक संबंध' के रूप में निरूपित करती है। लेखक इस प्रवृत्ति को वेश्यावृत्ति के समान्तर रखता है।

मार्क्सवादी विचारधारा भी अपने ढंग से विवाह को स्त्री-पुरुष के बीच होने वाले आर्थिक संबंध के ही रूप में स्वीकृत करती है। भगवती बाबू मानते हैं कि भावनाशील मानव-मन के लिए यह सिद्धांत स्वाभाविक नहीं है। 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में हिल्डा, मारीसन और उमानाथ के प्रकरण के माध्यम से लेखक अपने इस विचार को सामने रखता है। उमानाथ स्त्री और पुरुष की समता की सैद्धांतिक बात कहकर विवाह को स्त्री का रक्षा-कवच न मानकर 'आर्थिक संबंध' सिद्ध करता है। लेखक की असहमति छिप नही पाती है :

"हिल्डा इस तर्क को समझने के लिए नही तैयार थी—उमानाथ कह रहा था और वह ग्लानि के साथ यह सब सुन रही थी। उमानाथ के तर्कों का वह खण्डन नही कर सकती थी, लेकिन उसके अदर वाला समाजवादी जिसने कार्ल मार्क्स का अध्ययन किया था, जिसने लेनिनवाद को इस दुनिया का ध्रुवसत्य मान लिया था, जो पुरुषो की भांति गलत और दूषित मार्ग पर जाते हुए समाज का उद्धार करने के लिए कार्यक्षेत्र में कूद पड़ी थी, जिसने दुनिया के भोग-विलास को ठुकरा दिया था, जो सिद्धांतों के नशे में सराबोर थी, लेकिन उसके अदर वाली नारी, वह नारी जो पुरुष का अवलब चाहती है, जो उससे रक्षा चाहती है, जो पुरुष की छाया में रहकर उसकी गुलामी चाहती है, जिसका जीवन सेवामार्ग में अर्पित है, वह नारी विवाह और प्रेम के इस विकृत रूप को सहन न कर सकी।[२]

आत्मिक प्रेम का समर्थन

जो विचारधारा प्रेम को आत्मा की वस्तु मानती है और जो स्त्री-पुरुष के संबंधों को इसी आधार पर स्वीकार करती है उससे भगवती बाबू काफी हद तक सहमत हैं। भगवती बाबू के रोमांटिक नजरिये का प्रारम्भ यहीं से हो जाता है कि वे नारी को एक विशिष्ट, कोमल और समर्पण-आकुल किस्म का प्राणी मानते हैं। नारी पुरुष का प्रश्रय चाहती है। यह प्रश्रय वह भावात्मक स्तर पर ही चाहती है

१. तीन वर्ष, पृ० १३८
२. टेढे-मेढ़े रास्ते, पृ० १०६-१०७

इसीलिए आत्मा के संबंधों की बात उनके उपन्यासों में बार-बार आई है। प्रेम की आदर्शवादी विचारधारा प्रेम को वासनारहित भावना के रूप में देखती है। प्लेटो ने प्रेम को जीवन का समानार्थी ही स्वीकार किया है—"प्रेम की पूर्णता ही जीवन की पूर्णता है। जीने की कला और प्रेम करने की कला अपने मूल में अविच्छिन है।" प्लेटो प्रेम को अतीन्द्रिय और अमूर्त मानकर उसे अत्यंत आदर्शवादी स्वरूप प्रदान करता है। भगवती बाबू प्रेम के अतीन्द्रिय और अमूर्त स्वरूप को तो स्वीकार करते हैं किन्तु उसे नैतिकता के सामान्य नियमों से मुक्ति प्रदान करते हैं। वे प्रेम को शरीर का गुण न मानकर आत्मा का गुण मानते हैं। चित्रलेखा उपन्यास में बीजगुप्त प्रेम के स्वरूप को इन शब्दों में चित्रीत करता है, "चित्रलेखा, तुम भूलती हो। प्रेम का संबंध आत्मा से है, प्रकृति से नहीं। जिस वस्तु का प्रकृति से संबंध है, वह वासना है, क्योंकि वासना का संबंध वाह्य से है। वासना का लक्ष्य यह शरीर है, जिसपर प्रकृति ने कृपा करके उसको सुन्दर बनाया है। प्रेम आत्मा से होता है, शरीर से नहीं। परिवर्तन प्रकृति का नियम है, आत्मा का नहीं। आत्मा का संबंध अमर है।"[1]

भगवती बाबू, प्रेम को ईश्वरीय वस्तु के रूप में स्वीकार करते हैं इसीलिए मानते हैं कि प्रेम कभी नष्ट नही होता—"उन्माद अस्थायी होता है और ज्ञान स्थायी। कुछ क्षणों के लिए ज्ञान लोप हो सकता है, पर वह मिटता नहीं। अब पागलपन का प्रहार होता है, ज्ञान लोप होता हुआ विदित होता है पर उन्माद बीत जाने के बाद ही ज्ञान स्पष्ट हो जाता है। यदि ज्ञान अमर नहीं है, तो प्रेम भी अमर नहीं है, पर मेरे मत में ज्ञान अमर है—ईश्वर का एक अंश है और साथ ही प्रेम भी।"[2]—चित्रलेखा उपन्यास में चित्रलेखा प्रारम्भ में प्रेम को अमर नहीं मानती किन्तु भगवती बाबू ने उपन्यास के अंत में उसे प्रेम को ही सर्वस्व स्वीकार करते हुए चित्रित किया है। वह सम्पूर्ण भौतिक आकर्षण को छोड़कर, आत्मिक प्रेम के महत्त्व को स्वीकार करते हुए बीजगुप्त के साथ भिखारिणी बन-कर निकल पड़ती है। बीजगुप्त स्वयं भी अपनी आदर्शवादी विचारधारा से प्रेरित होकर यशोधरा से विवाह नहीं करता। जब यशोधरा के प्रति उसका आकर्षण बढ़ता है तब वह स्वयं अपने से प्रश्न करता है, "क्या वास्तव में प्रेम अस्थायी है ?" यह विचार ही उसे हिला देता है और वह अपनी सम्पत्ति श्वेतांक को दान कर देता है और यशोधरा के साथ उसका विवाह करवा देता है।

प्रेम के प्रति यह रोमांटिक नजरिया भगवती बाबू के उपन्यासों में आरम्भ से अंत तक प्राप्त होता है। 'तीन वर्ष' में वे आर्थिक और शारीरिक संबंधों के महत्त्व को अस्वीकार करके प्रेम के इसी आदर्श स्वरूप को स्वीकारते दृष्टिगोचर

१. चित्रलेखा, पृ० ६६
२. वही, पृ० ६७

होते हैं। रमेश की दृष्टि मे प्रेम 'ईश्वरीय' है और मनुष्य-जीवन की केन्द्रीय विधा है—"अजित, प्रेम ईश्वरीय है। दो आत्माओं का बंधन है। प्रेम मे ही ससार स्थित है—प्रेम अनादि है, प्रेम अनंत है। प्रेम ही मनुष्य का प्राण है।"[1] जब उसकी विचारधारा को ठेस पहुंचती है तब वह संसार के प्रति अत्यंत उग्र हो उठता है किन्तु सरोज के आत्म-बलिदान से उसे फिर विश्वास हो जाता है कि प्रेम वास्तव में आत्मा का मधुर बधन है। पतन से लेकर प्रश्न और मरीचिका तक भगवती बाबू ने ऐसे कई प्रकरणों का सृजन किया है जिनके माध्यम से वे अपनी इस रोमांटिक विचारधारा को व्यक्त करते रहे हैं कि शरीर का पारस्परिक संबंध जीवन में कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता।

'पतन' उपन्यास में दिखलाई पड़ता है कि गुलनार के शरीर पर अधिकार किसीका हो पर वह मन से रणवीर की रहती है। सीधी-सच्ची बातें में कुलसुम और जगत का प्रेम भी इसी तरह आत्मिक स्तर पर चलता है। कुलसुम को लेखक की अधिकाधिक सहानुभूति मिली है। उसकी विचारधारा से लेखक की सहमति भी झलकती है। कुलसुम जगत् को चाहती है और बिना किसी दुविधा के परवेज से विवाह करती है। वह जगत् से अपने को आलिंगनबद्ध करने का आग्रह करती है, उसका चुम्बन करती है किन्तु भावनात्मक स्तर पर ही जगत् के प्रति समर्पित रहने की बात करती है :

"तुम अपने को मुझमें खो मत दो। मैं तुम्हारी कमजोरी नही बनना चाहती मैं तुम्हारी ताकत के रूप में रहना चाहती हूं। मेरे लिए इतना काफी है कि तुम मुझे अपना समझो, इससे ज्यादा कुछ नहीं। मैं तुम्हें अपना समझती हूं, हमेशा-हमेशा, जब तक मैं जिन्दा हूं मैं तुम्हें अपना समझती रहूंगी। मेरे जगत, मैं हमेशा तुम्हारे साथ हूं, शरीर से नहीं, भावना से।[2]

परवेज की पत्नी बनने के बाद भी वह 'मेरे जगत' के सपनों में डूबी दिखलाई पड़ती है, "मेरे जगत, तुम बढ़ो, जीवन में तुम महान बनो। तुम्हारी महानता और विकास में मेरे सपनों की पूर्ति है। किसी तरह की बाधा···किसी तरह का अभाव नही होना चाहिए तुम्हें, कुलसुम तुम्हारी है, कुलसुम का जो कुछ है वह तुम्हारा है।"[3]

प्रेम और नैतिकता

प्रेम और नैतिकता के संबंध को भगवती बाबू परम्परावादी ढंग से न देख-

---

१. तीन वर्ष, पृ० ५४

२. सीधी-सच्ची बातें, पृ० ४०७

३. वही, पृष्ठ ४०७

कर अपने विशिष्ट भावुकता-भरे आदर्शवादी ढग से देखते हैं। हृदय के बधनों को वे इतना पवित्र मानते है कि हृदय के सबध हो जाने के बाद स्थापित होने वाले शारीरिक सबंधो को वे अपवित्र नही मानते। वास्तव में भगवती बाबू के उपन्यासों मे शारीरिक सबधों के प्रति जो उदारवादी विचारधारा है वह उनके रोमांटिक दृष्टिकोण का ही अश है। 'भूले-बिसरे चित्र' में विधवा जैदेई का ज्वालाप्रसाद से शारीरिक संबंध स्थापित होता है। भगवती बाबू इस शारीरिक संबध को उनके आत्मिक संबंध का प्रतिबिंब मानते है। जैदेई और ज्वालाप्रसाद के मन में अपने संबध के प्रति कभी अपराध-बोध नहीं उत्पन्न होता। मृत्युशय्या पर पडी जैदेई ज्वालाप्रसाद से पूछती है, "क्या मैने तुमसे प्यार करके कोई पाप किया है देवर जी ?" फिर वह स्वयं उत्तर देती है, "भगवान की यही इच्छा थी देवरजी, जानती हूं, और उन्ही भगवान ने तुम्हारे रूप मे एक देवता भेजकर मेरा थोड़ा-बहुत ताप हरा भी। देवरजी, उसी भगवान की साक्षी देकर मै कहती हूं कि मैंने कोई पाप नही किया,।"[1] 'चित्रलेखा' उपन्यास के अत मे जब चित्रलेखा अपने शरीर को 'अपवित्र' घोषित कर बीजगुप्त से क्षमा-याचना करती है तब बीजगुप्त उसे अपवित्र नही मानता और कहता है, "प्रेम स्वयं में एक त्याग है, विस्मृति है, तन्मयता है। प्रेम के प्रागण में कोई अपराध ही नहीं होता, फिर क्षमा कैसी।"[2]

'वह फिर नही आई' की नायिका श्यामला जीवनराम के प्रति अपने सम्पूर्ण हृदय से समर्पित है। वह ज्ञानचंद से शारीरिक सम्पर्क स्थापित करती है फिर भी वह अपनी आत्मा से जीवन राम की ही बनी रहने का दावा करती है। पहली भेंट में ही श्यामला ज्ञानचंद के कमरे में घुसकर उसके साथ रात बिताती है किन्तु वह जीवन राम के प्रति वफादार होने का दम अत तक भरती है। स्वयं लेखक भी उसे इस रूप में चित्रित करता है कि उसके कृत्य पाठक को अनैतिक न लगें। जब वह वेश्यावृत्ति स्वीकार कर लेती है तब भी वह अपनी आत्मा को जीवन राम के प्रति ही समर्पित बतलाती है।

प्रेम के प्रति इस तरह का स्वच्छंदतावादी दृष्टिकोण परम्पराओं की कठोरता को कभी स्वीकार नहीं करता। भगवती बाबू के उपन्यासों मे शारीरिक संबंधों के प्रति जो स्वच्छंदता दिखलाई पडती है वह वास्तव में परम्परा के प्रति विद्रोह है। 'आखिरी दांव' से चमेली और रामेश्वर का सबध भी परम्पराओं से हटकर किन्तु भगवती बाबू उसे अत्यंत सहज ढंग से चित्रित करते है। 'रेखा' उपन्यास में सपनों में डूबी हुई ज्ञानवती के जीवन में भी इसी तरह का कल्पना-प्रधान, आदर्शवादी प्रेम दिखलाई पड़ता है। वह अपने मृत प्रेमी के फोटो पर फूल चढ़ाती है

१. भूले-बिसरे चित्र, पृ० ३०३

२. चित्रलेखा, पृ० १७५

किन्तु अंत में एक नपुंसक से विवाह कर लेती है। वासना का प्रेम के क्षेत्र से बिलकुल निकालकर वह आदर्श की अति का चित्र प्रस्तुत करती है। रेखा के माध्यम से लेखक ज्ञानवती की गलती की ओर इंगित अवश्य करता है किन्तु वह स्पष्ट रूप से उसका विरोध भी नही करता। वह शारीरिक संबंधों की आवश्यकता की सचाई पर बल भी देता है किन्तु नायिका रेखा बार-बार प्रेम को केवल आत्माओं का संबंध घोषित करती हुई दिखलाई पड़ती है। योगेन्द्रनाथ से रेखा कहती है, "नही डाक्टर, आपके प्रति मेरे अंदर किसी प्रकार की भावना नहीं होनी चाहिए—यह भावना का तो आत्मा गुण है। आपके प्रति मेरे अंदर किसी भावना का जानना प्रोफेसर के प्रति विश्वासघात होगा।"[१] रेखा को प्रेम का स्वरूप बतलाते हुए योगेन्द्रनाथ कहता है, "प्रेम आत्मा और शरीर इन दोनों के समान भाव से एक-दूसरे में लय की प्रक्रिया का नाम है। ऐसा नहीं कि तुम जानती न हो—ज्ञानवती को विवाह से रोकने के समय यह सत्य तुम्हारे सामने था, लेकिन अपने मामले में तुम स्वयं अपने को धोखा दे रही हो।"[२]—रेखा की सम्पूर्ण कहानी के माध्यम से लेखक प्रेम के स्थूल और यथार्थवादी पक्ष को सामने रखने का प्रयास जरूर करता है किन्तु पूरे उपन्यास पर छाए हुए 'रोमांटिक पैथास' के कारण वह संभव नही हो सका। यही रोमांटिक पैथास 'सीधी-सच्ची बातें' को आप्लावित कर लेता है और जगत तथा कुलसुम जैसे अति आदर्शवादी और वेदना के स्वप्निल संसार में डूबे रहने वाले पात्रों की रचना होती है।

भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास ऐसी लेखकीय—विवशता के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं जिनमें लेखक प्रेम और नैतिकता के संबंध में नई सुधारवादी तथा प्रगतिशील विचारधारा प्रस्तुत तो करना चाहता है पर वह अपने विशिष्ट आदर्शवाद में उलझकर अंततोगत्वा नया कुछ नही कह पाता। इसके पीछे तत्कालीन प्रवृत्ति का भी हाथ है। "इस सन्दर्भ में यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि हिन्दी मे स्वच्छंदतावादी आंदोलन और सुधारवादी नवोत्थान—दोनों प्रायः समानान्तर ही विकसित हुए और औपन्यासिक प्रेम-धारणाओं को इनके मिश्रण ने दूर तक प्रभावित किया।"[३]

वस्तुतः उक्त कथन बिलकुल सत्य है। भगवती बाबू के उपन्यास—विशेषकर 'चित्रलेखा' और 'रेखा' इसके सुन्दर उदाहरण हैं। लेखक यह समझता है कि वह कुछ नया दे रहा है पर वास्तव में वह नया दे नहीं पाता, बल्कि लेखक की नियतिवादी चेतना मानव के प्रेम-व्यापार को आलौकिक और रहस्यमय बना

१. रेखा, पृ० २७२
२. वही, पृ० २७३
३. डॉ० विजय मोहन सिंह : आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में प्रेम की परिकल्पना, पृ० १८७

देती है। यदि हम ऊपरी पालिश की तरह विद्यमान कुछ प्रगतिशील और विद्रोही किस्म के विचारों को भेद सकें तो पाएंगे कि भगवती बाबू के उपन्यासों में, विशेषकर 'चित्रलेखा' में, परम्परागत प्रेम-धारणा को ही विकसित किया गया है। प्रेम का मानवीय रूप, उसका आत्मा से संबंध, स्त्री का पुरुष के आश्रय के लिए केवल इच्छुक नहीं बल्कि मोहताज होना—ये सारी बाते नई नही है। केवल इन्हें प्रस्तुत करने का एक रोमांटिक तरीका भगवती बाबू ने अपनाया है। जैसे भगवती बाबू ने प्रेम की धारणा का प्रामाणिक साक्षात्कार प्रस्तुत करने का प्रयास किया है किन्तु भावुकतावाद और सुधारवाद के बीच अवरुद्ध होकर वह धारणा अपनी स्पष्टता खो देती है।

पाप-पुण्य की समस्या

भगवती बाबू नियतिवादी हैं अतः अदृश्य की शक्ति पर वे विश्वास करते हैं। किन्तु भगवती बाबू की विशेषता यह है कि कर्म-फल, स्वर्ग-नरक आदि परम्परागत बातों में उनका विश्वास नही है। आत्मा-परमात्मा के चिंतन को ही उन्होंने मानव-जीवन का एकमात्र विषय नहीं माना है। मनुष्य के जन्मजात गुणों और परिस्थितियों के सामने उसकी विवशता को वे स्वीकार करते हैं अतः पाप-पुण्य की समस्या उनके लिए कोई बहुत गंभीर समस्या नहीं है। उनकी दृष्टि में मनुष्य न तो देवत्व का उत्तराधिकारी है और न ही धार्मिक आचार्यों द्वारा चित्रित दुख भोगने वाले पापी प्राणी की तरह हैं। वे मनुष्य को उसके सहज अस्तित्व में ही स्वीकार करते हैं—यह मानते हुए कि मनुष्य में गुण और दुर्गुण दोनों ही स्वाभाविक है। मनुष्य का गिरना और उठना अत्यंत स्वाभाविक है—"मनुष्य ही गलती करता है और मनुष्य ही गिरता है।"[1]

परिभाषाओं से असहमति

भगवती बाबू का विचार है कि पाप और पुण्य की कोई शाश्वत परिभाषा संभव नहीं है। वह कभी तो दृष्टिकोण की विषमता है और कभी समाज संचालन की सुविधा के लिए गढ़ा गया सामाजिक दृष्टिकोण है। कर्म अपने-आपमें अच्छा-बुरा नहीं है और न ही उसका संबंध मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति एवं अवनति से है। 'चित्रलेखा' उपन्यास के माध्यम से उन्होंने अपनी यह विचारधारा काफी स्पष्ट रूप से सामने रखी है। अन्य उपन्यासों में भी उनके यह विचार प्राप्त होता है। वे यह अवश्य मानते हैं कि कर्म देश और काल के अनुसार तथा सामाजिक उपयोगिता-अनुपयोगिता के आधार पर सही और गलत हो सकते हैं। मनुष्य को

---

१. तीन वर्ष, पृ० १२६

वे मूलतः भावना से परिचालित होने वाला प्राणी मानते हैं अतः भावना के आवेग में वह कोई भी कार्य कर सकता है। साथ ही उसपर परिस्थितियों का दबाव भी रहता है। ऐसी स्थिति में उसे 'पापी' जैसी संज्ञा से अभिहित किया जाना उचित नही है।

भगवती बाबू मानते हैं कि मनुष्य को पाप-पुण्य की तुला पर तोलना कठिन ही नहीं असंभव है। आचारसंहिता के निर्देशों के आधार पर कभी-कभी मनुष्य को पापी अथवा पुण्यात्मा कहना सभव नहीं होता क्योंकि उसके कार्य समाज के लाभ-हानि से भी जुड़े हुए है। कभी-कभी समाज के लाभ के लिए किया गया कर्म नीति के सामान्य नियमों के विपरीत हो सकता है। 'पतन' उपन्यास में हत्यारे रणवीर के विषय में वे लिखते है :

"उसका जीवन घटनाओं का एक संग्रह था। उसने अपने जानते हुए कोई पाप नहीं किया था। उसने वह किया, जिसे उसने ठीक समझा। वह अपनी अंतरात्मा के अलावा अपनी तर्कना शक्ति का भी अनुयायी था। वह भयानक था, पर उसकी भयानकता मे सहृदयता का मिश्रण था। संसार की दृष्टि में वह पापी था, पर उस पापी मनुष्य की दृष्टि में वह धर्मात्मा था। उस पापी मनुष्य के कुछ थोड़े-से सिद्धांत थे। समाज की दृष्टि में वह हत्यारा था, पर अपनी समझ में उसने संसार का बड़ा भला किया था।"[१]

समस्या का सामाजिक संदर्भ

यह बात विचारणीय है कि कर्मो को पाप-पुण्य की सीमारेखा के बाहर की वस्तु सिद्ध करने के पीछे केवल लेखक की व्यक्तिवादी विचारधारा नही है बल्कि उसका यह विचार भी है कि समाज की सामयिक आवश्यकताएं चिंतन को बदल देती हैं। जब नीति के सिद्धांत कुछ स्पष्ट निर्देश नहीं दे पाते तब अंतरात्मा की पुकार को ही निर्णय का आधार बनाने की बात प्राचीन काल से स्वीकार की गई है। कालिदास ने लिखा है :

"सता हि सन्देह-परेषु वस्तुषु,
प्रमाणमन्तःकरण-प्रवृत्तयः ॥"[२]

भारत का प्राचीन चिंतन इस विचार की पुष्टि करता रहा है। इस विचार के पीछे यह धारणा रही है कि अंतरात्मा कोई दैवी प्रेरणा है और किसी न किसी रूप में ईश्वर से जुड़ी हुई है। अंतरात्मा को ईश्वर-निर्मित मानने के कारण उसकी पुकार पर किए जाने वाले कार्य को उचित मानने की प्रवृत्ति भी भारतीय समाज में प्रचलित रही है। भगवती बाबू अंतरात्मा को ईश्वर-निर्मित नहीं

१. पतन, पृष्ठ ५५
२. कालिदास, आभिज्ञान-शाकुन्तल, प्रथम अंक

मानते। 'चित्रलेखा' में वे लिखते हैं :

"अंतरात्मा ईश्वर द्वारा निर्मित नहीं है वरन् समाज द्वारा निर्मित है। यदि वास्तव में वह ईश्वर-प्रदत्त होती, तो भिन्न-भिन्न समाज के व्यक्तियों की अंतरात्माएं भिन्न-भिन्न न होतीं। ईश्वर एक है, यदि वास्तव में उसने धर्म के नियम बनाए हैं तो प्रत्येक व्यक्ति पर एक ही नियम लागू होता। पर बात ऐसी नही है। एक समाज के व्यक्ति की अंतरात्मा प्रायः दूसरे समाज के व्यक्ति की अंतरात्मा के अनुसार नहीं होती। मनुष्य की अंतरात्मा केवल उसी बात को अनुचित समझती है, जिसको समाज अनुचित समझता है, इसीलिए यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि अंतरात्मा समाज द्वारा निर्मित है। मनुष्य के हृदय में समाज के नियमों के प्रति अंधविश्वास और पूर्ण श्रद्धा को ही अंतरात्मा कहते है। समाज से पृथक् उसका कोई अस्तित्व ही नही है।"[1]

इस तरह अंतरात्मा के दैवी होने को वह अस्वीकार कर देते हैं और उसे केवल सस्कार मानते हैं। ये संस्कार हमारे समाज के नियम और प्राप्त होने वाली शिक्षा से निर्मित होते हैं। समय के साथ समाज की विचारधारा भी बदल जाती है और शिक्षा की पद्धति भी। भगवती बाबू मनुष्य के कर्मों को किसी भी ईश्वरीय शक्ति से नहीं जोड़ते और न ही बंधे-बधाए नियमों से उसका मूल्यांकन करते हैं। यही कारण है कि उन्होंने अपने उपन्यासों में चित्रित मनुष्य के कर्मों को पाप-पुण्य की संकुचित सीमा में नहीं रखा है। उनकी पाप-पुण्य की व्याख्या उनके सामाजिक दृष्टिकोण को भी सामने रखती है और मानव के प्रति उनकी व्यापक सहानुभूति को भी। मानव समाज में अच्छाई-बुराई आदिकाल से विद्यमान रही है और अनंत काल तक रहेगी। धर्म के नियमों और समाज के प्रचलित कानूनों से बुराई नष्ट नहीं हो सकती। महापुरुषों के बड़े-बड़े प्रयास भी इसे नष्ट नही कर सके :

' ईसा प्रेम का संदेश लाए थे, दया और त्याग का उन्होंने उपदेश दिया। और आज वे लोग जो अपने को ईसा का अनुयायी कहते है, घृणा के उपासक हैं, क्रूरता और उत्पीड़न की सभ्यता को विकसित कर रहे हैं—सबसे बड़े हिंसावादी हैं।"[2]

ऐसी स्थिति में समस्या का समाधान क्या हो ? यह एक जटिल प्रश्न है। भगवती बाबू मानते हैं कि मानवीय कर्मो को पाप-पुण्य की विभाजक रेखा से बांट कर कुछ कर्मों का निषेध कर देने से समस्या हल नही हो सकती। ना ही दूसरों के कर्मो को देख कर कुढ़ते रहने से ही कुछ प्राप्त हो सकता है। समस्या के समाधान के लिए मनुष्य को अपनी चेतना को विकसित करना होगा :

---

१. चित्रलेखा, पृ० ३६-३७

२. टेढ़े-मेढ़े रास्ते, पृष्ठ २९७

"क्या दूसरों की बुराइयों पर प्रहार करने से बुराइयां नष्ट हो जाएंगी ? बुराइयां तभी नष्ट हो सकती है जब हमारी चेतना इतनी विकसित हो जाय कि हम बुराइयों का रूप सही ढंग से देख सकें। प्रहार के अर्थ होते हैं आक्रोश और आक्रोश में मानसिक संतुलन विचलित हो जाता है। मानसिक सतुलन कायम रहे और हम विकृतियों का सही रूप देख लें तथा हममें उन विकृतियों के प्रति वितृष्णा हो जाय—तो अधिक अच्छा हो।"[१]

---

१. पत्र नं० १

अध्याय ६

वस्तु-संगठन

साहित्य के सभी अध्येता किसी न किसी रूप में इस बात से सहमत हैं कि कहानी अथवा कथातत्त्व उपन्यास का आधार है। कहानी कहना उपन्यास का प्रधान गुण है।[1] उपन्यास की इस अनिवार्य आवश्यकता से कोई भी इंकार नहीं कर सकता। इसकी उपेक्षा न तो लेखक कर सकता है और न ही पाठक। ई० एम० फार्स्टर तीन प्रकार के पाठकों के उदाहरण द्वारा कथातत्त्व की महत्ता स्वीकार करते हैं।[2] किसी बस ड्राइवर से यदि उपन्यास के विषय मे चर्चा की जाए कि वह उपन्यास क्यों पढ़ता है तो वह सीधे-सीधे यह कहेगा कि एक मनोरंजक कथा की तलाश में वह उपन्यास पढ़ता है। गोल्फ के मैदान मे यदि किसी सभ्य व्यक्ति से उपन्यास के विषय मे पूछा जाए तो वह उपन्यास की कलात्मकता को स्वीकार करने के बाद भी अपने को कथातत्त्व से बंधा हुआ बतलाएगा। साहित्य के सिद्धातो का गंभीर अध्ययन करने वाले आलोचक से यदि इस विषय पर चर्चा हो तो वह भी, दबी जबान से ही सही, कथातत्त्व के महत्त्व को स्वीकृति देगा। कहने का तात्पर्य यह है कि उपन्यास का कथ्य कहानी के माध्यम से ही सामने आता है।

कथा और कथावस्तु

प्रायः यह देखा जाता है कि कहानी और कथावस्तु को एक ही समझने की

1. We Shall all agree that the fundamental aspect of the Novel is its story · telling aspect.—Aspects of the Novel :
—E. M. Forster. Page 27
2. Aspects of the Novel : E. N. Forster, Page 27

भूल की जाती है किन्तु कहानी और कथावस्तु में पर्याप्त अंतर है। "कहानी कथावस्तु अथवा प्लाट (plot) का आधार अवश्य प्रस्तुत करती है, पर कथा-वस्तु, कहानी की अपेक्षा एक उच्च स्तरीय साहित्यिक सगठन है। उपन्यासों के माध्यम से कही जाने वाली कहानी, अन्य कहानियों की भाति सीधे-सादे ढंग से लेखक द्वारा ही नही कह दी जाती बल्कि उपन्यासकार को उसकी समुचित व्यवस्था करनी पड़ती है। उसका क्रम निर्धारण करना पड़ता है तथा आए हुए अन्य प्रसंगों के साथ उसकी संगति बैठानी पड़ती है।"[1] वास्तव मे कथावस्तु का निर्माण लेखक कहानी की सहायता से करता है। इन दोनो के सूक्ष्म अंतर को समझना भले ही कठिन हो पर यह सत्य है कि जिस तरह कुम्हार गीली मिट्टी के लौंदे को अपनी कला से सुन्दर वस्तुओं में बदल देता है उसी तरह उपन्यासकार कथा को कांट-छाट कर तथा सजा-सवारकर कथावस्तु में परिणत कर देता है। जहां तक पाठकीय सवेदना का प्रश्न है—कहानी सुनने के लिए पाठक में उत्सु-कता की सर्वाधिक आवश्यकता होती है किन्तु उपन्यास की कथावस्तु को समझने के लिए पाठक के बुद्धितत्त्व और स्मृतितत्त्व दोनों को ही सजग होना चाहिए। निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते है कि कथावस्तु कोरी कथा नहीं है। यदि कथा में लेखकीय कौशल और विचारधारा न हो तो वह गप्प भले ही बन जाए, उप-न्यास नहीं बन सकेगी।

कथावस्तु और कहानी में तकनीकी अंतर के बावजूद उपन्यास में दोनों एक-दूसरे की बांह थामकर ही बढती हैं। कथावस्तु का मनोरजक होना एक आव-श्यक शर्त है।[2] कथावस्तु के साथ-साथ कहानी कहने का भी सशक्त और मनोरंजक ढग आवश्यक है—इस तथ्य को अधिकांश आलोचक मुक्तकंठ से स्वीकार करते हैं।[3] रामअवध द्विवेदी के शब्दों में, "उपन्यास की धारणा में लेखक के अभिप्राय और प्रयोजन का भी हाथ रहता है। यदि उपन्यास रुचिकर नही है तो गूढ़ विचारों के रहते हुए भी वह लोकप्रिय एवं सफल न बन सकेगा। साहित्य होने के कारण रुचि-सम्पन्न पाठकों के मन पर उसका प्रभाव पडना आवश्यक है, अन्यथा

१. डॉ० त्रिभुवन सिंह, हिन्दी उपन्यास : शिल्प और प्रयोग, पृष्ठ ३३७

2. A good novel should have a widely interesting theme by which I mean a theme interesting not only to a class whether critics, professors, high-brows, bus-conductors or bar-tenders, but so broadly human that it appeals to men and women in general; and the theme should be enduring interest. The Novels and the Authors, Somerset Maugham.

3. The novelist as novelist is concerned chiefly to provide as much entertainment as possible, and is pledged to every device for procuring veriety, surprise and sentimental gratification to the reader.
—The Twentieth Century Novel

—Joseph Warren Beach. Page 124.

वह अपने अपेक्षित धर्म से च्युत माना जाएगा।"[१]

आधुनिक कथा साहित्य (कहानी एवं उपन्यास) में धीरे-धीरे कथातत्त्व का संकोच हो रहा है। आधुनिक प्रवृत्ति सर्वेक्षण, विश्लेषण और वर्णन की है। आज के कथा साहित्य में कथानक से अधिक मानसिक जगत का अथवा बाह्य जगत का चित्रण महत्त्वपूर्ण हो गया है। यदि हम प्रारम्भिक और आधुनिक उपन्यासों की तुलना करें तो यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है। यह कहा जा सकता है कि आज का युग कथातत्त्व के विघटन का युग है किन्तु इसके बाद भी कथा का महत्त्व समाप्त नहीं हुआ है और आज भी वह उपन्यास का आवश्यक तत्त्व है।

भगवती बाबू की क्षमता

जहां तक उपन्यास में मनोरंजन-तत्त्व का प्रश्न है भगवती बाबू हिन्दी के सर्वाधिक सफल उपन्यासकारों में से एक हैं। भगवती बाबू मे कहानी सुनाने की अनोखी क्षमता है। उनके उपन्यास यह आभास देते हैं जैसे कोई सामने बैठ कर किस्सा सुना रहा हो। उनके उपन्यासों में जिज्ञासा पैदा करने की अद्‌भुत क्षमता है। "वर्माजी मूलतः पुराने किस्सागो शैली के कथा-लेखक है। उन्हें कहानी गढने और सुनाने में मजा आता है, और जिस रस के साथ वह अपनी छोटी से छोटी बात को कह सकते हैं वह सचमुच बहुत लोभनीय है। यह भी सच है कि हिन्दी के बहुत ही कम उपन्यासकारों मे यह क्षमता दिखलाई पड़ती है।"[२] उनका किस्सागो का लहजा उन्हें कहीं-कहीं अत्यंत सफल उपन्यास-लेखक सिद्ध करता है और कही-कहीं वही लहजा उनकी असफलता का कारण बन जाता है। उनके लहजे ने उनके उपन्यासों में वह आकर्षण भरा जो पाठक को बड़ी तीव्रता से अपनी ओर खींचता है पर यही लहजा उन्हें यह उत्तेजना भी प्रदान करता है कि वे कभी-कभी कथ्य को भूलकर अपनी कथा के रस में फंस जाएं। ऐसे समय किसी सार्थक प्रसंग को भूलकर यदि वे असार्थक के प्रसंग के विस्तार में डूबे दिखलाई दें तो आश्चर्य नही। उनके उपन्यासो में ऐसे कई स्थल आते हैं। 'टेढे-मेढ़े रास्ते' में मारीसन और बिल्ली की कहानी अथवा 'भूले-बिसरे चित्र' में पहलवानों के दगल की कहानी इसके प्रमाण हैं।

भगवती बाबू के उपन्यास पाठक को भरपूर आनद देने में समर्थ हैं। 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' जैसा राजनैतिक वाद-विवादों से भरा हुआ उपन्यास तथा 'सामर्थ्य और सीमा' जैसा दार्शनिक विचारों से युक्त उपन्यास सामान्य पाठक के लिए भी न केवल ग्राह्य है बल्कि उसे बांधकर रखने में भी सफल है। इस कसौटी पर उनके केवल दो उपन्यास—'थके पांव' और 'सीधी-सच्ची बातें' भर खरे नही उतरते।

---

१. आलोचना, उपन्यास अक, पृष्ठ ३३

२. नेमिचद्र जैन, अधूरे साक्षात्कार, पृष्ठ ८६

उनकी किस्सागोई की क्षमता पाठक की उत्सुकता को लगातार जगाए रखती है और वह 'आगे क्या होगा' की स्थिति में बना रहता है।

कथावस्तु को कहानी के साथ दूध और पानी की तरह मिला देने की अद्‌भुत क्षमता भगवती बाबू में है। हिन्दी उपन्यास साहित्य में लम्बे समय तक यह दोष विद्यमान रहा है कि लेखक जो कुछ कहना चाहता है उसे वह कहानी बनाकर कहने मे कठिनाई का अनुभव करता रहा है। प्रेमचंद-पूर्व का लेखक स्वयं सामने होकर 'प्रिय पाठकों' को संबोधित करने लगता था। कुछ महत्त्वपूर्ण कहने के लिए मात्र कथा पर निर्भर रहने में वह असमर्थ था। स्वयं प्रेमचंद के उपन्यासों में कही-कही यह बात दिखलाई पड़ती है कि लेखक अपनी बात को कहानी में पूरी तरह मिलाकर एक कर देने का प्रयास कर रहा है किन्तु वह सफल नही हो पा रहा है। यह प्रयास पिलाने के पहले दवाई को खूब जमकर हिलाने की तरह मालूम होता है। सामान्यत: अपनी बात कहने के लिए लेखक कुछ आदर्श पात्रों की रचना करता है और उनके संवादों के माध्यम से अभिप्राय को व्यक्त करता है। लेखक की सफलता इस बात पर निर्भर है कि वह यह सारा कार्य इस तरह करे कि कथानक का प्रवाह भंग न हो और सब कुछ उसी में समाहित होता चला जाए। प्रेमचद ने 'गोदान' उपन्यास मे शहरी पात्रों के माध्यम से काफी कुछ कहना चाहा है पर वे सारे शहरी पात्र और उनका जीवन-दर्शन कथा के मुख्य प्रवाह से कुछ छिटका हुआ ही लगता है।

कभी-कभी ऐसे प्रसग कथाप्रवाह से छिटके हुए तो नहीं लगते पर कथाप्रवाह में अपनी स्वाभाविक स्थिति नहीं बना पाते। उन प्रसंगों के माध्यम से लेखक बड़ी-बड़ी बातें कहले यह एक अलग बात है किन्तु वे उपन्यास के प्रवाह मे 'मिस फिट'-से लगते हैं। ऐसे स्थलों पर ही कथावस्तु और कथा को संपृक्त करने के कौशल की आवश्यकता होती है। संदर्भ में एक प्रेमचंदोत्तर उपन्यास की चर्चा अप्रासंगिक न होगी। 'बूद और समुद्र' अमृतलाल नागर की प्रतिनिधि कृति है और हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों में से एक है। किन्तु इस उपन्यास में भी लेखक समस्याओं के समाधान के रूप में जो कुछ वजनदार कहना चाहता है वह कथा-प्रवाह पर उतराता हुआ-सा दिखलाई पड़ता है, उसमें घुला हुआ नहीं मालूम होता। जहां लेखक के आदर्श पात्र और पात्रों का गंभीर जीवन-दर्शन सामने आता है वही उपन्यास की गति शिथिल लगने लगती है और उसमें रोचकता का अभाव हो जाता है। यही उपन्यास का रूप-बंध शिथिल हो जाता है।

इस कला में हिन्दी उपन्यास साहित्य में भगवती बाबू और फणीश्वर नाथ 'रेणु' अत्यधिक सफल कथाकार माने जा सकते हैं। भगवती बाबू का किस्सागोई का लहजा इतना पूर्ण है कि उसकी एकतानता कहीं भी नष्ट नहीं होती। "चित्रलेखा' इसका अत्यंत समर्थ प्रमाण है। इस उपन्यास में कथा और वस्तु

मिलकर एक हो गई हैं। उपन्यास के प्रारम्भ से ही भगवती बाबू का किस्सागो-स्वरूप उभरता है। किसी पौराणिक आख्यान की तरह इस उपन्यास का प्रारम्भ जिज्ञासा से होता है :

श्वेतांक ने पूछा—"और पाप।"

महाप्रभु रत्नाम्बर मानो एक गहरी निद्रा से चौक उठे। उन्होंने श्वेतांक की ओर एक बार बड़े ध्यान से देखा—"पाप ? बड़ा कठिन प्रश्न है वत्स। पर साथ ही बड़ा स्वाभाविक। तुम पूछते हो—पाप क्या है !" इसके बाद रत्नाम्बर ने कुछ देर तक कोलाहल से भरे पाटलिपुत्र की ओर, जिसके गगन-चुम्बन करने का दम भरने वाले ऊंचे-ऊंचे प्रासाद अरुणिमा के धुंधले प्रकाश में अब भी दिखलाई दे रहे थे, देखा—"हां, पाप की परिभाषा करने की मैंने भी कई बार चेष्टा की है, पर सदा असफल रहा हूं। पाप क्या है, और उसका निवास कहां है, यह एक बड़ी कठिन समस्या है, जिसको आज तक नहीं सुलझा सका हूं। अविकल परिश्रम करने के बाद, अनुभव के सागर में उतराने के बाद भी जिस समस्या को नही हल कर सका हूं, उसे किस प्रकार तुम्हें समझा दू ?"

—उपन्यास का प्रारम्भ पाठक को जिस तीव्रता से अपनी ओर खींचता है वह तीव्रता उपन्यास के अंत तक कायम रहती है। कथानक मे उत्पन्न होने वाली विभिन्न परिस्थितियां और उतार-चढाव ही कथावस्तु को स्पष्ट से स्पष्टतर करते चले जाते हैं। इसमें सदेह नहीं कि 'चित्रलेखा' हिन्दी उपन्यास साहित्य में वस्तु संगठन का एक श्रेष्ठ उदाहरण प्रस्तुत करता है।

किस्सागोई का लहजा

अपनी ओर से कुछ न कहकर कहानी के माध्यम से कथ्य को तीक्ष्णता प्रदान करने की कला में भगवती बाबू हमेशा सफल रहे हैं। 'तीन वर्ष,' 'चित्र-लेखा,' 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते,' 'भूले-बिसरे चित्र,' 'सामर्थ्य और सीमा,' 'अपने खिलौने,' 'सबहिं नचावत राम गुसाईं' उपन्यासों में उन्होंने इस कला का प्रदर्शन किया है। 'सबहिं नचावत राम गुसाईं' में कहानी कहने का एक अद्भुत उदाहरण सामने आया है। तीन कहानियों में आए पात्रों की पीढ़ियों की कहानी लेखक कहता है जो अत्यंत रोचक और कथ्य के संदर्भ में अत्यंत सार्थक हैं। पूरे उपन्यास की सह-जता देखते ही बनती है। समकालीन उपन्यास साहित्य में जो कुछ विश्लेषण और वर्णन के माध्यम से कहा जा रहा है उसे लेखक ने इस उपन्यास में 'कथा' के माध्यम से कहा है। निश्चय ही यह ढंग अपेक्षाकृत रोचक है। रोचक किस्से गढ़ना भगवती बाबू के लेखन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पहलू है। अपने इस उपन्यास के अंत में वे अपने को स्पष्ट रूप से किस्सागो स्वीकार करते भी हैं—"यह चरित्र ही नहीं, यह दुनिया रामगोसाई के इंगित पर नाच रही है, यानी मैंने भी राम-

गोसाई के इगित पर नाचते हुए यह कहानी लिख डाली है।''

'प्रश्न और मरीचिका' का प्रमुख पात्र उदय एक स्थान पर कहता है :—
''मैं पहले ही निवेदन कर चुका हूं कि मैं इतिहास नहीं लिख रहा, मै तो मात्र कहानी लिख रहा हूं।—यह मेरे जीवन की कहानी इतनी नही है जितनी उन लोगों की जो मेरे इर्द-गिर्द है या थे, जो मेरे जीवन में घनिष्ठ रूप से आए और जिन्होने मेरे जीवन को प्रभावित किया। और इसीलिए मै कह सकता हूं कि यह मानव-जीवन के उतार चढ़ाव की कहानी है।''[1] भगवती बाबू के पात्र का कथन वस्तुत: भगवती बाबू का कथन स्वीकार किया जा सकता है। उन्होंने मनुष्य और मनुष्य के इतिहास पर जो कुछ भी कहना चाहा है उसे कहानी बनाकर ही प्रस्तुत किया है और इसमें संदेह नहीं कि इसमे उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई है। 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते,' 'भूले-बिसरे चित्र,' 'सीधी-सच्ची बातें' और 'प्रश्न और मरीचिका' वस्तुतः आधुनिक भारत के इतिहास को प्रस्तुत करने वाले उपन्यास है किन्तु भगवती बाबू इस इतिहास की व्याख्या सफल कथाओं के माध्यम से करते है। 'सामर्थ्य और सीमा' का नियतिवादी दर्शन भी एक प्रवाहयुक्त कथानक के माध्यम से व्यक्त हुआ है। पात्रों और संवादो के माध्यम से वे अपने जीवन-दर्शन का विश्लेषण करते है। पर कथावस्तु का प्रतिफलन वे कहानी के घटना-चक्र के माध्यम से ही करते है। कथानक के उतार-चढाव स्वयं लेखक की बातों को सामने रखते है। किन्हीं आदर्श पात्रो को आरोपित करने के बदले भगवती बाबू कथानक के घटनाचक्र को ही अधिक से अधिक निचोड़ने मे विश्वास करते हैं। इस बीच वे अपनी बड़ी से बड़ी बात कह जाते है।

ऐसी बात नहीं है कि भगवती बाबू के उपन्यासों में कहीं कुछ थोपा हुआ नहीं लगता। उनके उपन्यासों में कई स्थलों पर संवाद थोपे हुए लगते हैं—उनके परवर्ती उपन्यासों में यह दोष अधिक दिखलाई पड़ता है। किन्तु इसे शिल्प का दोष मानना उचित होगा। यहां यह बात उल्लेखनीय है कि उनके वे संवाद ही, जो थोपे हुए लगते हैं, उनके कथ्य को सामने नही रखते। इसके विपरीत यदि वे हटा भी दिए जाएं तो भगवती बाबू की कहानी और उनका कहानी कहने का लहजा उनके मंतव्य को व्यक्त करने के लिए काफी है। कहानी की चरम उपलब्धि यह है कि वह वस्तु से अलग न दिखलाई दे साथ ही ''अपने विशेष विकसित रूप में कहानी जो बड़े से बडा काम कर सकती है वह पाठक को बदल कर श्रोता बना देती है और तब प्राचीन काल के कहानी सुनने वालों की भांति पाठक भी एक स्वर विशेष को सुनने का अनुभव करता है।''[2] पाठक के अंदर आदिम श्रोता को जाग्रत् कर देने की क्षमता भगवती बाबू के उपन्यासों में है।

१. प्रश्न और मरीचिका पृ० ५३७

२. श्री नारायण अग्निहोत्री, उपन्यास : तत्त्व एवं रूपविधान, पृष्ठ १०

अपर्याप्त कथ्य की समस्या

उपन्यास लेखन के साथ यह समस्या जुड़ी हुई है कि लेखक के पास उपन्यास के योग्य कथावस्तु हो। इसीका एक दूसरा पक्ष यह है कि कथावस्तु के अनुकूल ही लेखक उपन्यास का विकास करे, व्यर्थ विस्तार के मोह मे वह न फंसे। "उपन्यासकार द्वारा इच्छित प्रभाव उत्पन्न करने मे और विषय के प्रति पाठक के ध्यान को आकृष्ट कर केन्द्रित रखने में विषय-निविडता (Intensity of plot) का विशेष स्थान होता है।"[1] विषय-निविड़ता पर उपन्यास की रोचकता और प्रभाव निर्भर होते हैं। विषय-निविड़ता की परीक्षा इस बात पर होती है कि उपन्यास के कलेवर के अनुपात मे उसके विषय का परिमाण कितना है।

कितनी ही बार लेखन का मोह लेखक को अपर्याप्त कथ्य के बावजूद भी लिखने के लिए बाध्य कर देता है। इस मोह का निश्चित परिणाम शिथिल उपन्यास की रचना के रूप में सामने आता है। ऐसी अवस्था में लेखक ले-देकर किसी लघु उपन्यास का सृजन कर देता है। करीब-करीब हर प्रसिद्ध उपन्यास-लेखक इस विवशता का शिकार होता है। भगवती बाबू ने भी अपर्याप्त कथ्य के उपरांत उपन्यास की रचना की है। इस श्रेणी मे उनके दो उपन्यास—'थके पांव' और 'वह फिर नहीं आई' रखे जा सकते है। 'थके पांव' उपन्यास को प्रारम्भ से अंत तक पढते समय भगवती बाबू के लेखन का सबसे बड़ा गुण—रोचकता—कहीं भी प्राप्त नहीं होता। यह उपन्यास इसलिए लिखा गया है क्योंकि लेखक को किसी उपन्यास की रचना करनी ही थी। यह एक सौ चवालीस पृष्ठ का लघु उपन्यास है किन्तु यों लगता है कि एक सौ चवालीस पृष्ठ मे भी कुछ पृष्ठ व्यर्थ ही लिखे गए हैं। भगवती बाबू के उपन्यासों का प्रारम्भ अत्यंत रोचक, जिज्ञासा-पूर्ण और सशक्त हुआ करता है। उनके अंदर बैठा हुआ कथाकार बहुत अच्छी तरह जानता है कि कथा का सुन्दर प्रारम्भ कथा के प्रति आकर्षण जगाने के लिए आवश्यक है किन्तु 'थके पांव' उपन्यास का प्रारम्भ अपवाद है। वह अत्यंत नीरस और अर्थहीन है—इस तरह :

"लडखड़ाते हुए पैर।—वह चल रहा है क्योंकि उसे चलना पड़ रहा है, लेकिन जैसे पैर चलना ही नहीं चाहते। जीवन मे गति होती है, उस गति की प्रेरणा भावना की तीव्रता से मिला करती है, लेकिन जैसे उसके अंदर वाली समस्त भावना कुंठित हो गई है और एक अजीब तरह की गतिहीनता भर गई है उसके अंदर जो उसके पैरों को आगे बढ़ने से रोकती है। लेकिन उसे आगे बढ़ना ही है—दफ्तर से वह चला है, उसे अपने घर पहुंचना है और उसका घर अब

---

१. डॉ० गणेशन, हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन, पृष्ठ १६६

नजदीक आ गया है, सड़क से वह उस गली में मुड़ गया है, जिस गली में उसका घर है…" वगैरह-वगैरह।

उक्त क्रम लगातार पाच पृष्ठों तक चलता है और इन्हीं पृष्ठों के बाद पहला परिच्छेद समाप्त हो जाता है। विचारणीय है कि 'सामर्थ्य और सीमा' का प्रारम्भ भी गहन चिंतन से होता है जो काफी दूर तक चलता है किन्तु वह प्रारम्भ उपन्यास के मूल कथ्य से गहराई से जुड़ा हुआ है जबकि 'थके पांव' में ऐसी कोई बात नही है। जब उपन्यास प्रारम्भ करने के बाद लेखक को स्वयं भान हो जाए कि उसके पास पर्याप्त 'मसाला' नहीं है तब वह छोटी-मोटी बातों को ही बढ़ाने के लिए बाध्य होता है। 'थके पांव' में भगवती बाबू कई स्थलों पर व्यर्थ के चिंतन में उलझते दिखलाई पड़ते हैं। अष्टम परिच्छेद का प्रारम्भ इस तरह है :

"बच्चा जन्म लेता है—वह अपने माता-पिता से लाड़ पाता है। उसका लालन-पालन होता है, वह पढ़ता-लिखता है, यह सब अपने माता-पिता की सहायता से। वह अपने माता-पिता से प्राप्त ही करता है, उन्हें देता कुछ नही। इसके यह अर्थ नहीं कि वह किसीको भी कुछ नही देता है। उसका विवाह होता है, उसके बच्चे होते है, और अपने बच्चों को देना आरम्भ करता है। वर्तमान पीढ़ी अपनी अगली पीढ़ी को अपना सब कुछ देकर बनाती है—भविष्य अगली पीढ़ी का है। पिछली के पास तो केवल अतीत है—अतीत मृत्यु का दूसरा नाम है। यही सृजन का क्रम है—यही कुरूप और कटु सत्य है।"[१]

उपर्युक्त अंश अपने दार्शनिक अंदाज़ के कारण बड़ा महत्त्वपूर्ण लगता है किन्तु जब इस अंश को हम कथावस्तु के संदर्भ में देखते हैं तो यह कुछ विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं लगता। वस्तुतः यह लेखकीय 'लटका' है जिसके द्वारा लेखक पाठक को भ्रम में फंसा लेना चाहता है कि वह कोई गहरी बात कह रहा है। यह विवशता में किए गए लेखन का कुपरिणाम है।

'वह फिर नहीं आई' भगवती बाबू का एक सौ पंद्रह पृष्ठ का लघु उपन्यास है। यह उपन्यास भी विषयाल्पत्व के कारण सशक्त रचना का रूप नहीं ग्रहण कर सका। वास्तव में इस उपन्यास की कथावस्तु कहानी के लिए ही पर्याप्त है। लेखक द्वारा लिखी गई इसी शीर्षक की कहानी का उपन्यास की अपेक्षा अधिक सुगठित होना इसका प्रमाण भी है। अपर्याप्त कथ्य के कारण लेखक को स्थान-स्थान पर ठहर कर कानून, नैतिकता, सामाजिक ढांचे आदि पर विचार करने की आवश्यकता का अनुभव हुआ है। लघु उपन्यास अपने छोटे कलेवर के कारण सहजता से विषय की गहनता को प्राप्त कर बड़े कलेवर के उपन्यास से कहीं अधिक प्रभाव उत्पन्न कर सकता है। हेमिंग्वे का 'ओल्ड मेन एण्ड द सी,' स्टेनबैक

१. थके पांव, पृष्ठ ९३

का 'द पर्ल' विषय की गहनता के कारण ही विश्व के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों में गिने जाते हैं। ये लघु उपन्यास हैं किन्तु इनका प्रभाव अत्यंत गहन है। स्वय भगवती-चरण वर्मा का उपन्यास 'चित्रलेखा' दो सौ से भी कम पृष्ठों का उपन्यास है किन्तु अपनी गहनता के कारण वह एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण कृति है। उसकी एक-एक पंक्ति सार्थक है।

अधिक कहने की लालसा

जिस तरह अपर्याप्त कथ्य शिथिलता का कारण बनता है उसी तरह लेखक की अधिक कहने की लालसा भी शिथिलता उत्पन्न करती है। कितनी ही बार ऐसा होता है जब लेखक किसी विषय पर अपनी जानकारी अथवा अपनी राय को व्यक्त करने का मोह नहीं रोक पाता है। ऐसी स्थिति में वह कथा के प्रवाह और कथ्य की प्रासंगिकता को भूल बैठता है। यों भगवती बाबू इस तरह के लोभ में बहुत अधिक नहीं फंसे हैं किन्तु उनके कतिपय उपन्यासों में यह प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। भगवती बाबू के उपन्यासों में घटनाओं में उतार-चढ़ाव काफी हैं अतः घटनाओं से अलग हट कर अप्रासंगिक कहने का अवसर उनके हाथ अधिक होता भी नही है किन्तु 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' तथा 'सीधी-सच्ची बातें' में कई विषयों को समेट लेने की उनकी आकांक्षा स्पष्ट लक्षित है। 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में यह प्रवृत्ति अधिक नहीं है किन्तु 'सीधी-सच्ची बातें' में यह प्रवृत्ति अपनी चरम सीमा पर दिखलाई पड़ती है।

'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' का कथानक ही स्वाधीनता-आंदोलन की पृष्ठभूमि पर आधारित है। कथानक और पात्रों के संवादों के माध्यम से लेखक को उस आंदोलन का विश्लेषण करने का काफी अवसर प्राप्त हुआ है। किन्तु इन अवसरों के उपरांत भी उसकी तृप्ति नहीं होती और वह अधिक से अधिक उस काल के विषय में कहने का इच्छुक बना रहता है। ऐसी इच्छा उसे बाध्य करती है कि वह कथानक के प्रवाह में ही और भी ऐसे अवसर ढूंढ़ निकाले जब वह अपनी बात कह सके। रामनाथ तिवारी की कार के सामने से कांग्रेस का जुलूस जा रहा है—यह उपन्यास की एक सामान्य घटना है किन्तु भगवती बाबू इस घटना को अपनी बात कहने का माध्यम बना लेते हैं। जुलूस को देखते ही रामनाथ तिवारी आंदोलन के विषय में सोचना प्रारम्भ कर देते हैं उनका यह 'सोचना' करीब अढ़ाई पृष्ठों तक चलता रहता है।[1] इस अवसर पर रामनाथ तिवारी कुछ नया न सोचकर वही सोचते हैं जो वे कई बार संवादों के रूप में कह चुके होते हैं। स्पष्टतः यह भगवती बाबू की अधिकाधिक कहने की लालसा ही है। कभी-कभी अस्वाभाविक परि-

---

१. टेढ़े-मेढ़े रास्ते, पृष्ठ ५०, ५१, ५२

स्थितियों में सैद्धांतिक चर्चा भी इसी प्रवृत्ति का परिणाम है। प्रभानाथ डकैती के आरोप में गिरफ्तार होता है। दयानाथ के यहां ब्रह्मदत्त और उमानाथ बैठे है। इस गभीर सूचना के उपरांत भी ब्रह्मदत्त की चर्चा रुकती नही है। इतना ही नहीं, सगा भाई उमानाथ भी ब्रह्मदत्त से राजनैतिक बहस करता है। इस चर्चा के मोह मे प्रभानाथ की गिरफ्तारी की उमानाथ पर हुई संभावित प्रतिक्रिया के चित्रण को भी भगवती बाबू भूल गए हैं। वस्तुतः राजनैतिक बहस के माध्यम से तत्कालीन परिस्थितियों पर अपने विचारों को व्यक्त करने की उनकी प्रवृत्ति इसी तरह कई स्थलो पर स्पष्ट हो जाती है।

'सीधी-सच्ची बाते' में यह प्रवृत्ति अत्यंत पारदर्शी है। कभी-कभी यों लगता है कि इस उपन्यास की रचना भी लेखक ने सिर्फ अपनी बातों को सामने रखने के लिए की है। सन् १९३८ से लेकर १९४८ तक जो कुछ भी भारतीय समाज में घटित हुआ उसपर लेखक अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करना चाहता है। उपन्यास लेखन स्वयं में गौण उद्देश्य होकर रह गया है। यही कारण है कि यह उपन्यास नितांत नीरस कृति के रूप में सामने आता है। इस उपन्यास मे कथावस्तु ने कथा का गला दबा दिया है। यह उपन्यास प्रारम्भ से अंत तक ऐसे उदाहरणों से भरा हुआ है जिनसे यह सिद्ध होता है कि तत्कालीन परिस्थितियों और सामाजिक स्थिति के विषय में लेखक अधिक से अधिक बातें उपन्यास में ठूस देना चाहता है। एक उदाहरण से यह बात अधिक स्पष्ट हो सकेगी। जगत प्रकाश कुलसुम के साथ बम्बई जाता है। वहां उसकी भेंट जमील अहमद से होती है जोकि उसीके गांव का निवासी है। जमील अहमद उससे कहता है कि वह उसे असली बंबई दिखलाएगा। कुलसुम भी उसे 'असली' बंबई देखने को उत्साहित करती है। इसके बाद जगत को असली बंबई दिखलाई जाती है। यहां द्रष्टव्य है कि जगत प्रकाश स्वयं ग्रामीण है, गरीब है और संघर्षों में पला हुआ है। लेखक ने ठीक उसी तरह 'टेड़े-मेढ़े रास्ते' मे प्रभानाथ को 'असली' कलकत्ता दिखलाया है। ताल्लुकेदार प्रभानाथ को गरीब बस्ती में घुमाकर विषमता के प्रति उसके मन में वितृष्णा भरने की बात तो समझ में आती है किन्तु गरीब जगत को गरीब बस्ती में घुमाना कोई अर्थ नहीं रखता। यहां एक ही बात परिलक्षित होती है कि जगत को जमील के साथ मजदूर बस्ती में घुमाकर लेखक अपनी विचारधारा सामने रखना चाहता है। 'सीधी-सच्ची बातें' में लेखक मजदूरों की समस्या, राजनैतिक पार्टियों की उलझनें, देश के उच्च औरमध्यवर्ग के मानसिक तनाव, द्वितीय विश्व-युद्ध से उत्पन्न हुई विषम स्थिति एवं हिन्दू-मुस्लिम-वैमनस्य आदि कितनी ही समस्याओं पर अधिक से अधिक कहने के लिए उत्सुक दिखलाई पडता है। अपनी विचारधारा को वह कथानक में पिरो नही सका है जैसाकि अन्य कृतियों में करने में वह सफल रहा है। फल यह हुआ है कि यह पूरा उपन्यास भयकर रूप से

बिखरा हुआ है। इसमें न तो रोचकता है और न भगवती बाबू का किस्सागो स्वरूप और न ही औपन्यासिक कसावट।

'भूले-बिसरे चित्र' में कई कहानियां और पात्र हैं। वे सभी मुख्य कथा से कहीं-कहीं असंबद्ध भी दिखलाई पड़ते हैं पर उनमें लेखक की अधिकाधिक कहने की आकांक्षा लक्षित नहीं होती। कभी-कभार अपने कथा-प्रवाह में भगवती बाबू बहके भी हैं पर वे उस युग का सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत करने के लिए प्रयत्नशील रहे हैं जबकि 'सीधी-सच्ची बातें' में वे पृष्ठ संख्या बढ़ाने के लिए उत्सुक जान पड़ते हैं। अधिकाधिक कह सकने के प्रयास के साथ ही साथ इसके पीछे व्यावसायिक दृष्टिकोण भी हो सकता है। उपन्यास की अधिक पृष्ठसंख्या व्यावसायिक दृष्टि से लाभकारी वस्तु है। 'सीधी-सच्ची बातें' और किसी अंश तक 'प्रश्न और मरीचिका' उपन्यास इस प्रवृत्ति से ग्रस्त मालूम पड़ते हैं। निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि जिस तरह अपर्याप्त कथ्य का संकट व्यर्थ के विस्तार को बढ़ाता है उसी तरह अधिक कहने की लालसा भी व्यर्थ विस्तार को बढ़ाती है। दोनों दोष अपने-अपने ढंग से एक ही प्रकार की शिथिलता को जन्म देकर विषय की गहनता को आघात पहुंचाते हैं।

घटना-बाहुल्य

उपन्यास की विषयवस्तु घटनाओं और पात्रों के माध्यम से पाठक तक पहुंचती है। विलियम हेनरी हडसन के अनुसार उपन्यास में घटनाएं और कृत्य होते हैं। कुछ बातें तो परिस्थितियों के अनुसार घटित होती हैं और कुछ विशेष देश-काल में किन्हीं व्यक्तियों के द्वारा की जाती हैं।[१] घटनाओं के महत्त्वपूर्ण होने के उपरांत भी आधुनिक उपन्यास में घटनाओं का महत्त्व पहले स्थान पर नहीं है। आधुनिक लेखन में न तो कथावस्तु बड़ी होती है और न घटनाओं का बाहुल्य होता है। पर्सी लब्बक ने कहा है, "उपन्यास घटनाओं की श्रृंखला मात्र नहीं है। वह एक सम्पूर्ण चित्र या आलेख्य है जिसमें रूप, प्ररचन एवं समानु-विधान भी आवश्यक होता है।"[२] उपन्यास में चित्रित घटनाएं मानव-मन और जीवन को व्यंजित करने वाली होनी चाहिए। उन्हें निश्चय ही समाचारपत्र की तथ्यपूर्ण रिपोर्ट से भिन्न होना चाहिए। प्रेमचंद-काल से हिन्दी के सामाजिक उपन्यासों में वस्तु की गहनता को घटनाओं की अपेक्षा महत्त्वपूर्ण स्थान मिलने लगा था। इस दृष्टि से विचार करने पर यह बात स्पष्ट दिखलाई पड़नी है कि भगवती बाबू के उपन्यासों में तत्कालीन उपन्यासों की अपेक्षा घटनाओं की बहुलता है।

१. हडसन : ऐन इंट्रोडक्शन टू द स्टडी आफ लिटरेचर, पृष्ठ १७०-१७१
२. लब्बक : दि क्राफ्ट आफ फिक्शन, पृ० ६२

उनके प्रथम उपन्यास 'पतन' में घटना-बाहुल्य दोष के रूप में दिखलाई पड़ता है। बाद के उपन्यासो में भगवती बाबू ने अपनी इस प्रवृत्ति को कलात्मक बनाने का प्रयास किया है और उसमें वे सफल भी हो सके हैं। घटनाओं की बहुलता होते हुए भी 'अपने खिलौने', 'भूले-बिसरे चित्र' और 'सबहिं नचावत राम गुसाई' उच्च श्रेणी के उपन्यास बन सके हैं। बहुधा उनके उपन्यासों में घटनाओं की बहुलता उपन्यासों के उत्तरार्द्ध में दिखलाई पड़ती है। जब-जब उनकी यह प्रवृति तीव्रता से उभरी है यह देखने में आया है कि घटनाएं ही इतनी महत्त्वपूर्ण हो उठी हैं कि विषयवस्तु की गहनता पर वे हावी हो गई हैं। घटनाओं की क्षिप्रता पाठक के एकाग्र दृष्टिकोण को समस्या से हटाकर अपने प्रवाह पर केन्द्रित कर देती है। 'तीन वर्ष' में रमेश जब प्रेम पर से आस्था खोकर निकल पड़ता है तब घटनाओं की भरमार में उसके दर्द-भरे हृदय को पाठक भूल जाता है। यहीं पर भगवती बाबू के रमेश और शरत् बाबू के देवदास में अतर है। शरत् चद्र अपने देवदास को भटकाते अवश्य हैं पर घटनाओं को प्रमुख नहीं बनाते। वे निरतर देवदास की घनघोर उदासी को चित्रित करते है जबकि भगवती बाबू के 'तीन वर्ष' के उत्तरार्द्ध में रमेश की विरक्ति और उदासी उसकी दादागिरी की हरकत में दब जाती है।

'आखिरी दांव' का उत्तरार्द्ध भी घटनाओं से इतना आक्रांत हो गया है कि उसकी मूल समस्या उन घटनाओं के उतार-चढ़ाव में धुंधली हो गई है। 'सबहिं नचावत राम गुसाई' का अंतिम खण्ड भी इतनी तीव्र गति मे भागता है कि उपन्यास के पहले तीन खण्डों की गंभीरता और मंथरता पर आघात पहुंचता है। भगवती बाबू की इसी प्रवृत्ति पर नेमिचंद्र जैन ने उसकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृति के विषय में यह लिखा है, "भूले-बिसरे चित्र आधुनिक उपन्यास से अधिक दास्तानो का भंडार है।"[१] इस कथन की सत्यता से सहमत होते हुए भी इसे जैसे का तैसा स्वीकार कर लेना भगवती बाबू के साथ अन्याय होगा। घटनाओं की बहुलता होने पर भी 'भूले-बिसरे चित्र' आधुनिक उपन्यास की हर शर्त पूरी करता है। इसे मात्र 'दास्तान का भंडार' नही कहा जा सकता। भगवती बाबू की असफलता 'सीधी-सच्ची बातें' मे दृष्टिगोचर होती है। एक काल-विशेष की सारी घटनाओं को उपन्यास में समाहित कर लेने की उनकी प्रवृत्ति ने इस उपन्यास को सूचना देने वाले 'पैम्फलेट' जैसा बना दिया है। अधिकांश घटनाओं की सूचना नाटक के नेपथ्य से प्राप्त होने वाली सूचनाओं की तरह प्राप्त होती है।

---

१. नेमिचंद्र जैन : अधूरे साक्षात्कार, पृष्ठ ८६

गढ़न की दृढ़ता और शिथिलता

उपन्यास के गढ़न की दृढ़ता इस बात पर निर्भर रहती है कि घटनाओं का पारस्परिक कितना संबंध है और विभिन्न पात्र न केवल एक-दूसरे से, बल्कि उन घटनाओं से भी कितने बंधे हुए हैं। घटनाओं का प्रवाह पाठक को विषयवस्तु की ओर ले जाता है अथवा नहीं—यह भी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है।

भगवती बाबू के उपन्यासों में गढ़न की दृढ़ता विद्यमान है। घटनाओं और पात्रों का संयुजन तथा कथ्य एवं शिल्प का सामंजस्य और सतुलन जैसा भगवती बाबू के 'चित्रलेखा' उपन्यास में प्राप्त होता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। वस्तु-संगठन की दृष्टि से 'चित्रलेखा' विश्व के किसी भी श्रेष्ठ उपन्यास से टक्कर ले सकता है। इसमें दो प्रमुख पात्र बीजगुप्त और कुमारगिरि के आस-पास कथानक घूमता है। नायिका चित्रलेखा उस तंतु की तरह है जो दोनों कथाओं को मिलाता है। श्वेतांक, यशोधरा एवं अन्य पात्र तथा सभी घटनाएं मिलकर एक ऐसी सघनता का निर्माण करती हैं जो निश्चय ही शिल्प की दृष्टि से एक उपलब्धि है। यह सामंजस्य पाठक के लिए विषय-वस्तु को बहुत ही स्पष्ट और ग्राह्य बना देता है। ई० एम० फार्स्टर ने लिखा है, "मेरे सामने साहित्य के स्वरूप की समस्या का समाधान किसी सूत्र के रूप में नहीं अपितु लेखक की उस शक्ति के रूप में आता है जिससे वह पठाकों को अपनी बात की प्रतीति कराकर जो चाहे मनवा लेता है।"[1] यह बात तभी पैदा हो सकती है जब कथ्य और शिल्प का अत्यंत मधुर सम्मिलन हो। इस दृष्टि से 'चित्रलेखा' निश्चय ही एक विशिष्ट कृति है। लेखक अपनी बात इतने प्रभावशाली ढंग से कहता है कि पाठक उसकी बात से—उस समय तो निश्चय ही सहमत हो जाता है। 'चित्रलेखा' की गढ़न की विशेषता यह भी है कि पूर्वनिश्चित कथानक—पढ़ते समय—पूर्वनिश्चित नहीं लगता। आधुनिक विचार यह है कि जब जीवन क्रमहीन और अव्यवस्थित है तो उपन्याम के कथानक में व्यवस्था खोजना व्यर्थ है। पूर्व निश्चित कथानक के अस्वभाविक बन जाने का खतरा हमेशा हुआ करता है। 'चित्रलेखा' के लेखक का कौशल यही है कि वह उपन्यास को जीवन की ही तरह स्वाभाविक बनाए रखने में सफल हुआ है।

गढन की दृढ़ता 'अपने खिलौने' में भी देखने को मिलती है। इस उपन्यास का कथानक अपने अंदर जिस व्यंग्य को छिपाए हुए है उसे उपन्यास का शिल्प और भी उभार देता है। यही बात 'भूले-बिसरे चित्र' और 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में दिखलाई पड़ती है। 'भूले-बिसरे चित्र' मे कई कहानियां हैं। उससे कुछ प्रसंग ऐसे भी हैं

---

1. Aspects of the Novel, Forster, Page 75

जो विषय-वस्तु की विशेष सहायता नही करते किन्तु ये सारी घटनाएं एक काल-सूत्र से बधी हुई है इसीलिए किंचित् अप्रासंगिक होने पर भी ये अस्वभाविक नहीं लगती।

विषयैक्य

बेसिल हो गर्थ का मत है, "सम्पूर्ण उपन्यास मे नाटकीय ऐक्य न हो, तो उसका अपकर्ष होकर कई असबद्ध घटनाओं के रूप में विघटन हो जाएगा।"[१] विषयैक्य का सबंध कहानी से न होकर पात्रों, घटनाओं और भावों की अन्विति से है। भगवती बाबू के उपन्यासों में विषयैक्य विद्यमान है। नाटकीय ऐक्य की आवश्यकता विशाल कलेवर के उपन्यासों में अधिक होती है। भगवती बाबू के पांच उपन्यास विभिन्न कालखण्डों पर रचे गए हैं। 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते,' 'भूले-बिसरे चित्र,' 'सीधी-सच्ची बातें,' 'सबहिं नचावत राम गुसाईं' तथा 'प्रश्न और मरीचिका' भारतीय समाज के बदलते हुए स्वरूप पर आधारित उपन्यास हैं। ये सब उपन्यास अपने-आपमे मुख्य कथा के साथ कई आनुषगिक कथाएं तथा मुख्य पात्रों के साथ ढेरों अन्य पात्र समेटे हुए हैं। इन्हें हम 'पैनोरेमिक' उपन्यास की कोटि में रख सकते हैं। कई कथाओं और पात्रों को विषय वस्तु के साथ गूंथे रखना एक कौशल की बात है। भगवती बाबू यह कार्य कर सके है। इस दृष्टि से 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' और 'भूले-बिसरे चित्र' मे वे अधिक सफल हो सके है। 'टेढे-मेढ़े रास्ते' के सभी पात्र और सारी कहानियां लेखक के मंतव्य को स्पष्ट करने सफल हुई हैं। 'प्रश्न और मरीचिका' में भी उदयराज सूत्र के रूप में सभी घटनाओं और पात्रों को थामे रखता है।

विषयैक के लिए यह भी आवश्यक है कि उपन्यास का विषय और लेखक के विचार खूबी के साथ मिल सकें। 'चित्रलेखा' और 'सामर्थ्य और सीमा' तथा किसी हद तक 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में ऐसा करने मे भगवती बाबू अत्यंत सफल रहे है। जब लेखक के व्यक्तिगत विचार कथावस्तु और कथानक को बोझिल बना देते हैं तो विषयैक्य बिखर जाती है। ऐसे समय उपन्यास के पात्रों के संवाद उनके स्वयं के विचारों के बदले लेखक के विचारों का वहन करने लगते है। भगवती बाबू के उपन्यासों में जहां तात्त्विक चिंतन होता है वहां यह दोष कहीं-कहीं विद्यमान है। 'सीधी-सच्ची बातें' मे यह दोष प्रारम्भ से अंत तक विद्यमान है। लेखक के व्यक्तिगत विचारों ने निर्जीव संवादों का रूप धारण कर लिया है अतः उपन्यास की नाटकीयता पर भयानक आघात हुआ है।

---

१. होगर्थ : दी टेक्नीन ऑफ नावेल राइटिंग, पृ० ६८

नियतिवादी जीवन-दर्शन का वस्तु-संगठन पर प्रभाव

यह एक मनोरंजक तथ्य है कि भगवती बाबू के नियतिवादी जीवन-दर्शन ने उनके उपन्यासों के वस्तु-संगठन पर एक विशिष्ट प्रभाव डाला है। उनका जीवन-दर्शन कहानी, कथावस्तु, घटनाओं, पात्रों आदि के पीछे अंतःसलिला की तरह विद्यमान है। नियतिवादी जीवन-दर्शन पर विश्वास करने के कारण उनके उपन्यासों में संयोगों की बहुतायत है। कथानक मे संयोगों का आधिक्य आज का साहित्यकार दोष मानता है किन्तु भगवती बाबू उनके प्रयोगों से संकोच नहीं करते। मनुष्य के जीवन में अकस्मात् कुछ घटित हो जाना अथवा अप्रत्याशित स्थितियों में लोगों से भेंट हो जाने जैसी घटनाए उनके उपन्यासों में प्रारम्भ से अंत तक विद्यमान हैं। यहां तक कि 'तीन वर्ष' उपन्यास में नायक रमेश को अकस्मात् ट्रेन में ही नौकरी मिल जाती है फिर वह सयोंगवश ही अमीर हो जाता है। 'अपने खिलौने' उपन्यास की सारी घटनाएं संयोगवश होती हैं। पात्रों का मिलाना, बिछडना सभी कुछ संयोगों से प्रभावित है। इन संयोगों के बीच ही इस उपन्यास मे हास्य उभरता है। 'सीधी-सच्ची बातें' के नायक जगत के जीवन में भी जो कुछ होता है अकस्मात् होता है। उनके अन्य उपन्यासों में भी बहुत कुछ सयोगवश घटता हुआ दिखलाई पडता है। उपन्यासों में इस तरह के आकस्मिक मोड़ों का आना लेखक के जीवन-दर्शन का परिणाम है। कई बार विषय-वस्तु के विस्तार मे ऐसे संयोग बाधा भी उत्पन्न करते है। 'रेखा' उपन्यास की विषय-वस्तु की गहनता उपन्यास में आए हुए संयोगों के कारण कम हो गई है।

अध्याय ७

चरित्र-सृष्टि

चरित्र का महत्व

उपन्यास का विषय मनुष्य है इसमे दो मत नहीं हो सकते । मनुष्य-जीवन को उसकी समग्रता मे तथा उसको यथार्थ रूप मे सामने रख सकने वाली सफलतम विधा उपन्यास है । यही कारण है कि उपन्यास मे प्रस्तुत किए जाने वाले पात्रों का महत्त्व इस विधा के विकास के साथ ही साथ बढ़ता गया है । प्रारम्भिक उपन्यासों में कहानी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हुआ करती थी जबकि आज वह स्थान चरित्र ने ले लिया है । कहानी से भी अधिक रुचिकर प्रसंग उपन्यास में चरित्र अथवा नायक होता है । इसमें कहानी की भांति पाठकों के मन मे यह उत्सुकता नहीं रहती की आगे क्या होगा, बल्कि यह जानने की वह इच्छा रखता है कि अमुक घटना का प्रभाव उपन्यास के किस व्यक्ति पर क्या पड़ेगा ।[१] उपन्यासकार मानव-प्रकृति का जितना बड़ा ज्ञाता होगा वह उतना ही सफल लेखक होगा । राबर्ट लिडेल ने कहा है, "उपन्यासकार का सर्वोत्तम चुनी हुई भाषा मे मानव-प्रकृति के पर्याप्त ज्ञान और उसके वैविध्य के सुखद वर्णन को विश्व में प्रतिपादन करना है ।"[२] मनुष्य के जहां अनन्त वैविध्य हैं वहीं उसकी विवधता के बीच कुछ अजीब-सा ऐक्य है । इस विविधता और ऐक्य को चरित्र-चित्रण के माध्यम से उपन्यास में चित्रित किया जाता है ।

परम्परागत पात्र

हिन्दी उपन्यास साहित्य में चरित्र चित्रण का क्रमशः विकास हुआ है । हिन्दी

१. डॉ० त्रिभुवन सिंह, हिन्दी उपन्यास : शिल्प और प्रयोग, पृ० ३५६

२. राबर्ट लिडेल, ए ट्रीटाइज आन द नावेल, पृ० ५३

उपन्यासों के प्रारम्भिक काल में पात्र अच्छे या बुरे की परम्परागत लकीर से विभाजित थे। केवल तिलिस्मी और जासूसी उपन्यासों में ही नहीं बल्कि प्रेमचंद-पूर्व के सामाजिक उपन्यासों में भी पात्र या तो आदर्श होता था या दुष्ट। आदर्श पात्र में बुराई खोजना कठिन था एवं दुष्ट पात्र में अच्छाई ढूढ़ना असम्भव था। दुष्ट पात्र अच्छे पात्रों पर, कभी-कभी तो बेवजह ही, अत्याचार करते थे। अच्छे पात्रों से उनका संघर्ष होता था और अन्त में अच्छे पात्रों की विजय उपन्यासों का अनिवार्य अंग थी। प्रारम्भिक उपन्यासों में इस तरह के चरित्रांकन का एक कारण यह भी था कि उस समय उपन्यास को विशुद्ध मनोरंजन का साधन माना जाता था। उस युग का पाठक साहित्य की गहराई से अनभिज्ञ था ही साथ ही वह उपन्यास को मानव-जीवन का प्रतिबिंब नहीं मानता था। उसकी रुचि का परिष्कार नहीं हुआ था। डॉ० रणवीर रांग्रा ने लिखा है, "उस युग की जनता एक ओर तो इस प्रतीक्षा में एक-एक करके दिन काट रही थी कि कब अंग्रेजों के पाप का घड़ा भरकर फूटे और अति मानवीय शक्तियां उन्हें उनकी करनी का फल दें, दूसरी ओर वह अपने दैनिक जीवन के अनुभवों की कटुता कम करने के लिए जीवन की यथार्थता से पलायन की ओर प्रवृत्त हुई।"[१] इन उपन्यासों मे चरित्र-चित्रण की पूरी तरह उपेक्षा हुई हो ऐसी बात नहीं है किन्तु इनका उद्देश्य चरित्र-चित्रण की अपेक्षा लोक-रंजन अधिक था।

प्रेमचंद का काल

उपन्यास को जीवन का प्रतिबिंब बनाने का सही प्रयास प्रेमचन्द के द्वारा हुआ। वे साहित्य को 'जीवन की आलोचना'[२] मानते थे। अपनी इस मान्यता के आधार पर उन्होंने उपन्यास को मात्र मनोरंजन का साधन कभी नही समझा बल्कि वे अपेक्षा रखते थे कि उपन्यास "मानव-जीवन पर प्रकाश डाले और उसके रहस्यों को खोलता हुआ मानव-जीवन को मंगलमय बनाने मे योग दे।"[३] उन्होंने मानव-चरित्र को उपन्यास लेखन का केन्द्र-बिंदु स्वीकार करते हुए यहां तक कहा, "मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्रमात्र समझता हुं, मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास मूलतत्त्व है।"[४] प्रेमचन्द ने चरित्र-चित्रण को अत्यधिक महत्त्व दिया किन्तु इसके उपरान्त उनके

१. डॉ० रणवीर रांग्रा, हिन्दी उपन्यास में चरित्र चित्रण का विकास, पृ० ५१६
२. प्रेमचन्द : कुछ विचार पृ० ६
३. वही, पृष्ठ ३८
४. अ-'प्रेमचन्दजी पात्रो का निर्माण करने में जितने कुशल हैं, उतने उनका निर्वाह करने मे नही।'

नददुलारे बाजपेयी, प्रेमचंद, पृ० १२

पात्र फार्स्टर की शब्दावली में कहें तो 'फैलट' (सतही), सी० एच० रिचर्ड की शब्दावली मे कहें तो 'स्टेटिक' (स्थिर) अथवा चालू भाषा में कहें तो 'टाइप' (वर्गगत) बन गए है।

वास्तव मे प्रेमचद अपने युग की सामाजिक समस्याओं के चितेरे थे इसीलिए कुछ आलोचक मानते है कि उनके पात्रों का सहज निर्वाह हो सका।[१] सामाजिक समस्याओं के चित्रण का माध्यम बनने के कारण उनके पात्र भी 'सु' और 'कु' के घेरे को तोड़ नही सके। किन्तु यहां एक बात पर विचार करना अत्यन्त आवश्यक है वह यह कि क्या प्रेमचन्द के चरित्र नितान्त वर्गगत हैं ? इसमें सदेह नही कि प्रेम चंद के पात्र 'अच्छे' या 'बुरे' की श्रेणी में हैं तथा उनमे अपने-अपने वर्गो की विशेष-ताएं भी विद्यमान है पर यह भी सत्य है कि उनमे अपनी व्यक्तिगत विशेषताएं भी है। यदि ऐसा नही होता तो सुमन, होरी, गोबर जैसे जीवंत पात्रों की रचना करने में प्रेमचंद सफल नही होते। उन्होंने औपन्यासिक पात्रों को सजीव मानवीय कलेवर दिया, यह उनकी बड़ी भारी देन है। क्योंकि उनके सामने चरित्रांकन की कोई परम्परा नही थी अतः उनके पात्र सहज मानव बनकर भी उतनी पूर्णता प्राप्त नहीं कर सके जितनी बाद के उपन्यासों के पात्र कर सके है। वे स्वय परम्परा के निर्माता थे। इस सदर्भ मे डॉ० गणेशन का कथन अत्यंत सारगर्भित है, "वस्तुतः इन सब पात्रों में सामाजिक व्यक्तित्वों (Social Personalıty) के अतिरिक्त जो वैयक्तिक व्यक्तित्व (Individual Personalty) है, वे नगण्य नही। किन्तु प्रेमचंद ने वैयक्तिक व्यक्तित्व को रूप देने वाली विशेष प्रवृत्तियों का अगाधतम मानसिक जगत मे प्रक्षेपण नही किया है और न उनका विश्लेषणपूर्ण अध्ययन ही किया है।"[१] पात्रों के अंकन के संदर्भ मे यह बात भी स्मरणीय है कि प्रेमचन्द ही ऐसे उपन्यासकार हैं जो व्यक्ति-विशेष से सामान्य व्यक्ति की ओर बढे। यह प्रवृति आगे चलकर सर्वाधिक आधुनिकता-बोध की प्रतीक मानी गई। आधुनिक उप-न्यास धीरे-धीरे नायक-विमुख होते जा रहे हैं। सामान्य से सामान्य व्यक्ति भी, जिसमें किसी तरह की गरिमा ना हो, उपन्यास का विषय बनने लगा है। वैसे हिन्दी उपन्यासों में अभी नायक किसी न किसी रूप में 'जीवित' है।

भगवती बाबू का तेवर

भगवतीचरण वर्मा अपने उपन्यासों में कहानी और चरित्र को समान महत्त्व देते हैं। बल्कि यह कहना अत्युक्ति नही है कि अपनी ओर से वे कहानी को ही

ब-'प्रेमचंद का संबंध विशेष रूप से सामाजिक समस्या से रहता है। उनका उद्देश्य एक सामाजिक समस्या के आसपास पात्रो का जमघट खड़ा करना है।"

डॉ० इन्द्रनाथ मदान, प्रेमचद : एक विवेचन, पृ० ५५

१. डॉ० गणेशन, हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन, पृ० २४६

प्रथम स्थान देते है—"उपन्यास का आधार एक पुष्ट और सुन्दर कहानी हो।"[१] उनके उपन्यासों के पाठक को यह बात आसानी से दिखलाई पड़ जाती है कि उन्होंने अपने उपन्यासों में चरित्र के अंकन पर भी उतनी ही दृष्टि रखी है जितनी कि वे कहानी पर रखते हैं। कहानी और पात्रों पर समान रूप से ध्यान देने की उनकी प्रवृत्ति के आधार पर ही डॉ० देवराज उपाध्याय ने उन्हें 'प्रेमचद का सशोधित संस्करण'[२] स्वीकार किया है। डॉ० शीलकुमारी अग्रवाल ने इसी तथ्य को इन शब्दों में व्यक्त किया, "सब मिलाकर वर्माजी के पात्रों का स्वरूप और विकास-क्रम प्रेमचंद के पात्रों से भिन्न नही। यह अवश्य है कि उन्होंने प्राय: समस्याओं को पात्रों के व्यक्तिगत जीवन से ग्रहण किया है और इस कारण उनके पात्रों के व्यक्तित्व में वैयक्तिक पक्ष का आभास मिलता है।"[३] प्रेमचद ने अपने पात्रों को अधिकाधिक मानवीय बनाने का प्रयास किया था। किन्तु वे, जैसा कि हम विचार कर चुके हैं, पात्रों को 'कु' और 'सु' के घेरे से पूर्ण रूप से नही निकाल पाए। भगवती बाबू अपने उपन्यासों के पात्रों को इस घेरे से निकालने में सफल हुए।

रावर्ट लिडेल ने कहा है कि उपन्यास के पात्रों में वास्तविक जीवन में मिलने वाले मनुष्य की तरह अच्छाई, बुराई का मिश्रण होना चाहिए।[४] भगवती बाबू के पात्र इसके प्रत्यक्ष उदाहरण है। पात्रों के प्रति उनका पक्षपात कही-कही प्रेमचंद की ही तरह दिखलाई पड़ता है पर पात्रों के गुण और दुर्गुण को वे भरसक समान-भाव से चित्रित करते है। उनके पात्र कभी-कभार अपने स्रष्टा से परिचालित भी दिखलाई पड़ते हैं पर वे मानवीय गुणों और दुर्बलताओं के अत्यंत निकट ही रहते हैं। जिन पात्रों को उनकी सहानुभूति प्राप्त हुई है उनकी दुर्बलताओं को, विशेष कर नैतिक दुर्बलताओं को, भी चित्रित करने में उन्होंने कहीं भी हिचक नही दिखलाई है।

नये और असाधारण चेहरे

प्रेमचंद-युग तक उपन्यासों में पात्रों का चरित्रांकन इस तरह होता था कि

---

१. 'साहित्य एक साधना हैं' (भगवतीचरण वर्मा : एक भेट), साप्ताहिक हिन्दुस्तान, २० सितम्बर, १६५३

२. डॉ० देवराज उपाध्याय, 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते : एक समीक्षा', प्रतीक (इलाहाबाद), सं० एक—ग्रीष्म

३. डॉ० शीलकुमारी अग्रवाल : हिन्दी उपन्यासो में कल्पना के बदलते प्रतिरूप, पृ० ७८

4. The characters in a novell then, are niether to be unexceptionable nor, completely developed but a mixture of good and bad, like the characters we khow in real life, from self knowledge or from obsrvation.

A treatise on the Novel, Robert Liddel, P. 96-97

दुर्बल पात्र को पाठक की सहानुभूति भी नहीं मिल पाती थी। कभी-कभार लेखक की और इसीलिए पाठक की भी दयापूर्ण दृष्टि उसे प्राप्त हो जाती थी। भगवती बाबू के उपन्यासों में ऐसे मनुष्य दिखलाई देते हैं जिनपर एक साथ क्रोध, दया, सहानुभूति और खीझ उत्पन्न हो सकती है। उन्हें साधारणतः अच्छा या बुरा नहीं कहा जा सकता। उनके पात्र सामान्य मनुष्य है पर कही-कही असाधारण पात्र भी दिखलाई पड़ते हैं। ये पात्र असाधारण ढंग से चित्रित नहीं किए गए हैं बल्कि वे अपने स्वभाव से असाधारण हैं। यह ध्यान देने योग्य बात है कि उनका चित्रण भगवती बाबू ने बड़ी सहजता और सफलता से किया है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में साधारण मनुष्य का असाधारण चित्रण होता है। जैनेन्द्र, जोशी अथवा अज्ञेय के उपन्यासों के पात्र निश्चय ही साधारण मनुष्य हैं पर उनकी कुंठाओं का विश्लेषण उन्हें अन्यों से अलग-सा कर देता है। उनका चरित्रांकन भी मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर विशिष्ट सजगता से किया जाता है। भगवती बाबू के पात्रों में अंतर्द्वंद्व है पर वे मनोवैज्ञानिक कथाकार की तरह उसका मनोविश्लेषण नहीं करते। उनके उपन्यासों मे कुछ ऐसे पात्र भी है जो वस्तुतः स्वभाव से ही असाधारण है। 'पतन' का प्रताप सिंह, 'सामर्थ्य और सीमा' का नाहरसिंह, 'रेखा' की रेखा इस श्रेणी में रखे जा सकते हैं।

अहम् से भरे पात्र

भगवती बाबू व्यक्तिवादी है अतः वे व्यक्ति के अहम् को सत्य मानते हैं और साथ ही उसे मनुष्य की विशेषता भी। अहम् को महत्त्व देने का स्पष्ट प्रभाव उनके द्वारा किए गए चरित्र-चित्रण पर पड़ा है। उनके उपन्यासों में कितने ही अहम् से भरे हुए पात्र दिखलाई पड़ते हैं। 'चित्रलेखा' का कुमारगिरि; 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' के रामनाथ तिवारी, दयानाथ, वीणा और किसी हद तक प्रभानाथ; 'सामर्थ्य और सीमा' के 'पांच बड़े', 'रेखा' के डा० प्रभाशकर—ये सभी पात्र अपने अहम् के प्रति अत्यंत सजग हैं। ये सभी पात्र अपने लिए जीते हैं और केवल अपनी आत्मा के प्रति ईमानदार है। ये सभी अपने अस्तित्व की तीव्र घोषणा करते दिखलाई पड़ते है।

'चित्रलेखा' का कुमारगिरि संसार-त्यागी संन्यासी है। उसमें कल्पना, संयम, तप और तेज है पर वह अपने अदर कही भीषण अहम छिपाए हुए है। महाप्रभु रत्नाम्बर जहां अपने शिष्यों पर अपने निर्णय थोपते नही है वहीं कुमारगिरि अपने शिष्यों को अपने पीछे आंख मूदकर चलाना चाहता है। विशालदेव जब उससे प्रश्न करता है तब वह विशालदेव से कहता है, "तुमने उचित ही कहा है विशालदेव, क्योंकि तुमपर एक गुरु का प्रभावहै। उस प्रभाव को दूर करके मुझे तुमपर अपना प्रभाव जमाना पड़ेगा। मैं तुम्हारा भ्रम निवारण कर दूगा,

पर आज नहीं। भ्रम में पड़े हुए गुरु के शिष्य में भ्रमों का होना स्वाभाविक ही है।"[1] यह स्पष्ट से रूप से 'ब्रेन वाशिंग' है। कुमारगिरि का अहम् इतना तीव्र है कि एक बार चित्रलेखा के प्रति आकृष्ट होने के बाद वह हर स्थिति मे उसपर अधिकार पाना चाहता है। यहां तक कि वह चित्रलेखा को बीजगुप्त और यशोधरा के विवाह की झूठी खबर देकर उसका उपभोग करता है। जब कुमारगिरि उसे यह झूठी खबर देता है और चित्रलेखा उस खबर पर आहत होती है तब वह चित्रलेखा की बेचैनी का पूरा आनन्द लेता है। उस समय "कुमारगिरि के स्वर में हृदय में बर्छी-सा चुभने वाला व्यंग्य था।" उपन्यास में कुमारगिरि के पतन का कारण उसकी साधना की कमी अथवा उसके चरित्र की दुर्बलता नहीं है बल्कि उसका प्रबल अहम् है। जब चित्रलेखा उसकी भर्त्सना करती है तब उसका उत्तर उसके अहम् का विस्फोट ही है, "जाओ नर्तकी ! मुझे तुम्हारी आवश्यकता नहीं। तुमने मुझे गिराया और तुम मुझे उठा भी रही हो, तुमने सिर्फ मुझे पराजित किया—मैंने भी तुम्हें पराजित किया।"[1] उपन्यास में यही कुमारगिरि का बहिर्गमन है। इस बहिर्गमन में बड़ी खूबी से यह संकेत है कि योगी का अहम् ही उसे फिर ऊंचा उठने के लिए प्रेरित करेगा।

'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' मे चित्रित किए गए अधिकांश पात्र अपने कठोर अहम् से प्रेरित हैं। उपन्यास के नायक ताल्लुकेदार रामनाथ तिवारी में अहम् अपनी चरम सीमा पर दिखलाई पड़ता है। रामनाथ तिवारी में यह भावना इतनी प्रबल है कि उनका पितृरूप भी इससे प्रभावित होता है। वे पिता से अधिक अपने को अपने पुत्रों का स्वामी समझते हैं और इसीलिए पुत्रो की आत्मा पर वे अपना अधिकार समझते हैं। उनका अहम् उन्हें इतना आत्म केन्द्रित बना देता है कि उनके लिए अपनी बात, अपना सिद्धांत अपना स्वार्थ ही सब कुछ रह जाता है। झगडू मिश्र से वे कहते हैं, "मिसिर जी, आप गलती करते हैं। मुझे केवल एक बात का मोह है वह है अपना, अपनी आत्मा का, अपने सिद्धांत का और अपने विश्वास का। जो कुछ मैं करता हूं वही ठीक है, जो कुछ मैं सोचता हूं वही सत्य है। जब तक मैं जीवित हूं, मैं स्वामी हूं; उतना ही बड़ा जितना बड़ा वह जिसकी पूजा करने का आप मुझे आदेश दे रहें हैं।"[2] इस तरह रामनाथ तिवारी स्वयं को ईश्वर के समकक्ष निरूपित करते हैं। अपनी बात को पत्थर की लकीर बनाते हुए अपने निष्कासित पुत्र दयानाथ के घर लौटने पर वे उससे कहते हैं, "तुमने मेरे यहां लौटकर गलती की। जीवन का क्रम आगे बढ़ना है—पीछे लौटना असम्भव है। मेरे यहां तुम्हें स्थान नहीं है दया—तुम समझदार हो, मेरी बात समझ ही गए होंगे।"[3]

१. चित्रलेखा : पृ० २०
२. टेढ़े मेढ़े-रास्ते, पृ० ३००
३. वही, पृष्ठ ५४३

रामनाथ तिवारी की पराजय तभी होती है जब उनके अहम् के सामने झुकने वाले अन्य सबल व्यक्तित्व उनके मुकाबले खड़े हो जाते हैं। झगडू मिश्र और बीणा उन्हें आध्यात्मिक रूप से पराजित करते है तो विश्वम्भरदयाल भौतिक रूप से।

रामनाथ तिवारी के तीनो पुत्र दयानाथ, उमानाथ और प्रभानाथ भी पिता के प्रतिरूप हैं। डॉ० रणवीर रांग्रा ने उन्हें रामनाथ तिवारी के 'सिद्धात शरीरी पुत्र'[1] कहा है। दयानाथ समझता है कि वह त्यागी है किन्तु उसके अंदर अपने को औरों से ऊंचा समझने की प्रवृत्ति विद्यमान है। उसका अभिन्न मित्र मार्कण्डेय उससे कहता है, "और मैं जानता हूं दया, कि तुममें अहम्मन्यता है, उतनी ही अधिक जितनी तुम्हारे पिता मे अथवा अन्य भाइयों मे है।"[2] उमानाथ और प्रभानाथ मे यह अहम्मन्यता स्पष्ट दिखलाई नहीं पड़ती किन्तु उमा का अपने-आपको, कई स्थलो पर, अपने साथियों पर लादना इसी भावना का द्योतक है। प्रभानाथ का मुखबिर बनने के बदले आत्महत्या कर लेना भी सिद्धांत के प्रति आसक्ति उतनी नही है जितनी कि पराजय की आत्मग्लानि से बचने की प्रवृत्ति।

'सामर्थ्य और सीमा' उपन्यास में चित्रित अपने-अपने क्षेत्र के 'पाच बड़े' भी अहम्वादी पात्र है। उद्योगपति मकोला, इंजीनियर देवलकर, सम्पादक राव, साहित्यकार शिवानन्द शर्मा तथा आर्चीटेक्ट मंसूर—सभी अपनी शक्ति और सामर्थ्य के नशे मे डूबे हुए है। इन सभीके ऊपरी शालीनता के मुखोटे जब उतरते है तब इनका विद्रूप स्पष्ट होता है। यों इनका आत्मविश्वास पौरुष से युक्त है किन्तु वही आत्मविश्वास जब उनकी अहम्मन्यता बनकर सामने आता है तब सभी एक-दूसरे को परास्त करने की योजनाओं मे लीन हो जाते है। यहां तक कि बाढ के प्रकोप के समय कोई एक-दूसरे का नही रह जाता और सभी अपने-आप में बद घोंघे का स्वरूप धारण कर लेते हैं। वास्तव मे ये पांच कोई अलग-अलग पात्र नही है। लेखक ने इन्हें मानवीय अहम् के प्रतिनिधि के रूप मे ही चित्रित किया है। इस रूप मे इन पांच पात्रों का अहम् लेखक के अन्य उपन्यासों में चित्रित पात्रो के अहम् से भिन्न है। अन्य पात्रों का अहम् व्यक्ति का अहम् है जबकि इन पात्रों का अहम् व्यक्ति का न होकर मानव जाति का है।

'रेखा' उपन्यास के प्रोफेसर प्रभाशंकर को भी हम अहम् के सीखचों में आवद्ध कैदी के रूप मे पाते है। अतर्राष्ट्रीय ख्याति के प्रोफेसर की गंभीरता और शालीनता का आवरण उपन्यास के अंत तक उतर जाता है। अपनी सुविधा के लिए प्रोफेमर प्रभाशंकर डॉ० योगेन्द्रनाथ को आसलो विश्वविद्यालय जाने को मजबूर करते हैं। जाते-जाते योगेन्द्रनाथ सकेत दे जाता कि सारे प्रकरण के मूल में दोषी

---

१. डॉ० रणवीर राग्रा हिन्दी उपन्यास में चरित्र-चित्रण का विकास, पृ० २५२

२. टेढ़े-मेढ़े रास्ते, पृ० ४३०

स्वयं प्रभाशंकर है। उस समय प्रभाशकर का चित्रांकन इस तरह हुआ है, 'योगेन्द्रनाथ जाते-जाते उन पर प्रहार कर गया—प्रभाशंकर ने अनुभव किया, और उस प्रहार से प्रभाशंकर तिलमिला उठे। प्रभाशकर ने जो चाहा वही हुआ, कही भी उन्हें योगेन्द्रनाथ से किसी प्रकार का प्रतिरोध नही मिला, लेकिन प्रभाशंकर के अदर यह भावना भर गई कि वह पराजित हुए और उनके अदर एक अशान्ति भर गई। अपना सिर थामकर वह बैठ गए। क्रोध और पराजय की यह चुभन ! उन्हे ऐसा लग रहा था कि उस पीडा से वह बेहोश हो जाएंगे।'"[1] प्रभाशंकर के अंदर उठने वाला पराजय का यह भाव योगी कुमारगिरि के भाव की ही तरह है। इतना ही नही, पराजय का अनुभव होने के बाद प्रभाशंकर रेखा से उसी तरह की कटु भाषा बोलते हैं जैसी कुमारगिरि चित्रलेखा से बोलता है।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि इन सभी अहम्वादी पात्रो को अत में पराजित चित्रित किया गया है। कुमारगिरि साधनाभ्रष्ट हो जाता है, रामनाथ तिवारी एकाकीपन को भोगने के लिए अभिशप्त होते है, 'पांच बडे' अपनी तमाम सामर्थ्य के बाद भी बाढ़ से पराजित होते हैं, प्रभाशंकर अपने ही द्वारा उत्पन्न किए गए मानसिक तनाव के कारण मृत्यु को प्राप्त होते हैं। वास्तव में भगवती बाबू दर्शाना चाहते हैं कि अहम् की अति मनुष्य के, लिए घातक है। ऐसा अहम् जो मनुष्य को सारी दुनिया के और ईश्वर के सामने भी विरोधी बनाकर खड़ा कर दे, मनुष्य के पतन और विनाश का कारण बनता है। भगवती बाबू अहम् के परिष्कार की कल्पना करते हैं। मानव के अदर अहम् हो यह ठीक है पर वह अपने को कर्ता न समझे इसीमें उसका कल्याण है। अहम् के पराजय का चित्रण करने से भगवती बाबू के कुछ पात्रों में स्वाभाविकता भी आई। पराजय के कारण ही कुमारगिरि और प्रभाशंकर 'सुपर ह्यूमन' बनने से बच गए हैं। किन्तु इसके बाद भी यह बात देखी जा सकती है कि अहम् से भरे पात्रों को लेखक की सहानुभूति मिली है। यह बात उनके सभी उपन्यासों मे द्रष्टव्य है। चाहे 'सामर्थ्य और सीमा' के पात्र हों या 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' के पात्र—ये सभी इस तरह चित्रित किए गए हैं कि पाठक को लुभावने लगते हैं। कही-कहीं लेखक अनायास कोई ऐसा फतवा दे बैठता है कि अहम्मन्यता का समर्थन हो जाता है। 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में जब रामनाथ तिवारी अपने अहम् की घोषणा करते हैं तब वातावरण का चित्रण भगवती बाबू इस तरह करते है :

' थोडी देर तक वहा गहरा सन्नाटा छा या रहा। अपने पिता के उस रूप को प्रभानाथ ने पहले कभी नही देखा था। वीणा ने बहुत धीरे से कहा, 'यह मनुष्य है या दानव !'

---

१. रेखा, पृ० ३३३

"और मनमोहन बोल उठा, 'काश कि हरेक आदमी ऐसा ही बन सकता।' और उसने एक ठंडी सांस ली।"[1]

व्यक्तिवादी किन्तु परतंत्र पात्र

अहम् से भरे हुए उक्त पात्रों के अलावा भगवती बाबू के उपन्यासों में व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन को व्यक्त करने वाले पात्र भी हैं। ये पात्र समाज की मान्यताओं पर विश्वास न करके अपनी मान्यताओं पर विश्वास करते हैं। उनके लिए धर्म और नैतिकता के नियम भी कोई अर्थ नही रखते और वे उन नियमों को तोड़कर जीते हैं। 'चित्रलेखा' की चित्रलेखा और बीजगुप्त, 'तीन वर्ष' का अजित और प्रभा, 'भूले-बिसरे चित्र' की जैदेई, 'सीधी-सच्ची बातें' की कुलसुम, 'प्रश्न और मरीचिका' की मंजीत ऐसे ही पात्र हैं।

किसी दर्शन-विशेष पर लेखक की अत्यधिक आस्था हो तो यह दोष उत्पन्न हो जाता है कि लेखक दार्शनिक और सामाजिक तत्त्वों की व्याख्या लम्बे भाषणों और विस्तृत विवेचनाओं के द्वारा करता है। इन लम्बे भाषणों का बोझ कई बार पात्रों के सर पर आ जाता है और उन पात्रों को स्वयं न बोलकर वह बोलना पड़ता है जो लेखक व्यक्त करना चाहता है। ऐसे समय पात्रों को लेखकीय विचाराधारा की परतंत्रता भुगतनी पड़ती है। श्री नारायण अग्निहोत्री तो जीवित मनुष्यों की तरह उपन्यासों के पात्रों के अधिकार स्वीकार करते हैं।[2] भगवती बाबू कभी-कभी अपने पात्रों के इस अधिकार को छीनते दिखलाई देते हैं। यह दुर्घटना तब होती है जब भगवती बाबू विभिन्न विषयों पर अपनी राय प्रकट करना चाहते हैं। कभी-कभी राय इतनी लम्बी हो जाती है कि उनके किसी पात्र को कई पृष्ठों तक बिना रुके बोलना पड़ता है। 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' के रामनाथ तिवारी को लेखक के इशारे पर या तो बहुत बोलना पड़ा है या आवश्यकता से अधिक सोचते हुए स्वगत कथन के स्तर का चिंतन करना पड़ा है। कुछ अन्य पात्र भी ऐसा करते हैं। निश्चय ही ऐसे स्थलों पर चरित्र-चित्रण की स्वाभाविकता को आघात लगा है। यही कारण है कि डॉ० त्रिभुवन सिंह ने 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' के पात्रों के लिए 'टिपिकल'[3] शब्द का प्रयोग किया है।

कहीं-कहीं ऐसा भी लगता है कि उनके पात्रों का उद्देश्य जीना नहीं है बल्कि सामाजिक विसंगतियों को प्रस्तुत करना है। यह दोष 'सीधी-सच्ची बातें' और 'प्रश्न और मरीचिका' के चरित्रांकन में भी दिखलाई पड़ता है। इन उपन्यासों के

---

१. टेढ़े मेढ़े रास्ते, पृ० ३००
२. श्री नारायण अग्निहोत्री, उपन्यास : रूप एवं तत्त्वविधान पृ० ८०
३. डॉ० त्रिभुवन सिंह, हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद, पृ० १२४

पात्रों को भी कभी-कभी व्यर्थ बोलना पड़ा है और कभी-कभी किसी विशिष्ट प्रकरण के विभिन्न पहलुओं पर विचार करना पड़ा है। 'सीधी-सच्ची बातें' के नीरस संवादो के कारण उपन्यास के पात्रों की 'इमेज' अत्यत धुंधली पड़ जाती है। इसका नायक जगत तो बिलकुल ही लेखक की कठपुतली बनकर रह गया है। ओम प्रभाकर ने भगवती बाबू की इस प्रवृत्ति के विषय मे लिखा है, "आपके (भगवती बाबू) चरित्रों का व्यक्तित्व स्वतत्र नही होता, ऐसा प्रतीत होता है कि उपन्यासकार अपनी मान्यताओ को चरित्रों के ऊपर आरोपित कर रहा है।"[१]

नियतिवादी दर्शन और चरित्रांकन

भगवती बाबू नियतिवादी हैं अतः यह स्वाभाविक ही है कि उनके पात्र भी नियतिवादी हों। 'पतन' से लेकर 'प्रश्न और मरीचिका' तक हर उपन्यास का मुख्य पात्र नियतिवादी है। मुख्य पात्रों के अलावा कितने ही गौण पात्र नियतिवाद को स्वीकार करते दिखलाई पड़ते हैं। यहां तक कि अहम् से भरे हुए पात्र भी अपने क्रिया-कलापों को स्वतंत्र नहीं मानते और स्वीकार करते हैं कि परिस्थितियों और अतिमानवीय शक्ति के आगे वे विवश हैं। रामनाथ तिवारी जैसा अहम् से भरा व्यक्ति घनघोर नियतिवादी है। उसके अंदर परिस्थितियों से जूझने की क्षमता है। पर वे अदृश्य की शक्ति के सामने अपनी शक्ति की तुच्छता को स्वीकार करने मे किसी तरह की झिझक नही दिखलाते। इस सदर्भ में यह अध्ययन आवश्यक है कि भगवती बाबू का नियतिवादी जीवन-दर्शन उनके चरित्रांकन को किस तरह प्रभावित करता है। इस बात का विश्लेषण रोचक है कि लेखकीय विचारधारा जाने-अनजाने पात्रों को किस तरह विशिष्ट स्वरूप प्रदान करती है।

पात्रों द्वारा त्रुटियों से नकार

नियतिवादी जीवन-दर्शन के अनुसार मनुष्य परिस्थितियों का दास है। वह अपनी इच्छा से परिचालित नहीं है। भगवती बाबू की इस दृढ़ धारणा का स्पष्ट प्रभाव यह पडा है कि उनके पात्र भावुकता से परिचालित होते है। अपनी भावुकता मे भरकर वे जो कुछ भी करते हैं उसे वे अपनी गलती स्वीकार नहीं करते। 'पतन' के पात्र इस प्रवृत्ति के श्रेष्ठ उदाहरण है। भवानी शंकर और सरस्वती अपनी भावुकता के अतिरेक में अपना जीवन दुखी बनाते हैं पर वे परिस्थितियों को दोषी मानते हुए गलतियां करते जाते हैं। इस उपन्यास में नवाब वाजिद अलीशाह का चित्रांकन इस संदर्भ में द्रष्टव्य है। इतिहास गवाह है कि

---

१. ओम प्रभाकर, अज्ञेय का कथा साहित्य, पृ० १५

वाजिद अलीशाह अपनी विलासिता और अकर्मण्यता के कारण पद-च्युत हुए थे। पर भगवती बाबू ने नवाब की कमजोरियों का दोप उन्हे बिगाडने वालों पर डाला है। इस तरह तो यह प्रश्न भी उठ सकता है कि नवाब को बिगाडने वालों को भी क्यो दोषी माना जाए ? उन्हें भी किसीने बिगाड़ा होगा। नवाब अपनी अकर्मण्यता नियति के पर्दे मे ढांकने का प्रयास करते हुए चित्रित किए गए है। वाजिद अलीशाह अपने मित्र से कहते है, "नवाब साहब, जानते है ऊपर खुदा है और उसकी मर्जी हमेशा पूरी होगी, फिर मै यह सब क्यों करू।"[१] लेखक स्वय भी पाठक पर यह प्रकट करना चाहता है कि नवाब निर्दोष थे। स्वभाव से ही असतुलित पात्र की त्रुटियों को लेखक उसकी विवशता का रूप देता है। कभी-कभी इस तरह का अकन लेखक के मानवतावादी दृष्टिकोण का भ्रम भी पैदा करता है। किन्तु वस्तुतः इसके पीछे मानवतावादी दृष्टिकोण उतना नहीं है जितना कि लेखक का विशिष्ट जीवन-दर्शन है।

'आखिरी दांव' का रामेश्वर भी अपनी स्वयं की गलती से अपने जीवन को नष्ट करता है। रामेश्वर उपन्यास के प्रारम्भ से एक व्यावहारिक व्यक्ति की तरह दिखलाई पड़ता है पर चमेली की विवशता के बारे मे जब उसे मालूम होता है तब वह अत्यधिक भावुक हो उठता है और अपने को ही दोषी मान लेता है। वह पैसे कमाने की धुन मे अपराध की दुनिया मे प्रवेश करता है। चमेली स्वयं काफी धन कमाने के बाद उससे बार-बार धंधा छोडकर कही और चलने का आग्रह करती है। रामेश्वर आधिकाधिक धन अर्जित करने के फेर में अपराध की दुनिया में कुछ दिन और बना रहना चाहता है। उसकी इस दुर्बलता को लेखक इस तरह चित्रित करता है—"चमेली ने देख लिया कि नियति के चक्र को बदला नहीं जा सकता। जो होना है वह होकर रहेगा, आदमी को बनाने-बिगाड़ने वाला कोई दूसरा ही है।"[२]

मनुष्य परिस्थितियों से परिचालित होता है इस बात को आज बहुत लोग स्वीकार करते है पर इसका अर्थ यह नहीं कि व्यक्ति द्वारा बार-बार दुहराई गई गलती को भी मनुष्य की विवशता स्वीकार कर लिया जाय। किन्तु भगवती बाबू इसका विश्वास दिलाना चाहते हैं। 'रेखा' उपन्यास की नायिका रेखा वयस्क है, पढी-लिखी है। जब वह तर्क करती है तो अन्य पात्र उसके दर्शन-शास्त्र में 'टॉप' करने की याद एक-दूसरे को दिलाते हैं किन्तु वही रेखा भावुकता के अतिरेक में एक ही प्रकार की गलती करती दिखलाई पड़ती है। न रेखा अपनी गलती स्वीकार करती है और न लेखक ही उसे गलत बतलाता है। जब-जब वह किसी

---

१. पतन, पृ० ३४

२. रेखा, पृ० १६१

की शय्या को आबाद करती है तब अल्प वयस्क की तरह भावुक होकर अपने-आपको विश्वासघातिनी कहती है किन्तु वही कार्य वह बार-बार करती है। शशिकान्त उसे अपने निवास स्थान चलने को कहता है। इस आमन्त्रण का अर्थ रेखा जानती है। वह आमन्त्रण स्वीकार कर लेती है। इस सम्पूर्ण प्रकरण मे लेखक रेखा को साफ निर्दोष साबित कर देता है। वह लिखता है—"रेखा ने भरपूर निगाह से शशिकान्त को देखा। अदृश्य उसे कहा लिए जा रहा है, वह आश्चर्य कर रही थी।"

यहां पाठक इस बात को नही भूल पाता है कि शशिकान्त रेखा के जीवन का पहला नाजायज पुरुष नही है। अदृश्य की दुहाई उसके ध्यान को बटाने में असमर्थ होती है।

पात्रों के पतन का संदर्भ

भगवती बाबू के उपन्यासो के पात्र अपने पतन के अवसर पर नियतिवाद की घोषणा अधिक उच्च स्वर में करते है। इसमें संदेह नही कि उनके कुछ पात्र ऐसे हैं जो नियति की शक्ति से टकराते है। लेखक मनुष्य को इसी रूप मे देखने का इच्छुक कई स्थलों पर दिखलाई पड़ता है किन्तु जीवन के छोटे-छोटे क्रिया-कलापों को भी नियतिवादी तुला पर तोलने की उसकी प्रवृत्ति ने ऐसे पात्रों की सृष्टि की है जो अपने विवेक का प्रयोग नही करते और नियति के थपेड़ों को निर्लिप्त भाव से सहते है। ये पात्र अपने हर क्रिया-कलाप मे नियतिवादी नही है पर अपने पतन के अवसर पर नियतिवादी हो उठते है। 'पतन' उपन्यास मे भवानी शकर सरस्वती के मोहपाश से छुटकारा पाने के लिए अपनी बुद्धि से प्रेरित होकर उससे दूर भागा था किन्तु जब वह सरस्वती से संयोगवश दुबारा मिलता है तो उसके गले में हाथ डालकर कहता है, "सरस्वती, मैंने जो सोचा था, वह नही हो सका। परमेश्वर को यही मंजूर है, फिर यही सही। मिलने दो, हम दोनों रसातल मे पहुंच जाएं इसकी कोई चिंता नहीं।" भवानी शंकर अपने प्रेम का अंधापन स्वीकार नही करता बल्कि इसे नियति का खेल स्वीकार करता है।

'आखिरी दांव' में चमेली का शिवकुमार को आत्म-समर्पण करना निश्चय ही उसकी मजबूरी है किन्तु शीतलप्रसाद के बिछाए हुए जाल मे शनैः-शनैः वह, अपनी सजगता के उपरांत, फंसती है। पाठक जिसे उसकी गलती मानता है भगवती बाबू उसे उसकी नियति के रूप में चित्रित करते है। चमेली जब हीरोइन बनकर कुछ पैसे अर्जित कर लेती है तब रामेश्वर से वह बम्बई छोडकर बाहर चलने को कहती है किन्तु शीतल प्रसाद जब अपने पैसो से उसके लिए शेयर खरीद-कर उसे कम्पनी का मैनेजिंग डायरेक्टर बनाना चाहता है तब वह इसे 'नियति' के नाम पर स्वीकार कर लेती है :

"शीतल प्रसाद अपनी बात कह रहा था और चमेली के मुख की कठोरता गलती जा रही थी। जिस समय तक शीतल प्रसाद ने अपनी बात समाप्त की चमेली के मुख की स्वाभाविक कोमलता उसके मुख पर लौट आई। चमेली ने केवल इतना कहा, 'सेठ, समझ नही पा रही हूं—शायद इस नियति के विधान को कभी कोई नही समझ सकेगा।' "[1]

'वह फिर नही आई' की रानी श्यामला अपनी इच्छा से, बल्कि अपने भावावेश मे वेश्यावृत्ति अपनाती है। ज्ञानचद सच्चे मन से उसे सहारा देना चाहता है। ज्ञानचद श्यामला से प्रेम करता है और श्लामला भी उसकी और पर्याप्त आर्कषित है पर श्यामला फिर भी नही रुकती और अपनी इच्छा से पतित जीवन ओढ लेती है। थके स्वर में वह कहती है, "मै नही जानती की मैं सही कर रही हू या गलत कर रही हूं। मै यह भी नही जानती कि जो कुछ मै कर रही हू वह खूद कर रही हूं या यह सब मुझसे कोई दूसरा ही करवा रहा है।"[2]

पात्रों को अनायास प्राप्त सुविधा

भगवती बाबू हर दृष्टि से एक सफल आधुनिक उपन्यासकार है किन्तु उनमें एक पुरानी प्रवृत्ति विद्यमान है। उनके उपन्यासों मे आकस्मिक सयोग उपस्थित होते है और उनके पात्रो को अनायास सुविधा प्राप्त हो जाती है। पात्रों के लिए ऐसी सुविधा जुटाने के पीछे उनकी पुरानी प्रवृत्ति अथवा किस्सागोई की प्रवृत्ति-भर नही है बल्कि उसके पीछे अप्रत्यक्ष रूप से उनका नियतिवादी दर्शन विद्यमान है। इन जुटाई गई सुविधाओ को वे सहज ही भाग्य के मोड के रूप मे चित्रित कर देते है। उनके नायकों को विशेष रूप से यह सुविधा मिलती है और कभी-कभी गौण पात्रों को भी।

यह सुविधा पात्रों को अप्रत्याशित रूप से प्राप्त सम्पत्ति और सहज रूप से मिलने वाल शारीरिक सुख के रूप मे मिलती है। 'चित्रलेखा' के सहनायक श्वेताक को अनायास सम्पत्ति, पदवी और सुदर पत्नी की प्राप्ति होती है। 'तीन वर्ष' मे रमेश के लिए प्रयासपूर्वक सुविधाएं जुटाई गई है। पहले अजित उसकी सुख-सुविधाओं का ध्यान किसी भी 'बाप' से अधिक करता है। उत्तरार्द्ध में यह कार्य-भार सरोज सम्भाल लेती है। वह रमेश जो प्रारम्भ मे एक दीन-हीन विद्यार्थी के रूप में दिखलाई पड़ता है, उपन्यास के अत में लखपति के रूप मे सब को चकाचौंध करता है। सरोज के पास से भागते समय ट्रेन मे ही उसे नौकरी मिल जाती है। यहां यह कहने का लोभ संवरण करना जरा कठिन है कि भगवती

---

1. आखिरी दाव, पृष्ठ २०७-२०८
2. वह फिर नही आई, पृष्ठ १११

बाबू के उपन्यासों मे ट्रेन बहुत महत्त्वपूर्ण 'रोल' अदा करती है। ढेरो पात्र इसी के माध्यम से एक-दूसरे के करीब आते है। 'भूले-बिसरे चित्र' मे गगा प्रसाद जैदेई का कृपापात्र बनकर ताल्लुकेदारो के ठाठ को मात करता है। दिल्ली दरबार के लिए सैकडों रुपये और कीमती अगूटी आदि उसे सरलता से प्राप्त हो जाती है। इसे स्वीकार करने मे किसीको भी हिचक न होगी कि सामान्यत: जीवन मे ऐसा नही होता।

'सीधी-सच्ची बातें' के नायक जगत पर तो चारों ओर से मेहरबानियों की बरसात होती है। हर समय उसके पास सैकडों रुपये डले रहते है। कुलसुम, परवेज, मालती, जसवत जैसे मेहरबानो से वह हमेशा घिरा रहता है। कुलसुम, यमुना, शिवदुलारी, सुषमा, मालती जैसी युवतियो के प्रेम को पाकर भी वह अंत तक परेशान ही रहता है। उसे भी सारी सुविधाए संयोगवश प्राप्त हो जाती है। सुविधाए 'प्रश्न और मरीचिका' के नायक उदयराज को भी मिलती है किन्तु वह उच्चवर्ग का व्यक्ति है अत: उसे पिता और ससुर के प्रभाव से सुविधाए मिलती है। किन्तु पूर्व चर्चित पात्रों को केवल भाग्य से ही सब कुछ मिल जाता है। वास्तव मे ये पात्र ईर्ष्या के पात्र है।

सामंतवादी पात्र और नियतिवाद

भगवती बाबू के उपन्यासों में एक बडी सख्या सामतवादी पात्रों की है। राजाओं, जमीदारों, ताल्लुकेदारों को भगवती बाबू ने अत्यत स्वाभाविकता से चित्रित किया है। ये पात्र अधिकांशत: ब्रिटिश भारत के काल के है। उनकी सम्पूर्ण शान-शौकत, उनकी खूबियां, उनकी सनक, उनकी कमजोरियां और बदलते हुए युग के साथ उनका नष्ट होना—सभी कुछ भगवती बाबू की कृतियो में जीवंत हो उठा है। लेखक यह तो प्रारम्भ से मानता रहा है कि काल की सत्ता अजेय है अत: हर वस्तु को मिटना है और हर परम्परा, समाज तथा युग को बदलना है—अत: इस अवश्यंभावी कालप्रवाह को सहजता से स्वीकार करना चाहिए। जो कुछ होता है ठीक ही होता है—यह मानने के बाद भी भगवती बाबू के मन मे सामतवादी युग और सामंतवर्गीय पात्रों के लिए 'शाफ्ट कार्नर' है। 'तीन वर्ष', 'टेढे-मेढ़े रास्ते', 'भूले-बिसरे चित्र', 'सामर्थ्य और सीमा', 'वह फिर नही आई', 'सबहि नचावत राम गुसाई' में कितने ही सामंतवर्गीय पात्रों के माध्यम से उनकी सम्पूर्ण दुनिया पाठक के सामने मूर्तिमान हो उठती है।

भगवती बाबू के उपन्यासों के अध्येता को यह बात बड़ी आसानी से समझ मे आ जाती है कि उनके सामत वर्ग के पात्र नियतिवादी हैं। बल्कि यह कहना भी उचित होगा कि लेखक के दर्शन का अधिकांश इन्ही पात्रों के माध्यम से व्यक्त हुआ है। अपनी रहस्यमय गंभीरता को लिए हुए ये पात्र नियतिवाद पर

अपनी दृढ़ आस्था प्रकट करते है। 'तीन वर्ष' का अजित; 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' के रामनाथ तिवारी; 'भूले-बिसरे चित्र' के ठाकुर गजराज सिंह, बरजोर सिह, रिपुदमन सिह; 'सामर्थ्य और सीमा' के नाहर सिह, रानी मानकुमारी; 'वह फिर नही आई' की श्यामला; 'सबहि नचावत राम गुसाई' के रामसमुझ, रामलोचन पाण्डे आदि नियतिवाद पर विश्वास करते है। 'भूले-बिसरे चित्र' मे इस वर्ग का आत्यतिक चित्रण है। आसन्न विनाश में कुछ भी कर गुजरने की सामतवादी प्रवृत्ति गजराज सिह और बरजोर सिह के माध्यम से चित्रित की गई है। बरजोर सिंह की बरबादी का समाचार लेकर ज्वालाप्रसाद ठाकुर गजराज सिह के यहां जाता है :

" 'हुइहै वहि जो राम रचि राखा।' गजराज सिंह ने तुलसीदास की चौपाई पढी, 'अब आप आराम कीजिए जाकर ज्वाला बाबू। इस बुखार की हालत में हम लोगों की चिंता करके आप दौड़े आए हैं, इसके लिए धन्यवाद। लेकिन आपके चिंता करने से कुछ बनेगा नही, यह तो आप देख ही चुके हैं। नियति के क्रम को भला कोई बदल सका है।' "[१]

ज्वालाप्रसाद को बिदा करते-करते गजराज सिह यह भी कहता है, "जिस चीज को आप ठीक तौर से नही करवा सके, उसे अपने-आप सही-गलत ढंग से होने दीजियेगा।"[२]

यह ठेठ सामंतवर्गीय प्रवृत्ति है। अगर अपनी मनचीती न हो तो सही-गलत ढग से कुछ भी कर गुजरना इस वर्ग का इतिहास रहा है। इस दुस्साहस के मूल में भाग्यवाद ही विद्यमान है। इसे उलटकर भी कहा जा सकता है कि इस वर्ग के भाग्यवाद के मूल में यह दुस्साहस रहा है। परिणाम ! बरजोर सिंह प्रभु दयाल की हत्या करके स्वयं आत्महत्या कर लेता है।

'सामर्थ्य और सीमा' के नाहर सिंह हर परिवर्तन को नियति का इगित मान कर उसका मुकाबला करने मे विश्वास रखते है तो 'तीन वर्ष' का अजित प्राप्त धन को भाग्य की देन मानकर उसे मुक्त हस्त से लुटाता है। सामंतवादी वर्ग को विरासत में प्राप्त होने वाली अनायास सुख-सुविधाओं ने नियतिवादी बनाया। साथ ही एक कारण और है। भारत मे प्रचलित उत्तराधिकार के नियमानुसार राजा का बड़ा लड़का राज्य का उत्तराधिकारी बनता था। राजा के ही अन्य पुत्र केवल गुजारेदार बनते थे। बड़ा-छोटा होना केवल संयोग की बात है किन्तु उसी संयोग के कारण कोई राजा हो जाता था और कोई सामान्य प्रजा। इस बात ने सामंतवादी वर्ग को नियतिवादी बनाया और इस वर्ग का प्रभाव जन सामान्य पर पड़ा। राज-मत ही कालान्तर में जन-मत के रूप में पल्लवित हुआ। 'तीन वर्ष'

१. भूले-बिसरे चित्र, पृ० ५८
२. वही, पृ० ५८

का अजित इसी बात को रमेश के समक्ष इन शब्दों में प्रस्तुत करता है :

"तुम्हे मेरा धन लेने मे संकोच होता है, केवल इसलिए कि तुम इस धन को अपना नही समझते। पर यह धन मेरा भी तो नहीं है। मैंने भी तो इसे उपार्जित नही किया। मुझे अपने पिता से मिला ? यह एक लम्बा चक्कर है, जिसे कोई नही सुलझा सकता—मैं तो इसे केवल विधि का विधान समझता हूं। मै तो यह जानता हू कि मैने एक राजा के यहां इसलिए जन्म लिया कि मै इस धन को भोगूं। जिस भगवान ने मुझे राजा के यहां जन्म दिया उसने मुझे छोटा भाई क्यों बनाया ? यदि मैं बड़ा भाई होता तो राजा ही होता। इसका भी उत्तर मेरे पास है। मुझे केवल इतना ही भोगना है, मेरे बड़े भाई को भगवान ने अधिक वैभव दिया है। बस।"[1]

जिस तरह भगवती बाबू ने इस वर्ग के लोगों के नियतिवादी विचारों का चित्रण किया है उसी तरह उनकी सनक और गैर जिम्मेदारी का सुंदर चित्रण भी किया। 'सबहिं नचावत राम गुसाई' तो इसका दस्तावेज ही है। लेखक की व्यंगात्मक दृष्टि सामतवर्ग के पात्रों के जीवन की विसगतियों को उधेडकर रख देती है। सामतवर्ग की नियतिवादी प्रवृत्ति और उसके बीच पनपती हुई विकृतियों की स्वीकारोक्ति 'भूले-बिसरे चित्र' मे लाल रिपुदमन सिंह के शब्दों में इस तरह है, ' बाबू गगाप्रसाद, मैंने अभी-अभी कहा था कि परिस्थितियां मनुष्य को बनाती-बिगाड़ती है। यह ऐश्वर्य और भोग-विलास का जीवन, जहा कोई चिन्ता नही, कोई क्रम नहीं, कोई जिम्मेदारी नही—इस जीवन में मनुष्य बड़ी जल्दी बहकता है। जहां धन है वहा धन ही देवता बन जाया करता है, क्योंकि धन में शक्ति केन्द्रित हो चुकी है। यह मेरा दुर्भाग्य है बाबू गंगाप्रसाद, कि मै ऐसे कुल मे पैदा हुआ जहा चिन्ताओं के अभाव में विकृतियों का साम्राज्य है।"[2]

खलनायकों का नितांत अभाव

भगवती बाबू के तेरह उपन्यास अब तक प्रकाशित हो चुके हैं। यह बात आश्चर्यजनक मालूम हो सकती है कि इन तेरह उपन्यासों मे, जिनमें भारत के लम्बे काल का वर्णन है, एक भी परम्परागत खलनायक नही है। उनके उपन्यासों मे बुरे पात्र है, अनैतिक पात्र है। ऐसे पात्र भी हैं जिनका हृदय उनके बुरे कार्यो के लिए उन्हें धिक्कारता है पर किसीका भी चित्रांकन खलनायक के स्तर का नहीं है। 'पतन' का प्रताप सिंह ऐसा पात्र है जो कुकर्मो में लीन है। वह हत्या करता है, धोखा देता है और बिना किसी कारण के दूसरों की दुनिया उजाड़ता है। उसका हृदय उसे धिक्कारता है और वह स्वयं स्वीकार करता है कि वह 'शैतान

---

१. तीन वर्ष, पृ० ६८-६९

२. भूले-बिसरे चित्र, पृष्ठ २८६

के हाथ' बिक गया है। किन्तु कही भी उसका चित्रण इस तरह नही किया गया कि उससे पाठक घृणा कर सके। वास्तव मे भगवती बाबू के उपन्यासो मे खलनायकों के अभाव का कारण उनका नियतिवादी दर्शन है। वे इस बात पर घोर विश्वास करते है कि अपने कर्मो के लिए मनुष्य जिम्मेदार नही होता। "जहा तक प्रवृत्तियों का प्रश्न है, कभी-कभी मनुष्य मे एक-दूसरे की विरोधी प्रवृत्तिया डूबती-उतराती नजर आती है और उन प्रवृत्तियों को मोड़ देती रहती है परिस्थितियां।"[१]

भगवती बाबू का विश्वास है कि मनुष्य का आधारभूत व्यक्तित्व परिस्थितियों का सहारा पाकर प्रतिफलित होता है। ऐसी स्थिति मे किसीको बुरा कहना गलत है। 'पतन' का प्रताप सिह और 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' के रामनाथ तिवारी करीब-करीब एक ही श्रेणी के पात्र हैं। दोनों में अनन्त क्षमता और शक्ति है पर दोनो ही अपने अंदर की दुष्ट प्रकृति से बाध्य है। इन पात्रो के प्रति कही भी लेखक असहिष्णु नही दिखलाई पड़ता। जिन पात्रों को लेखक प्रथम दर्शन में ही 'उचक्का' कहता है बाद मे उन्हें भी नियति से परिचालित मान लेता है। 'आखिरी दांव' मे शिवकुमार का परिचय लेखक इन शब्दों में कराता है :

"शिवकुमार लखपति था लेकिन वह लखपति बना था अपने उचक्केपन से। जाल, फरेब, झूठ, बेईमानी—इन सभी गुणों में वह पारगत था। समाज में वह बड़ा शरीफ आदमी गिना जाता था, उसके दो मकान थे, कपड़े की एक थोक दुकान थी। सभा-सोसाइटियों मे वह सदा आगे रहता था। और रात के समय वह शराब पीता था, वेश्यागमन करता था, जुआ खेलता था। वह बड़े-बड़े बदमाशों का सरदार था।"[२]

इस शिवकुमार के प्रति नायिका चमेली का प्रारम्भ से ही क्रोध था पर एक स्थिति ऐसी आती है जबकि इसी शिवकुमार को वह 'मनुष्य' के रूप में मूल्याकन इस तरह करती है :

"थोड़ी देर तक वह शिवकुमार की ओर कौतूहल के साथ देखती रही, उसके सामने जो आदमी बैठा था वह न उतना घृणित धन-पिशाच था जितना उसने समझ रखा था, और न उतना बड़ा नरपशु था। मंझोले कद और दोहरे बदन का अधेड़-सा आदमी जो धन और सुख दोनों ही साथ-साथ पाना चाहता था। उस आदमी के अंदर भी भावना थी, इच्छा थी, अभिलाषा थी।"[३]

शिवकुमार जो कुछ कर रहा है नियति से प्रेरित होकर ठीक इसी प्रकार 'सबहिं नचावत राम गुसाईं' का बेईमान व्यापारी राधेश्याम और घूसखोर मंत्री

१. आखिरी दाव, पृ० ३१
२. वही
३. वही,, पृ० ११०

जबर सिंह भी राम गुसाईं के इंगित पर नाच रहे है। यही कारण है कि लेखक की उनसे असहमति है किन्तु उनके प्रति उसके अंदर आक्रोश नही है। इन पंक्तियों के लेखक ने भगवती बाबू से यह प्रश्न किया था कि 'सबहि नचावत राम गुसाईं' व्यंग्य उपन्यास है किन्तु उसमें न तो आक्रोश झलकता है और न ही विरोध। इसका क्या कारण है ? उत्तर में भगवती बाबू ने अपने पत्र मे लिखा :

" 'सबहि नचावत राम गुसाईं' एक सामाजिक व्यग्य है, लेकिन जैसा आपको अनुभव हुआ होगा उस व्यंग्य में आक्रोश नही है, कटुता नही है। कटुता और आक्रोश हो तो किसपर हो ? हरेक व्यक्ति विवश है उसके लिए जो वह कर रहा है। क्या बुराइयों पर प्रहार करने से बुराइयां नष्ट हो जाएंगी ?"[1]

लेखक के इस कथन से यह स्पष्ट झलकता है कि वह मनुष्य के किसी भी कर्म को स्वतंत्र नही मानता। वस्तुत: भगवती बाबू के जीवन-दर्शन में ही खल-नायक का कही स्थान नही है इसीलिए उनके उपन्यास भी खलनायको से हीन है।

नारी पात्र : विशेषताएं

भगवती बाबू के उपन्यासों चित्रित नारी पात्रो की कुछ अपनी विशेषताएं हैं। उनकी दृष्टि को खीचने वाली उनकी पहली विशेषता है उनकी उन्मुक्तता। भार-तीय समाज ने नारी के शरीर के साथ नैतिकता का बड़ा गहरा सबंध जोड़ रखा है। किसी न किसी रूप में यह विचार आज के आधुनिक समाज मे भी जीवित है। इसी आदर्शवादी दृष्टिकोण के कारण बिना शारीरिक सबंध स्थापित किए आत्मिक प्रेम को ऊंचा समझने की विचारधारा पनपी। "प्रेम के क्षेत्र मे यह विचित्र विरोधाभास है जिसे हिन्दी उपन्यासो ने प्राय: बिना किसी सदेह के प्रश्रय दिया है। शरीर को यद्यपि हमेशा तुच्छ ही माना गया है लेकिन सबसे अधिक हीला-हवाला और द्वद्व शरीर-सम्पर्क को लेकर ही उपस्थित किया जाता है।"[2] भगवती बाबू ने अपने नारी पात्रो को इस 'टैबू' से बाहर निकालने का प्रयास किया।

देश और विदेश में भी नारी के लिए सेक्स की नैतिकता एक पक्षीय रही है। वह किसी न किसी रूप मे सम्पत्ति के स्तर की वस्तु रही है।[3] भगवती बाबू के

---

१. पत्र नम्बर एक

२. डॉ० विजयमोहन सिंह : आधुनिक हिन्दी उपन्यासों से प्रेम की परिकल्पना, पृ० १५४

3. Sex Morals for women have been one-sided, they have been purely negative, inhibitory and repressive. They have been fixed by agencies which have sought to keep women enslaved, which have been determind, even as they are now to use women solely as an asset to church, the state and the man.

मार्गरेट सैंजर, वुमन एण्ड द न्यू रेस (लदन), पृ० १७६

उपन्यासो की नारी पात्राएं सेक्स की इस नैतिकता का भी अतिक्रमण करती है। उनके उपन्यासो की नारियां पुरुष के साथ शारीरिक सम्पर्क स्थापित करने को शीघ्र ही तैयार हो जाती है। कभी-कभी तो ये नारी पात्राए स्वय ही आगे बढ-कर पुरुष को जकड लेती है। 'रेखा' स्वय पुरुष को अपनी शय्या का साथी बनाती हुई दिखलाई देती है। कम से कम योगेन्द्रनाथ और निरजन कपूर को वह स्वयं ही अपनी तृप्ति का साधन बनाती है। जँदेई स्वयं अपने-आपको ज्वालाप्रसाद को समर्पित करती है। 'सीधी-सच्ची बातें' मे शिवदुलारी और सुषमा जगत का दामन थामती है। 'प्रश्न और मरीचिका' मे सोफी और बिदेसरी यही करती हैं। इन नारी पात्राओं के अलावा अन्य नारी पात्राए भले ही स्वय आगे बढकर पुरुष का रसास्वादन न करें पर अत्यन्त सरलता से वे पुरुष के साथ सम्पर्क स्थापित कर लेती है। 'आखिरी दांव' की चमेली शिवकुमार के द्वारा किए गए पहले ही एहसान के बदले अपने-आपको उसे सौंप देती है। 'वह फिर नही आई' की रानी श्यामला ज्ञानचंद को आकर्षित करना चाहती है। उसके पास इतना रूप है कि वह आसानी से ज्ञानचंद को लुभा सकती है पर वह और कुछ न करके रात को ज्ञानचंद के कमरे में घुसती है और स्वयं ही कमरा बद कर देती है।

इन नारी-पात्राओं में कुछ को अपने असयम पर दुख होता है और कुछ इसे स्वाभाविक मानती है। चमेली अपनी विवशता पर और रेखा अपनी उच्छृं-खलता पर दुखी होती है। किन्तु शिवदुलारी, सोफी, बिंदेसरी, जँदेई अपने संबंधों पर प्रसन्न होती है। जँदेई तो ज्वालाप्रसाद के साथ अपने संबध को अपना भाग्य मानती है। शिवदुलारी जगत के साथ स्थापित हुए अपने सबंध को 'प्रेम' की ही संज्ञा दे देती है। सोफी उदयराज के साथ हुए अपने संबंध को अत्यंत स्वाभाविक रूप से ग्रहण करती है। वह बिंदेसरी तो दमित वासना के विस्फोटक ज्वालामुखी पर ही बैठी हुई है। वह अपने को मसल देने वाले पुरुष की तलाश में ही है। उदय की ओर इशारा करके वह अपने ससुर से कहती है, "थके कैसे बिदेसरिया ? जवानी का जोश और तुम सिवालिक राय, अपनी शक्ल तो देखो। थकाय तो हमें सकत हैं यह उदय बाबू।"[1]

किन्तु ये स्वच्छद नारियां भी अंततोगत्वा आत्मिक प्रेम के परम्परागत घेरे को तोड़ नहीं सकी है। रेखा बार-बार शारीरिक सुख के लिए अपने को समर्पित करती है पर आत्मा से प्रोफेसर की बनी रहने का दावा करती है। कुमारगिरि को समर्पित होने के बाद चित्रलेखा और शिवकुमार को समर्पित होने के बाद चमेली के अदर अपनी अपवित्रता के लिए अपराध-बोध उत्पन्न होता है। यह किसी न किसी रूप में प्रचलित 'टैबू' के प्रति आस्था ही है। दूसरी बात यह भी

---

१. प्रश्न और मरीचिका, पृ० ४००

दिखलाई पड़ती है कि उपन्यास की सारी नारियां जब दूसरों की अथवा अपनी ही दृष्टि में पतित होती है तो वे पुरुषों को इसके लिए दोषी ठहरा देती है। 'पतन' की सरस्वती अपने पतन का दोष भवानी शंकरको देती है। 'भूले-बिसरे चित्र' की संतो अपने पतन के लिए गंगाप्रसाद को दोषी मानती है, "मेरे देवता, तुम्ही ने तो मुझे वह बनाया है, जो मै हूं।"[१] 'प्रश्न और मरीचिका' की रूपा शर्मा शिवकुमार के साथ रात बिताती है ताकि उसका रुपया वह चुरा सके। रुपया चुराने के बाद अपनी इस प्रवृत्ति के लिए अपने को मासूम बतलाकर दूसरों को दोषी ठहराती है, "मैंने जान-बूझकर पाप नही किया, मुझसे पाप करवाए गए है। हरेक आदमी ने मुझे प्रलोभन दिया, मुझे खरीदा। और मैं बिकती गई। सच कहती हूं जो-जो आदमी मेरे साथ सोया है मैं उससे भयानक रूप से घृणा करती हूं।"[२] कम से कम रूपा शर्मा के सबंध में यह एक अत्यंत लचर दलील है क्योंकि उसके लिए ऐसी कोई भी विवशता नहीं थी। वह केवल अपनी तरक्की के लिए ऐसा करती है। इसे हम भगवती बाबू की नारी पात्राओं की सामान्य विशेषता स्वीकार कर सकते हैं।

इन स्वच्छंद नारियों की एक विशेषता यह भी है कि वे पुरुष को सक्षम और स्त्री को अक्षम मानती है। स्वयं भगवती बाबू और उनके पुरुष-पात्र तो यह मानते ही हैं, उनकी नारियां भी इस बात को मुक्त कठ से स्वीकार करती हैं। रानी मानकुमारी जैसी रियासत की अधिकारिणी से लेकर सर्वहारा वर्ग की चमेली जैसी नायिका तक यही कहती दिखलाई देती है कि स्त्री अबला है। बाढ़ के प्रकोप को देखकर रानी मानकुमारी नाहर सिंह से कहती है, "आप पुरुष है कक्का जी, आप युद्ध कीजिए। यह नारी तो अबला है, यह युगों युगों से विवश और पराजित है। नारी कब स्वयं अपनी रक्षा कर सकी है।"[३]

'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' की दमदार महिला हिल्डा जो जर्मनी की कम्युनिस्ट पार्टी की सचिव है, अपने अंतर्मन में कही अपने को पुरुष पर आश्रित मानती है।[४] भगवती बाबू के उपन्यासों में चित्रित नारी जैविक और मनोवैज्ञानिक दोनों ही आधार पर अपने को पुरुष से हीन मानती है। देवकी रेखा से कहती है, "क्या करूं भगवान ने इस पुरुष को सशक्त बनाया है, सबल बनाया है। हम स्त्रियों की अपेक्षा वह अधिक बुद्धिमान है, साहसी है। हम स्त्रियां तो उसकी गुलामी करने

---

१. भूले-बिसरे चित्र, पृ० २६३
२. प्रश्न और मरीचिका
३. सामर्थ्य और सीमा, पृ० ३२२
४. लेकिन उसके अदर वाली नारी—वह नारी जो पुरुष का अवलब चाहती है, जो उससे रक्षा चाहती है, जो पुरुष की छाया में रहकर उसकी गुलामी करना चाहती है...पृ० १०६-१०७ (टेढ़े-मेढ़े रास्ते)

को पैदा हुई है···।"[१] भगवती बाबू के उपन्यासों की नारी की यही हीनता-ग्रंथि उन्हे पुरुष को थोडी-बहुत ज्यादती करने की स्वतंत्रता देने के लिए बाध्य करती है। उपन्यासो मे जिन गृहिणियों का चित्रण है वे अपने पति के अन्य स्त्रियो से हुए संबंध को सहज और स्वाभाविक मानती है। इससे वे विचलित नही दिखलाई देतीं। इन गृहिणियों को यह विश्वास है कि विवाहित पत्नी होने के कारण अंततोगत्वा पति पर उनका ही अधिकार है। यदि पति इधर-उधर थोड़ा-बहुत मन बहला लेता है तो कोई हर्ज नही। 'टेढे-मेढे रास्ते' की महालक्ष्मी और 'प्रश्न और मरीचिका' की रेवा तो अपने पतियो की प्रेमिकाओं को सहपत्नी बनाकर प्रसन्नतापूर्वक अपने साथ रखने का आग्रह करती है। 'वह फिर नही आई' मे ज्ञानचंद की पत्नी को भी अपने पति द्वारा रखेल रखे जाने का तनिक भी दुख नही क्योकि वह जानती है कि इस बात से उसके अधिकारो मे किसी तरह की कमी नही पडती। 'भूले-बिसरे चित्र' में ज्वालाप्रसाद जब अपनी पत्नी से पूछता है कि उसके और नम्बरदारिन के संबधों का पता होने के बाद भी उसने कभी किसी तरह की शिकायत क्यों नही की तब यमुना उत्तर देती है, "नम्बरदारिन का मुह कि वह तुम्हें मुझसे छीन सके ! इस घर की मालकिन तो मै हूं। तुम नम्बरदारिन के साथ हस-खेल भले ही लो, लेकिन रहोगे मेरे, हमेशा के लिए।"[२] ज्वालाप्रसाद के यह पूछने पर कि यमुना को कब से उनके सबंधों का शक था, वह कहती है, "तुमने मुझे कभी शक में घुलते देखा है ? मैंने कभी तुम्हे शिवपुरा जाने से मना किया है ? मेरे घर में बार-बार नम्बरदारिन के आने पर मैंने कभी बुरा माना है ? मर्द का तो स्वभाव ही होता है बहकना।"[३]

चरित्रांकन की विधि

अभी तक हमने मुख्यतः इस बात पर विचार किया कि भगवती बाबू के उपन्यासों में मनुष्य किस रूप मे चित्रित है तथा लेखक का जीवन-दर्शन उस चित्रण को किस तरह प्रभावित करता है। अब हम चरित्राकन का मूल्यांकन शिल्पगत विशेषताओं के आधार पर करेंगे और देखेंगे कि भगवती बाबू चरित्र चित्रण मे तकनीकी स्तर पर कहां तक सफल हुए हैं।

संतुलित चरित्रांकन

संतुलित चरित्राकन के लिए आवश्यक है कि लेखक पात्र को पूर्ण मनुष्य के

---

१. रेखा, पृ० ७७
२. भूले-बिसरे चित्र, पृ० ६५
३. वही

रूप मे चित्रित करे। पात्र मे मनुष्य की अच्छाई-बुराई इस तरह उभरकर सामने आए कि वे गढ़े हुए न मालूम हों। लेखक न तो पात्रों के साथ पक्षपात बरते और न ही उनके मुख से स्वयं बोले। भगवती बाबू जहां भावना में बहे बिना चरित्राकन करते है वहां ऐसे पात्रों का सृजन होता है जो हाड़-मांस के सजीव मनुष्य मालूम होते है। उनका यह संतुलित चरित्राकन पहली बार 'चित्रलेखा' मे दिखलाई पड़ता है। अपने समस्त मध्ययुगीन 'ग्लैमर' के उपरांत चित्रलेखा, बीजगुप्त और कुमारगिरि मानवीय विशेषताओ को लेकर उपस्थित हुए है। ये 'फ्लैट' पात्र है—जिनकी दिशा पहले से निर्धारित है लेकिन फिर भी ये कही भी कठपुतली नही लगते। यह उनके चित्रण की सबसे बडी सफलता है।

भगवती बाबू के परवर्ती उपन्यासों में कही-कही यह दोष आया है कि उनके पात्र लेखक के इशारे पर चलते है। 'टेढ़े-मेढे रास्ते' में कही-कही मुख्य पात्र रामनाथ तिवारी, सशक्त चरित्राकन के बावजूद, लेखकीय विचारधारा का लाउडस्पीकर लगता है। पर इसी उपन्यास मे झगडू मिश्र और मनमोहन जैसे अत्यंत स्वाभाविक पात्र भी है। मनमोहन अपने रहस्यमय जीवन के कारण स्वय भी थोडा रहस्यमय लगता है पर झगडू मिश्र का चरित्र चित्रण इस उपन्यास की उपलब्धि है। उद्दण्डता और प्रेम, दुस्साहस और कोमलता, अशिक्षा और मानवीय विवेक का अद्भुत समिश्रण इस पात्र मे है। यह पात्र पाठक को अत्यत निकट मालूम होता है और जब झगडू मिश्र का अवसान होता है तब पाठक के मन पर वेदना की एक गहरी लकीर बन जाती है। इसी प्रकार के सहज मानव के रूप में 'भूले-बिसरे चित्र' के मुंशी शिवलाल और ज्वाला प्रसाद सामने आते हैं। मुंशी शिवलाल मे अपनी जाति और वर्ग के गुणो का सम्मिश्रण इतने प्रभावशाली ढग मे लेखक ने चित्रित किया है कि किसी कचहरी का कायस्थ अर्जीनवीस ही जैसे सामने आकर खड़ा हो जाता है। इसी प्रकार ज्वालाप्रसाद अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं में एक जीवित मनुष्य मालूम होता है। उसके जीवन के उतार-चढ़ाव के साथ ही साथ उसकी निष्ठा और मानसिक दौर्बल्य, उसकी आशा और निराशा, उसकी उपलब्धियां और उसका एकाकीपन इस तरह चित्रित हुआ है कि उसके स्वरूप और स्वभाव के प्रत्येक कटाव आंखो के सामने आ जाते है।

इन पात्रों के अलावा भगवती बाबू ने अपने उपन्यासों में कितने ही गौण पात्रो का चरित्रांकन किया है। 'सबहि नचावत राम गुसाईं' के पात्र विभिन्न वर्ग की विशेषताओ को अत्यंत स्वाभाविकता से उजागर करते है। इसमें सहज और स्वाभाविक पात्रों की एक पूरी दुनिया है। इस उपन्यास के अलावा अन्य उपन्यासों में भी थोड़ी देर के लिए आए गौण पात्रों को भगवती बाबू अत्यंत सफलता से चित्रित कर सके हैं। इन पात्रों में राजा-महाराजा, ताल्लुकेदार और उनके आस-पास के चमचे हैं, पहलवान और सड़क छाप गुंडे साधु हैं। डंडीमार बनिये और

फक्कड कवि हैं। सरकारी अफसर और वेश्यायें हैं। ये अनगिनत पात्र हमारी अपनी दुनिया के ही वे मनुष्य हैं जो हमसे रोज ही टकराते है। यही कारण है कि ये पाठक के मस्तिष्क में बस जाने की क्षमता रखते हैं।

शिथिल चरित्रांकन

भगवती बाबू के उपन्यासों में कुछ पात्रों का शिथिल चरित्रांकन भी हुआ है। उनका चरित्राकन वही शिथिल हुआ है जहां वे स्वयं भावना में बह गए हैं। ऐसे समय वे कभी पात्रो को व्यर्थ ही ऊचा उठाते हैं और कही उन्हें अत्यत 'बेचारा' सिद्ध कर देते हैं। उनका आवेग उनकी कलम को बहकाता है। नेमिचद्र जैन ने इस सबध में लिखा है, "व्यक्तियों के अकन के सबध मे एक और विशेषता वर्माजी की पद्धति मे है। वह है एक प्रकार की मानसिक और बौद्धिक अराजकता। वर्माजी जैसे, आवेश में, झोंक मे, बल्कि कहा जाए तो सनक में लकीरें खीचे चले जाते है।"[1] नेमिचंद्र जैन के इस मत को शब्दश: सही न भी माना जाए तो भी इसे वर्माजी के आवेग की ओर इशारा तो अवश्य ही स्वीकार किया जाना चाहिए। इस आवेग मे वे पात्रों से मनमाना व्यवहार करवा लेते है। 'पतन' का प्रताप सिंह अच्छाई-बुराई का संगम है पर उसके कार्यो का अर्थ समझ से परे है। उसके चरित्र की विसगति का वैसा चरित्राकन नहीं हो सका है जैसाकि रेणु के 'परती-परिकथा' मे पतनीदार शिवेन्द्र मिश्र का हुआ है। शिवेन्द्र मिश्र मे दुष्ट-बुद्धि एवं षडयंत्रकारी चेतना और विद्वत्ता एव शक्ति का अनोखा सामजस्य है। जिसे लेखक प्रभावशाली ढग से चित्रित कर सका है। 'पतन' का प्रताप सिंह चरित्र की विसंगतियो के अलावा चरित्राकन की विसंगतियों का शिकार हो गया है।

इसी तरह रेखा, रानी श्यामला, जीवन राम, जगत भगवती बाबू के उपन्यासो के ऐसे पात्र है जो स्वभाव से तो दुर्बल हैं ही किन्तु जिनका अंकन भी असंतुलित है। दुर्बल पात्र का भी सशक्त चरित्र-चित्रण हो सकता है। जैमाकि फ्लाबेयर ने मादाम बावेरी का किया है अथवा अश्क ने 'गिरती दीवारें' मे चेतन का किया है। भगवती बाबू के पात्रो के चरित्रांकन का सबसे बड़ा दोष यह है कि इनकी दुर्बलता पर लेखक बार-बार पर्दा डालने का प्रयास करता है। 'सीधी-सच्ची बातें' के नायक जगत जैसे दुर्बल पात्र को 'फरिश्ता' कहना सरासर अपनी राय को पाठक पर थोपने का लेखकीय प्रयास है। रेखा द्वारा बार-बार परपुरुषों से शरीर-सम्पर्क स्थापित करने के बाद लेखक द्वारा उसे 'जस्टीफाई' करने का अप्रत्यक्ष प्रयास कभी-कभी हास्यास्पद तक लगता है। जीवनराम की कमजोर

---

१. नेमिचद जैन, अधूरे साक्षात्कार, पृ० ६१

जीवनी-शक्ति का सशक्त चित्र ना खीचकर उसे बार-बार भोला-भाला और समर्पित प्रेमी सिद्ध करना भी चरित्रांकन की दुर्बलता है।

चरित्रांकन का स्थूल ढंग

चरित्र-चित्रण मे स्वभाविकता तभी बनी रह सकती है जब पात्रों के क्रिया-कलाप ही उसके चरित्र की विशेषताओं को व्यक्त करें। लेखक स्वयं आगे होकर पात्रों के चरित्र की विशेषताओं का परिचय दे इसमें लेखन की सूक्ष्मता मारी जाती है। भगवती बाबू कभी-कभी यही स्थूल शैली अपनाते है। पात्रों के स्वरूप और उनकी वेश-भूषा के चित्रण से चित्रमयता अवश्य बढ़ती है पर उनके स्वभाव के बारे में भी वे पात्रों के प्रथम आगमन पर ही प्रकाश डाल देते है। इसके उदाहरण 'टेढ़े-मेढे रास्ते' और 'सामर्थ्य और सीमा' में प्राप्त हो सकते है। 'टेढे-मेढे रास्ते' में दयानाथ के यहां कांग्रेस की मीटिंग चल रही है। जो व्यक्ति मीटिंग में हैं उनका उपन्यास के कथा-प्रवाह से कोई भी संबंध नही है पर लेखक एक-एक व्यक्ति का लम्बा परिचय देता चलता है, जो निश्चय ही उबाने वाला है। ऐसे ही 'सामर्थ्य और सीमा' में सुमनपुर स्टेशन पर पांच व्यक्ति उतरते है। उन पाचों व्यक्तियों की सफलता का इतिहास तो उपन्यास की कथा में सहायक है, किन्तु पांचों के चरित्र की विशेषताएं भी लेखक इसी प्रथम परिचय में दे देता है। उनके इतिहास और उनकी चारित्रिक विशेषताओं मे करीब तीस पृष्ठ खपाए गए है।

किसी पात्र की विशेपता पर बार-बार किसी पात्र के संवाद द्वारा प्रकाश डलवाकर उसे व्यक्त करने की शैली भगवती बाबू को अत्यंत प्रिय है। 'वह फिर नहीं आई' में जीवनराम की विशेषताओं को व्यक्त करने के लिए कुछ इस तरह का स्थूल तरीका उन्होंने अपनाया है :

"जीवनराम कमरे में चला गया और उस स्त्री ने बैरा को चाय लाने का आर्डर दिया। उसके बाद उसने संतोष की सांस लेते हुए मुझसे कहा, 'देखा आपने इस जीवनराम को? कितना भोला है यह, और साथ ही बड़ा भला आदमी है।' "[१]

'सीधी-सच्ची बातें' उपन्यास भी इस दोष से आक्रांत है। इसमें पात्रों द्वारा एक-दूसरे के चरित्र की अच्छाई-बुराई के विषय में कहलाकर लेखक उनके बारे मे अपने मत की बार-बार पुष्टि करना चाहता है। भगवती बाबू द्वारा पात्रों के इस पक्षपातपूर्ण चित्रण के विषय में रणवीर रांग्रा लिखते हैं, "वर्माजी के उपन्यासों मे पात्रो का प्रथम परिचय बहुधा पक्षपातपूर्ण रहा है। उनके प्रथम परिचय मे प्रेमचद की शैली के सभी गुणों और दोषों का समाहार हुआ है। ये

---

१. वह फिर नही आई, पृ० २३

परिचयात्मक विवरण चुस्त और सारगर्भित तो है, पर निष्पक्ष एक भी नहीं।"[१]

शीतगृह में रखे पात्र

भगवती बाबू के उपन्यासों मे कुछ ऐसे भी पात्र है जो उपन्यास मे अवतरित होने के बाद काफी महत्त्वपूर्ण मालूम पडते है किन्तु लेखक उनसे कुछ विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति कराने के बाद उन्हे शीतगृह में जमा की गई वस्तु की तरह सम्भालकर रख देता है। 'तीन वर्ष' का अजित, 'भूले-बिसरे चित्र' के रिपुदमन सिंह और संतों उपन्यास में काफी महत्त्वपूर्ण 'रोल' अदा करते है किन्तु एकाएक ही ये अतर्धान भी हो जाते है। इनमे अजित का अतर्धान होना सभवत: हर पाठक के लिए कुछ परेशानी का विषय होता है।

लेखक के व्यक्तित्व की परछाई

इस तथ्य को सभी स्वीकार करते है कि लेखक के व्यक्तित्त्व की छाया कही न कही पात्रो में अवश्य झलकती है। राबर्ट लिडेल कहते हैं कि ऐसे पात्रो के चरित्रांकन में लेखक अधिक सफल होता है।[२] जिस तरह भगवती बाबू के जीवन-दर्शन की परछाई उनके पात्रो मे दिखलाई पड़ती है उसी तरह उनके व्यक्तित्व का प्रतिबिंब भी पात्रों में देखा जा सकता है। भगवती बाबू अक्खड़ किस्म के मनमौजी व्यक्ति हैं। उनके उपन्यासों के पात्रों पर यदि हम दृष्टिपात करे तो पायेंगे कि ऐसे स्वभाव के पात्रो का चित्रण अधिक सहजता से हुआ है जो उनके स्वभाव से मेल खाते हैं। 'सबहि नचावत राम गुसाई' का रामलोचन पांडे कुछ ऐसा ही पात्र है। इसके अलावा 'अपने खिलौने' के पात्र—विशेषकर युवराज और जख्मी; 'सबहिं नचावत राम गुसाई' के पत्रकार जैकृष्ण, कवि झंझावात 'सीधीं सच्ची बातें' के सैलाब मियां जैसे फक्कड और मनमौजी पात्रों में कही न कही लेखक स्वयं जीता हुआ दृष्टिगोचर होता है।

हार्डी, शरत् और दास्ताएवस्की के पात्रों से तुलना

भगवतीचरण वर्मा के उपन्यासों मे चरित्रांकन का विशिष्ट महत्त्व रहा है और उनका जीवन-दर्शन तथा उनकी भाव-प्रवणता उनके चरित्रांकन को प्रभावित

---

१. रणवीर राग्रा, हिन्दी उपन्यास मे चरित्र-चित्रण का विकास, पृष्ठ २६२

2· The Writer living for the time in his characters diverts himself of those parts of his own nature which are irrelevent and develops the relevant parts of his nature to more than their normal size—his more successful characters or portraits of potential selves.

'A Treatise on the Novel', Robbert Leddel, P. 103

करती रही है। कुछ ऐसे विशिष्ट उपन्यासकारों के चरित्रांकन से, जिनकी कृतियों में चरित्र ऐसा ही अहम् स्थान रखता है, भगवती बाबू के चरित्रांकन के उपकरणों की तुलना विषय को रोचकता और पूर्णता प्रदान कर सकती है। यहां हम ऐसे तीन उपन्यासकारों को ले रहे है और क्रम से उनके पात्रो का अध्ययन करते हुए भगवती बाबू के पात्रो से उनकी समानता, असमानता पर विचार कर रहे है।

थामस हार्डी

थामस हार्डी अंग्रेजी उपन्यासकारों में अन्यतम नियतिवादी उपन्यासकार है। नियतिवादी जीवन-दर्शन ने उसके पात्रों के चरित्र-चित्रण को उसी तरह प्रभावित किया है जिस तरह भगवती बाबू के जीवन-दर्शन ने उनके पात्रों के चरित्र-चित्रण को प्रभावित किया है। थामस हार्डी वैज्ञानिक युग से प्रभावित होकर प्रकृति में नियम की प्रधानता अवश्य देखता है किन्तु वह मानता है कि मनुष्य स्वतन्त्र नही है। मनुष्य को वह किसी भी कार्य के लिए उत्तरदायी नहीं मानता। हार्डी भाग्य की भयंकर शक्ति को विश्व में व्यापक देखता है जो अकारण ही जिसे चाहती है उसे तहस-नहस कर देती है। "हार्डी प्रकृति की सत्ता और शक्ति के दृश्यों को दिखाकर मनुष्य की दुर्बलता और अनित्यता का ध्यान दिलाता है।"[१]

भगवती बाबू और थामस हार्डी में एक अजीब समानता यह है कि दोनों ही कहानी कहने[२] मे विश्वास करते हैं और उसी कहानी में वे ऐसे पात्रों का सृजन करते है जो अदृश्य की शक्ति से परास्त हो जाते है। हार्डी के पात्र नियति के बंधन में बधे हैं। न जाने कब और कैसे आकस्मिक घटनाएं उसके पात्रों की समस्त आकांक्षाओं को छिन्न-भिन्न करके उनकी कामनाओं को कुचलकर उन्हें विवशता का बोध करा देती है। डॉ० शची रानी गुर्टू ने लिखा है:

"उसके सभी पात्र-पात्री नियति के क्रीड़ा-कंदुक है। जीवन-गगन के रक्ताभ पट पर उल्लसित पवन की मधुर सिहरन जब किसी आगत खुशी का आभास देती है, तभी नियति का निर्मम अट्टहास हहरता हुआ उन्हें कोलाहलपूर्ण अकूल सागर में ढकेल देता है। न जाने कौन अपने अदृश्य हाथों से हठात् उनकी सारी खुशियों को झकझोर देता है और जीवन की साध आहें, दग्ध हृदय की चिन-गारियां छितरा-छितराकर उनके अंतर्बाह्य को आच्छन्न कर लेती है।"[३] थामस हार्डी और भगवती बाबू में एक और समानता यह भी है कि दोनों मानते हैं कि

---

१. श्री नारायण मिश्र, अंग्रेजी उपन्यास का विकास, पृ० ३३६

2. His taste in story-telling was that of the simple rural society in which he had been brought up. He liked a story to be a story.
Hardy : The Novelist, David Cecil, P. 39

३. डॉ० शची रानी गुर्टू, साहित्य-दर्शन, पृष्ठ ७०८

मनुष्य का जीवन कर्म में है किन्तु दोनों ही फल को उसके हाथ के बाहर की वस्तु मानते है। अपने अज्ञान और भ्रम मे मनुष्य समझता है कि कर्म करने वाला वह स्वय है पर वास्तव मे यह सत्य नही है।

हार्डी की प्रारम्भिक कृतियों में ही उसके नियतिवाद के अकुर उग आए थे। और उसकी परवर्ती रचनाओ में मानव और अदृश्य की शक्ति का द्वद्व स्पष्ट दिखलाई पडता है। 'डेसपैरेट रेमीडीज' से लेकर 'जूड द आब्सक्योर' तक उसके पात्र नियति की शक्ति के आगे बेबस दिखलाई पड़ते है। 'दि मेयर आफ केस्टर-ब्रिज' और 'टेस' मे इस बात को पात्रों के माध्यम से वह सबल ढग से कहता है कि मानव अपने भाग्य के सामने बिलकुल बेबस है। शून्य-वीरान पथ पर जब टेस का सतीत्व कुचला जाता है तब हार्डी केवल मानवीय बेबसी का प्रश्न भर उठाता है और स्वीकार करता है कि मनुष्य का सहस्रों वर्षों का दार्शनिक चिंतन भी आज तक यह नही समझ पाया कि नियति का क्रूर ताण्डव ऐसी घटनाओं के माध्यम से क्यों होता है।[1] टेस के सिर पर दुर्भाग्य के ऊपर दुर्भाग्य आते है और स्वय ही उसके चारों ओर ऐसी स्थितियो का निर्माण हो जाता है जिमसे वह निकल नही पाती। हार्डी के उपन्यासो के कथा-पुरुषों, नायको और नायिकाओं को मानवीय शत्रु परास्त नही करते बल्कि उन्हे परिस्थितिया और दुर्भाग्य परास्त करता है। भगवती बाबू के पात्रों के साथ भी यही होता है। चाहे 'टेढे-मेढ़े रास्ते' के रामनाथ तिवारी हों चाहे 'सीधी-सच्ची बातें' का नायक जगत—परिस्थितियो का चक्र उन्हें भ्रमित करके उनकी मजिल से उन्हें दूर कर देता है।

पात्रों के चरित्राकन के पीछे काम करती नियतिवादी चेतना के अलावा हार्डी की प्रकृति यह रही है कि वह अपने पूर्ववर्ती लेखन से ही कुछ नया ले लेता है।[2] इस प्रवृत्ति के कारण उसके पात्रों की मुद्राओं और उनके आतरिक ततुओं में समानता मिलती है। यह बात भगवती बाबू के पात्रों के साथ भी जुड़ी है। 'रेखा' के सोमेश्वर की अराजकता में 'तीन वर्ष' के अजित की झलक है और रेखा के अंतर्द्वंद्व मे कई स्थलों पर चित्रलेखा के अंतर्द्वंद्व की झलक है।

---

1. Why it was that upon this beautiful feminine tissue, sensitive as gossamer, and practically blank as snow as yet, there should have been traced such a coarse pattern as it was doomed to receive; why so often the coarse appropriates the finer thus, the wrong man and woman, the wrong woman the man, many thousand years of analytical philosophy has failed to explain our sense of order.

'Tess'

2. All Novelists tend to borrow from their earlier works, though as a rule unconsciously. Hardy's tendency to do this was particularly strong.

Hardy : A Collection of Critical Essays, Albert J. Guerard , P, 65

शरत्चन्द्र

शरत्चंद्र न केवल बगाल बल्कि सम्पूर्ण भारत के श्रेष्ठतम उपन्यासकारों में से एक हैं। शरत्चद्र के उपन्यासों मे मनुष्य अपनी अच्छाइयां, बुराइयां, दुस्साहस और भावुकता के साथ चित्रित हुआ है। शरत्चद्र के उपन्यासों में मुख्यत: मध्य-वर्ग के पात्र चित्रित हुए हैं किन्तु यह ध्यान खीचने लायक बात है कि उनके पात्र अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं के कारण स्मरणीय है। "शरतचंद्र ने कही भी अपने पात्रो पर उनके वर्गों की विशेषताओं को आरोपित कर उन्हे वर्गवादी बनाने का प्रयास नही किया है।"[1] भगवती बाबू के अधिकाश पात्र उच्चवर्ग के है किन्तु भगवती बाबू ने भी अपने पात्रों की व्यक्तिगत विशेषताओं का अंकन बड़ी सूक्ष्मता से किया है और उन्हें पूर्णत: वर्गगत होने से बचा लिया है।

शरतचद्र के चरित्राकन की सबसे बड़ी विशेषता है उनके पात्रों को प्राप्त होने वाली उनकी व्यापक सहानुभूति। द्रष्टव्य है कि शरत बाबू के उपन्यासों में भी परम्परागत खलनायकों का उसी तरह अभाव है जिस तरह भगवती बाबू के उपन्यासों मे है। मनुष्य की दुर्बलताओं और रागद्वेषों के प्रति उनके मन मे आक्रोश नही है और उन्होने मनुष्य को मनुष्य के रूप मे ही देखा। उन्होंने स्वय कहा है, "मनुष्य को यदि भली भांति खोजा जाय तो उसके प्रच्छन्न भेदों को प्रत्यक्ष किया जा सकता है। ऐसी स्थिति मे उसकी स्वभावज त्रुटियों से सवेदना प्रकट किए बिना भला कोई रह सकता है !"[2]

शरत्चद्र के पात्र अपने अस्थिर व्यवहार, दम्भ, अतर्क्य भावावेग आदि के उपरांत भी आकर्षक हैं क्योंकि वे अधिकाधिक मानव हैं। प्रेम इन पात्रों की केन्द्रीय समस्या है और मानवीय रिश्ते इनकी प्रमुख तलाश है। "शरत्चंद्र के उपन्यासों के अधिकांश नारी और पुरुष पात्रों का चित्रण इन्ही अतृप्त मानवीय वासनाओं को दर्शाने के लिए हुआ है।"[3] इस संदर्भ में उनके नारी पात्र परम्परागत नारी पात्रो से बिलकुल भिन्न दिखलाई पड़ते है। इन नारियों में बगाल की नारी की विशेषताएं तो है ही पर पुरातन आदर्शो के प्रति भीषण विस्फोट और दमित लिप्साओं के चित्रण के कारण वे उच्छृंखल मालूम पड़ती है। उनमें 'देवदास' की पारो और 'ब्राह्मण की बेटी' की संध्या जैसी दुस्साहसी नारियां है जो बिना किसीकी चिता किए स्वय अपने प्रेमियों के घर तक जाती हैं और 'चरित्रहीन' की किरणमयी जैसी वासनालिप्त, उच्छृंखल नारी भी है जो पति के

---

१. डॉ० सुरेन्द्रनाथ तिवारी, प्रेमचंद और शरत्चद्र के उपन्यास : मनुष्य का बिंब, पृ० १४०

२. साहित्य-दर्शन, शची रानी गुर्टू, से उद्धृत, पृ० ४८२

३. वही, पृ० ४८३

मृत्युशय्या पर होने के बाद भी चिंतित नही है। 'शेष प्रश्न' की कमल और 'गृहदाह' की अचला—ये सभी समाज द्वारा निर्धारित सीमित घेरेबदी को तोड़ती है। भगवती बाबू के पात्र भी इसी तरह प्रेम और वासना से जूझते है और उनकी नारिया भी समाज के मतवादो का उल्लघन करती है। चित्रलेखा, प्रभा, रेखा, कुलसुम, रानी श्यामला ऐसी ही नारिया है।

शरत्‌चंद्र के पात्र अपनी दुर्बलताओं के उपरांत पूर्ण मानव होने का बोध देने के कारण उल्लेखनीय है। उनके अधिकाश पुरुष पात्र भी लक्ष्यहीन, निर्लिप्त और पर-स्त्री कातर है। अस्थिर मति का श्रेष्ठ उदाहरण 'श्रीकान्त' उपन्यास का नायक श्रीकान्त है। उसका चित्त कभी किसी ओर एकाग्र नही हो पाता। राज-लक्ष्मी को लेकर उसके मन मे सदैव एक उथल-पुथल रही है। वह कभी अपनी इज्जत की दुहाई देता है, "लक्ष्मी, तुम्हारे लिए मै अपना सर्वस्व त्याग सकता हूं किन्तु इज्जत का त्याग कैसे करूं ?"[1] और कभी अपने-आपको वह पूर्णतः समर्पित करते हुए कहता है, "मैने आज से अपने को बिलकुल तुम्हारे हाथ सौप दिया है, अब भलाई-बुराई का सारा भार तुम्ही पर है।"[2] श्रीकान्त की अस्थिरता और अकर्मण्यता भगवती बाबू के उपन्यास 'सीधी-सच्ची बाते' के नायक जगत से काफी कुछ मिलती है। बस अतर यह है कि अस्थिर रागात्मिका वृत्ति के बाद भी श्रीकान्त आकर्षक चरित्र बन सका है किन्तु अदायगी की कमी के कारण जगत जरा भी आकृष्ट नहीं करता। शरत्‌चंद्र के प्रमुख पात्र सतीश, श्रीकान्त, सुरेश, देवदास आदि नैतिक-अनैतिक, पाप-पुण्य की प्रचलित मान्यताओं से विरोध करते है। ये पात्र भगवती बाबू के पात्रों की ही तरह व्यक्तिवादी है।

"शरतचंद्र के मध्यवर्गीय पात्रों मे अहम्-वृत्ति का प्रकाशन ही हुआ है। अपनी अहम्-वृत्ति के कारण ये पात्र वैयक्तिक और अंतर्मुखी प्रवृत्तियों का प्रदर्शन करते हैं। श्रीकान्त का चरित्र इसका प्रमाण है। कमल लता कहती है, "गुसाई, तुम्हारे जैसा उदासीन बैरागी मन की अपेक्षा अधिक दम्भी मन पृथ्वी मे और दूसरा नहीं है।"[3] इस तरह की अहम्‌वादी प्रवृत्ति भगवती बाबू के अधिकाश व्यक्तिवादी पात्रों में भी प्राप्त होती है।

शरत्‌चंद्र अत्यंत भावुक लेखक थे। स्वभावतः उनके चरित्रांकन में उनकी भावुकता अत्यंत सक्रिय रही है। भगवती बाबू भी भावनाशील लेखक हैं किन्तु चरित्रांकन के समय उनके भाव-विस्फोट प्रमुख हो उठते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि उनके चरित्रांकन मे शरतचंद्र की तरह भावुकता की एकतानता नहीं रह पाती।

---

१. श्रीकान्त, द्वितीय पर्व, पृ० १३८
२. वही, तृतीय पर्व, पृ० ९
३. वही, चतुर्थ पर्व, पृ० १०४

दास्ताएवस्की

दास्ताएवस्की रूस का ऐसा उपन्यासकार है जिसने अपने देश के साहित्य को बड़ी गहराई से प्रभावित किया है। उसके उपन्यासो मे चरित्र-चित्रण ही सर्वाधिक महत्त्व रखता है। मानव-मन की गहराई मे प्रवेश कर वहां की सकरी और मोड़दार भाव-वीथियों से पाठक को भी परिचित करा देने की शक्ति दास्ताएवस्की मे है। पात्रों के अंतर्मन मे झांकना उसका प्रिय विषय रहा है। इस रूप में दास्ताए-वस्की व्यक्तिवादियों के अत्यत निकट है। अपने उपन्यासों में उसने खूनियों, पतितों और अपराधियो का चित्रण अधिक किया है। "उसका विचार था कि मनुष्य के दुष्कृत्य के लिए समूची मानवता उत्तरदायी है। यंत्रणा और वेदना मे ही सत्य की उपलब्धि होती है, अतः अंधकार से डरना नही चाहिए, कारण—उसीमें प्रकाश की किरणें छिटककर तमिस्रा को आलोक में परिणत कर सकती है।"[1] अपने इस सिद्धात के कारण उसने गिरे से गिरे पात्र में भी मनुष्यता की झलक देखने की कोशिश की।

उसकी सभी कृतियों—'पुअर फाक', 'हाउस आफ डेथ', 'क्राइम एण्ड पनिशमेंट', 'इडियट', 'दि डेविल्स' और 'दि ब्रदर्स कार्माजोव' मे उसने जिन पात्रों का सृजन किया वे किसी हद तक असाधारण भी है क्योंकि वह उनकी व्यक्तिगत विशेषताओं को अति की सीमा तक पहुंचा देता है। ऐसे स्थलों पर उसके पात्र परतंत्र पात्र हो जाते हैं। भगवती बाबू के भी कुछ पात्र इसी तरह असाधारण हो जाते हैं। दास्ताएवस्की की सर्वाधिक प्रसिद्ध कृति 'क्राइम एण्ड पनिशमेंट' में उसका मानवतावादी दृष्टिकोण पात्रों के माध्यम से उभरता है। घनघोर मानसिक अशांति भोगने के बाद नायक रास्कोलनिकोव वेश्या सोनिया के सामने घुटने टेक देता है और कहता है, "मैं तुम्हारे सामने नही झुक रहा हूं वरन् मनुष्य के संघर्षों और कष्टों के समक्ष नत हूं।" भगवती बाबू के पात्र भी मानवीय सघर्षों और वेदनाओं के प्रति सजग दिखलाई पडते हैं। उनमें अहम् अवश्य विद्यमान है किन्तु मानवकृत त्रुटियों के प्रति वे भी उदारभाव रखते है।

चरित्रांकन में प्राप्त इस व्यापक सहानुभूति के कारण भगवती बाबू शरत्चंद्र और दास्ताएवस्की के निकट मालूम पड़ते हैं और नियतिवादी दर्शन के कारण हार्डी के।

कुछ विशिष्ट पात्र : एक विहंगम दृष्टि

यों तो हर उपन्यास का प्रमुख पात्र उस उपन्यास का महत्त्वपूर्ण पात्र होता

1. शची रानी गुर्टू, साहित्य-दर्शन, पृ० ४६१

है किन्तु हर लेखक के उपन्यासों मे कुछ ऐसे पात्र होते हैं जो अपनी चारित्रिक विशेषताओं अथवा चित्रांकन की विशिष्टता के कारण विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लेते है। ये पात्र नायक भी हो सकते है, और गौण पात्र भी। कभी-कभी इस तरह के गौण पात्र उपन्यास के प्रमुख पात्र को भी अपने सम्मुख श्रीहीन कर देते है। भगवती बाबू के ऐसे ही कतिपय विशिष्ट पात्रो पर हम सक्षिप्त चर्चा करेगे।

चित्रलेखा के पात्र

चित्रलेखा उपन्यास के प्रमुख पात्रों के चरित्राकन मे एक ही प्रकार की विशिष्टता विद्यमान है अतः उसकी चर्चा एक साथ ही की जा सकती है। इस उपन्यास मे पात्रों का एक त्रिकोण बना हुआ है। उपन्यास का सब कुछ पूर्व-निश्चित है—प्रारम्भ, विकास, अंत और पात्रों के स्वभाव एव उनकी नियति आदि। लेखक के लिए यह एक चुनौती होती है कि किसी ऐसे पूर्व नियोजित अभियान मे वह पात्रों का सहज मानव के रूप मे निर्माण कर ले। भगवती बाबू ने इस चुनौती का सफलतापूर्वक सामना किया है। डॉ० कुसुम वार्ष्णेय इस उपन्यास मे चरित्र-चित्रण मे 'प्रौढता' का अभाव पाती है। उनके अनुसार, "चरित्रों से पाठको का प्रथम परिचय वर्माजी इतने विस्तार से करा देते है कि फिर उनके संबध में कुछ और जानना अवशेष नही रह जाता।"[1] डा० वार्ष्णेय का यह कथन केवल चरित्रांकन की शैली की कमजोरी पर आधारित है—यद्यपि यह बात भी पूर्ण सत्य नही है। हमे यह भूलना नहीं चाहिए कि तत्कालीन उपन्यासों की चरित्र-चित्रण की शैली क्या थी। जब चित्रलेखा का प्रकाशन हुआ था तब उसकी प्रसिद्धि का एक बहुत बडा कारण यह भी था कि कोमल और सुघड़ भाषा में सशक्त चरित्रांकन पाठकों को प्राप्त हुआ था। चरित्रांकन की स्थूल शैली उसमें अवश्य दिखलाई पड़ती है पर चरित्र के रूप में हमे चित्रलेखा में 'मनुष्य' प्राप्त होते है।

प्रेम को विभिन्न स्तरों पर भोगने वाली चित्रलेखा का अंतर्द्वंद्व तो द्रष्टव्य है ही—साथ ही यह बात भी महत्त्वपूर्ण है कि प्रेम मे अस्थिर स्वभाव वाली तथा अपनी मानसिक दुर्बलताओं से ही परास्त होने वाली नायिका के पहली बार दर्शन होते हैं जो न तो देवी है और न ही घृणा के योग्य पतिता। वह बस अनुभव के सागर में तैरती हुई एक मानवी है जो जीवन-भर इधर-उधर परि-स्थितियों की लहरों में थपेड़े खाती है और अंत मे किनारे लग पाती है। यही बात कुमारगिरि के चरित्र में है। वह योगी है—महान और अविजित है पर अंत मे वह पराजय के द्वार पर खड़ा दिखलाई पड़ता है। कुछ व्यक्तियों को इस

---

१. डॉ० कुसुम वार्ष्णेय, चित्रलेखा से सबहिं नचावत राम गुसाईं तक, पृ० ७७

बात पर एतराज रहा है कि इस उपन्यास में एक भारतीय योगी का पतन दिखलाया गया है। पर यहां कुमारगिरि भी एक मनुष्य के रूप में चित्रित किया गया है इसे हमें नही भूलना चाहिए। भारत की प्राचीन गाथाओं में तो नारी के सौदर्य के आगे कितने ही योगियो की पराजय के दृष्टांत मिल सकते है। यदि योगी कुमारगिरि पतित न होता तो शायद वह देवता के स्तर का चरित्र बन जाता। उसका गिरना ही उसे अतिमानवीय बनाने से बचाता है। अपनी आध्यात्मिक शक्तियों और हृदयगत दुर्बलताओं के बीच झूलता हुआ कुमारगिरि निश्चय ही एक आकर्षक चरित्र है। जो कहानी चित्रलेखा और कुमारगिरि की है वही बीजगुप्त की है। यह सही है कि बीजगुप्त को लेखक की सहानुभूति प्रारम्भ से मिली है और उसे लेखक ने करीब-करीब देवता की कोटि मे लाकर खडा कर दिया है। पर अपने चरित्र के विषय में स्पष्ट स्वीकारोक्तियां और चित्रलेखा को खोने के बाद उसका दुख मे डूब जाना तथा निराश होना उसके मानव होने की याद दिलाता रहता है। सम्पत्ति त्याग देने के बाद, चित्रलेखा से होने वाली भेट मे अपने जीवन की असफलता के प्रति व्यक्त किए गए अवसाद के क्षणों में भी उसके मनुष्य होने का बोध होता है। उसके द्वारा चित्रलेखा से भी सम्पत्ति-दान करने का आग्रह अवश्य लेखक की विशिष्ट 'आइडियोलाजी' का परिणाम है। यह लेखक की अपने प्रिय पात्र को उछालने की कोशिश है। कुल मिलाकर इस बात पर दृष्टि टिकती है कि 'चित्रलेखा' उपन्यास के पात्र कहानी मे भले ही, अपने पद एवं स्थिति के आधार पर, विशिष्ट मनुष्य है किन्तु अपने चरित्र मे ये सामान्य मनुष्य ही है जो जीवन के थपेड़े खाकर कभी गिरते है और कभी उठते है। इनकी विशिष्टता में छिपी सामान्यता ही इनकी सुन्दरता है।

अजित

'तीन वर्ष' का अजित उन पात्रों में से है जो अपनी उपस्थिस्थियों से नायक को भी श्रीहीन कर देते हैं। अजित की विशेषता इस बात मे नहीं है कि नायक रमेश उसपर निर्भर रहता है और उसके माध्यम से जीवन की सुविधा पाता है। वह इसलिए भी महत्त्वपूर्ण नहीं है कि अपनी खुशमिजाजी से अपने चारों ओर एक प्रसन्न वातावरण बनाए रखने में सफल है। उसकी महत्ता इस बात में है कि वह लेखक के जीवन-दर्शन और अपने वर्ग की विशेषताओं का एक साथ ही सफलतापूर्वक वहन करता है। उपन्यास मे अपने प्रवेश के साथ ही वह अपने वर्गगत गुणों के प्रति पाठक को आश्वस्त कर देता है। जैसे-जैसे वह उपन्यास के कथानक मे प्रवेश करता है वह लेखक का सहायक भी बनता जाता है।

स्त्रियों के विषय मे उसके विचार सामतवर्ग के विचार है किन्तु प्रेम करने का उसका अपना व्यक्तिगत ढग है। अपने अत्यंत सशक्त व्यक्तित्व के उपरांत

भी वह अपने को किसीपर थोपता नहीं है। वह सही मानी मे व्यक्तिवादी भी है। अपने समाज के दुर्गुणो और नकलीपन से वह अच्छी तरह परिचित है। रमेश के प्रति उसके आकर्षण का कारण यह है कि वह रमेश मे अपने जीवन के अभाव की पूर्ति पाता है। किन्तु उसके जीवन की विसगति यह है कि अपनी स्पष्टता के कारण वह उन व्यक्तियों को खो देता है जिन्हें वह वास्तव मे चाहता है। लीला उसे 'पशु' की उपाधि देकर उसके जीवन से दूर हो जाती है। वह भी प्रेम को पागलपन के रूप में अपनाने के लिए तैयार न होने के कारण उससे परम्परागत मान-मनौवल नही करता। उसका अभिन्न मित्र रमेश अपनी कटुता के आवेश में उसीपर गोली चला बैठता है और उससे दूर चला जाता है। अजित का उपन्यास के पहले खण्ड के बाद 'शीत गृह' की वस्तु बन जाना निश्चय ही उपन्यास को किसी हद तक सूनेपन से भर देता है।

रामनाथ तिवारी

'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' उपन्यास के प्रमुख पात्र पण्डित रामनाथ तिवारी चरित्र की विशेषताओं और सशक्त चरित्रांकन के कारण हिन्दी उपन्यास के चर्चित पात्रों में एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। इस बात की चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं कि सामतवर्ग के पात्रों के प्रति भगवती बाबू का स्पष्ट झुकाव है। अवध इलाके के बानापुर के ताल्लुकेदार रामनाथ तिवारी के सुन्दर चरित्राकन के पीछे यह कारण है कि इस पात्र के अंकन मे लेखक का मन रमता है। रामनाथ तिवारी के आते ही लेखक की कलम थम-सी जाती है। लेखक ने अपनी सहानुभूति प्रत्यक्षतः उन्हे नहीं दी है किन्तु लेखक की उनसे सहमति कई स्थलों पर परिलक्षित होती है।

भगवती बाबू का नियतिवादी और व्यक्तिवादी दर्शन रामनाथ तिवारी मे आश्रय प्राप्त करता है। साथ ही लेखक ने रामनाथ तिवारी को यह प्रदर्शित करने का माध्यम भी बनाया है कि अहम् की अति मनुष्य के विनाश का कारण होती है। यानी रामनाथ तिवारी पर एक साथ कई भार हैं। उनके अंदर अहम् का अजगर फूत्कार करता हुआ दिखलाई पड़ता है जो अपनी आंखों में व्याप्त सम्मोहन से सामने वाले व्यक्ति को, असहमति और बचाव के प्रयास के उपरांत भी, हतप्रभ कर देता है। उनके तीनों पुत्र, उनके भाई श्यामनाथ, मनमोहन-वीणा—सभी इसका सामना करने से कतराते है। अपने द्वारा किए जाने वाले अत्याचारों का समर्थन करने के लिए उनके पास अत्यंत सुलझी हुई तर्कबुद्धि है। पूरे उपन्यास में पण्डित रामनाथ तिवारी का साक्षात्कार होने पर पाठक भी अन्य पात्रों के साथ शामिल होकर उनके प्रति एक मिश्रित प्रतिक्रिया अनुभव करता है। उनकी ज्यादतियों के प्रति आक्रोश अवश्य उत्पन्न होता है पर उनके अंदर अदृश्य से टकराने की दुर्दम क्षमता मानव की अपराजित शक्ति का प्रतीक बन

जाती है। ऐसा होते ही रामनाथ तिवारी में आकर्षण का अनुभव होने लगता है।

अहम् के प्रति भगवती बाबू का झुकाव है किन्तु अहम्मन्यता का अति पर पहुंचना उन्हें पसंद नहीं है। रामनाथ तिवारी में दोनों ही बातें विद्यमान हैं, इसीलिए उनमें निर्माण और विनाश दोनों ही तत्त्वों का मिश्रण है। लेखक अपने अंदर जिस आस्था का अनुभव करता है वह आस्था रामनाथ तिवारी में भी चित्रित करता है। रामनाथ तिवारी के चरित्रांकन की सूची यही है कि लेखक मनुष्य में जो चाहता है और जो नहीं चाहता है—वह दोनों ही उनके चरित्र में एक साथ साकार करता है। भगवती बाबू की सफलता यह है कि वे सहजता से इसे निभा ले गए हैं। 'पतन' उपन्यास में प्रताप सिंह के चरित्र में कुछ ऐसा ही दर्शाने का प्रयास भगवती बाबू ने किया है। प्रताप सिंह की अच्छाइयों का उसके अंदर उठने वाली दानवी प्रवृत्तियां अकस्मात् ही गला घोंट देती हैं। किन्तु प्रताप सिंह का चरित्र स्वाभाविक नहीं बन सका जबकि रामनाथ तिवारी के चरित्रांकन में संतुलन है। इस पात्र की एक विशेषता यह भी है कि उपन्यास के अंत में अहम् के कुहासे को चीरकर, अपनी पराजय से आकुल और प्रेम तथा सहारे के लिए व्याकुल, उसकी मानवीय प्रतिमा के दर्शन होते हैं। रामनाथ तिवारी का अहम् किसीके सामने उन्हें नहीं झुकने देता किन्तु छोटे-से बच्चे के सामने वे याचक बन जाते हैं।

मनमोहन

'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' का एक विशिष्ट पात्र मनमोहन भी है। किसी पात्र को उसके जीवन-दर्शन से बिलकुल आत्मसात् कराके उसके माध्यम से अपनी बात भी कह देना बड़ी भारी लेखकीय चुनौती है। इस चुनौती का सामना वही लेखक कर सकता है जिसमें चरित्रांकन की सबल क्षमता हो। मनमोहन का सफल चरित्र चित्रण करके भगवती बाबू ने अपनी उस दक्षता का परिचय दिया है। हिन्दी उपन्यासों में अवतरित होने वाले अन्य क्रांतिकारी पात्रों की तरह ही मनमोहन नियतिवादी है। जिस सिद्धांत के लिए उसने जीवन अर्पित कर दिया है उसपर वह बार-बार प्रश्नचिह्न लगाता है। अपने अस्तित्व को ही 'भयानक झूठ' सिद्ध करते हुए क्रांतिकारियों की वीरता के विषय में वह कहता है, "हम सब समझते हैं कि हम सब वीर हैं—हैं न ? और मैं समझता हूं कि हम सब कायर हैं।"[१]

मनमोहन के माध्यम से क्रांतिकारी जीवन का एक बड़ा भारी मनोवैज्ञानिक सत्य सामने आता है। क्रांतिकारियों के प्रति एक रूमानी आकर्षण होने के कारण संभवतः इस मनोवैज्ञानिक सत्य की ओर किसीने इतनी स्पष्टता से इशारा नहीं

१. टेढ़े-मेढ़े रास्ते, पृ० २७६

किया है। मनमोहन के अंदर दमित वीरता की कुंठा का बड़ा स्वाभाविक चित्रण हुआ है। अपने परिचय को छिपाकर बड़े से बड़ा कार्य करना अपने व्यक्तित्व का हनन है। इसे मनमोहन इन शब्दों मे व्यक्त करता है, "लेकिन मैं कहता हूं कि मैं इस कृत्रिम जीवन से ऊब गया हूं। भेदों को छिपाते-छिपाते मे आजिज आ गया हूं। मैं किसीपर विश्वास नहीं कर सकता, किसीसे खुलकर मिल नहीं सकता। और इस सबका परिणाम यह हुआ कि मेरी आत्मा संकुचित हो गई है।"[१] मनमोहन मे वह रहस्यमयता और आकर्षण है जो क्रातिकारी पात्र की आवश्यक शर्त है। इसके साथ ही उसमें अपना 'मनमोहनत्व' भी है जो उसे अपने सिद्धांत से असहमत भी होने की स्वतंत्रता देता है। वास्तव मे उसका 'मनमोहनत्व' ही उसके चरित्र-चित्रण की सबसे बड़ी विशेषता है।

नाहर सिह

'सामर्थ्य और सीमा' के मेजर नाहर सिंह को लेखक के जीवन-दर्शन का मानवीयकरण कहा जा सकता है। इस चरित्र की विशेषता यह है कि इसमे एक असाधारण व्यक्ति का सहज अंकन प्रस्तुत किया गया है। मेजर नाहर सिंह असाधारण व्यक्ति है। वे ज्योतिषी नही है पर एकाएक किसी अनजानी प्रक्रिया के माध्यम से उन्हे भविष्य मे घटित होने वाली दुर्घटनाओं की सूचना मिल जाती है। आसन्न मृत्यु की परछाइयां उन्हे एकाएक दिखलाई पडती है। ऐसा क्यो होता है और ऐसी स्थिति मे वह कब होगे—इस विषय में वे स्वयं भी कुछ नही जानते। यह निश्चय ही असाधारणता है पर ऐसी असाधारणता आज साक्षात् देखने मे भी आती है। अमेरिका की जीन डिक्शन इसकी प्रमाण है जो यों तो सामान्य महिला हैं किन्तु किन्ही विशिष्ट क्षणों मे वे अनायास ही असाधारण हो उठती हैं, तब भविष्य के विषय में वे शत-प्रतिशत सत्य बतलाने मे समर्थ होती हैं। मेजर नाहर सिंह भी ऐसे ही व्यक्ति हैं। यशनगर के मिटने और गुम्मैत ठाकुरो के वश के समाप्त होने की घोषणा वे बहुत पहले कर चुके थे जो उपन्यास के अत मे सत्य साबित होती है।

मेजर नाहर सिंह 'मुखपात्र' है। लेखक ने अपने दो उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उनकी रचना की है—अपने जीवन-दर्शन को व्यक्त करने के लिए तथा अपनी कथा को अधिक से अधिक चटख रग प्रदान करने के लिए। उपन्यास के माध्यम से लेखक यह बतलाना चाहता है कि यदि मृत्यु सर पर मडरा रही हो तो उसकी पूर्वसूचना से भी वह टल नहीं सकती। उपन्यास के सभी समर्थ पात्रों को मेजर नाहर सिंह के द्वारा ही बार-बार आने वाले भीषण संकट की सूचना मिलती है।

---

१. टेढ़े-मेढ़े रास्ते, पृ० २७५

उनके अभाव मे यह सूचना सभव नही थी और बिना पूर्व सूचना के लेखक का उद्देश्य पूरा नहीं होता था। तात्पर्य यह है कि मेजर नाहर सिंह की अवतारणा एक निश्चित उद्देश्य से हुई है। नाहर सिह के चरित्र के महत्त्वपूर्ण हो जाने का कारण यही है कि पाठक जानता है कि नाहर सिंह उपन्यासकार का विशिष्ट उद्देश्य ही पूरा कर रहे हैं लेकिन इसके बाद भी पाठक उन्हें कठपुतली नही स्वीकार कर पाता। नाहर सिह एक व्यक्ति के रूप मे भी इतने आकर्षक वन पड़े है कि उनकी चाल-ढाल, मुद्राएं, आदते, सनक सभी कुछ अत्यत सजीव है। सामती रुआब और मानवीय कोमलता के रेशों से लेखक ने उनका निर्माण किया है।

नाहर सिह उपन्यास की दार्शनिकता को गहन करते है क्योंकि अहम् से भरा पात्रों के विलोम पक्ष का वे प्रतिनिधित्व करते हैं। इसके साथ ही साथ व्यक्ति नाहर सिंह उपन्यास मे रोचकता और हलचल पैदा करने मे भी सहायक हुए है। यह एक मजे की बात है कि उपन्यास के दार्शनिक पक्ष को वे गहनता प्रदान करते है किन्तु साथ ही दर्शन की बोझिलता मे कमी भी उन्हीके माध्यम से होती है। यह इसलिए हो सका क्योंकि उनकी व्यक्तिगत विशेषताओ ने उन्हे जीवत बना दिया है। किसी मुखपात्र को किस हद तक स्वाभाविक बनाया जा सकता है इसके प्रमाणस्वरूप हम भगवती बाबू के उपन्यासो के पात्रो मे मेजर नाहर सिंह को याद रख सकते हैं।

रेखा

जिस तरह कविता पढ़ने के बाद कालांतर में व्यक्ति सब कुछ भूल जाता है और कतिपय बिंब ही उसके स्मृतिकोण में सुरक्षित रह जाते हैं उसी तरह उपन्यास पढ़ने के बाद कालांतर में सवाद, घटनाएं आदि धूमिल पड़ जाती है किन्तु कुछ विशिष्ट पात्र स्मृति में शेष रह जाते हैं। रेखा उपन्यास को समाप्त करने के बाद नायिका रेखा स्मृतिपटल पर शेष बचती है। आदर्शवादी प्रेम से प्रेरित होकर अधेड़ अवस्था के प्रोफेसर से विवाह करके यथार्थ की धरती पर उतर आने वाली रेखा का चरित्र मानवीय कमजोरी का एक उदाहरण है।

रेखा भारद्वाज का चरित्रांकन कोई बहुत ही संतुलित ढंग से नही हुआ है बल्कि यह कहना अधिक उचित होगा कि यह कोई आश्वस्त करने वाला चरित्र नहीं है। यह महत्त्वपूर्ण इसलिए है क्योंकि भगवती बाबू के सभी उपन्यासो मे यह निराला चरित्र है। इसकी रचना इस तरह हुई है कि न इसे चाहा जा सकता है और न इससे घृणा की जा सकती है। वह सभ्रांत घर की लड़की है और अंतर्राष्ट्रीय ख्याति के प्रोफेसर की पत्नी है किन्तु इसके उपरान्त वह नैतिक मर्यादाओं का उल्लंघन करती है। उसके द्वारा यह उल्लंघन ऐसी स्थितियों में होता है कि उसके प्रति वितृष्णा व्यक्त नहीं की जा सकती किन्तु कभी-कभी परपुरुष के

प्रति उसका आकर्षण उसकी आदत से अधिक कुछ नही लगता। इस तरह उसके कृत्य ऐसे है कि न उसे नैतिक स्त्री कहा जा सकता है और न ही पतित।

अधेड़ पति से विवाह करके जब वह अतृप्त रह जाती है तब वह अपनी वासना की पूर्ति के लिए अन्यों की शय्या की साथिन बनती है। वह अपने-आपको और कभी-कभी अन्यों को भी इस भुलावे में रखती है कि उसके शारीरिक संबंध प्रोफेसर के प्रति उसके आत्मिक प्रेम में बाधक नही है। यही भ्रम उसे तोडकर रख देता है। उसके जीवन का सतुलन ऐसा बिगड़ता है कि वह अंत में विक्षिप्त रूप मे दिखलाई पड़ती है। उस समय भी पाटक के लिए यह समझना कठिन होता है कि रेखा की स्थिति को उसके कथनानुसार वह नियति का खेल स्वीकार करे अथवा नही। वस्तुतः उसके चरित्र मे प्रारम्भ से अंत तक कही भी ऐसा बिदु नही है जहां रुककर पाठक कह सके कि वहां वह रेखा से सहमत है या असहमत ! इसे हम चाहें तो चरित्र की विशेषता मान सकते हैं और चाहे तो चरित्राकन की।

अध्याय ८

सामाजिक परिवेश और समस्याएं

उपन्यास विधा अपने स्वरूप (Form) में तो जनतंत्रीय विधा है[1] ही साथ ही वह अपने विषय प्रतिपादन में भी सर्वाधिक जनतन्त्रीय है। मानव-जीवन की अत्यंत स्वाभाविक और समग्र झांकी उपन्यास में ही प्रस्तुत की जा सकती है। प्रारम्भ से ही मनुष्य और मनुष्य-समाज उपन्यास का विषय रहा है और हमेशा रहेगा। यदि हम किसी देश के उपन्यास साहित्य का क्रमिक अध्ययन करे तो उस देश की सामाजिक गतिविधि से हम बड़ी सरलता से परिचित हो सकते हैं क्योंकि "सामाजिक वातावरण और वैयक्तिक अनुभूतियों का वैज्ञानिक रीति से अध्ययन करने की क्षमता जितनी उपन्यास मे—आधुनिक उपन्यास मे—रहती है, साहित्य के किसी अन्य रूप में नही रहती।"[२]

हिन्दी उपन्यास साहित्य के माध्यम से हम भारतीय समाज की समस्याओं से परिचित हो सकते हैं। मनुष्य की सभ्यता का इतिहास बतलाता है कि मनुष्य भावुकता से क्रमशः बौद्धिकता की ओर बढ़ता रहा है। उसका दृष्टिकोण क्रमशः वैज्ञानिक भी होता गया है। मानव-विकास की इस प्रक्रिया की झलक हमें उपन्यास साहित्य के विकास में भी मिलती है। प्रारम्भ में हिन्दी उपन्यासों में जो सामाजिक और नैतिक अवधारणाएं थीं वे आज बदल गई है। समस्याओं के प्रस्तुतीकरण और उसके समाधान-चित्रण के पीछे भी तत्कालीन चिंतन विद्यमान रहा है। साहित्यकार के दायित्व की परिवर्तनशील मान्यता भी इस चित्रण और

---

1. The Novel is the most democratic form of literature easily adoptable to minds of high, low and no intelligence".

Phelp, The Advance of the English Novel, P. 5

२. डॉ० गणेशन, हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन, पृ० १६०

प्रस्तुतीकरण को प्रभावित करती रही है। भगवती बाबू के उपन्यास समस्या-प्रधान माने जाते है। उनके उपन्यासो मे चित्रित सामाजिक परिवेश और समस्याओं पर चर्चा करने के पहले अत्यत सक्षेप मे हम उनके पूर्ववर्ती सामाजिक उपन्यासों के सामाजिक सदर्भ पर चर्चा करेगे।

हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासों की सामाजिक समस्याएं

हिन्दी उपन्यास साहित्य का प्रारम्भिक युग भारत की सामाजिक, धार्मिक और सास्कृतिक चेतना की हलचल का काल था। कितने ही समाज-सुधारक और सामाजिक संस्थाओं के माध्यम से रूढ़ियों और अधविश्वासों का विरोध प्रारम्भ हो चुका है। बाल-विवाह, बहुविवाह, अस्पृश्यता, साम्प्रदायिकता जैसी सामाजिक समस्याओं पर चिंतन प्रारम्भ हो चुका था। ऐसी सामाजिक पृष्ठभूमि मे हिन्दी उपन्यास साहित्य का प्रारम्भ होने के कारण उसका प्रारम्भ ही सुधारवादी दृष्टिकोण से हुआ। हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासकारों की उपदेशक की मुद्रा इसी-का परिणाम है। 'परीक्षागुरु' और 'सौ अजान एक सुजान' जैसे उपन्यासों मे यह बात देखी जा सकती है। यहा हमे यह भी नही भूलना चाहिए कि इन उपन्यासो का सुधारवादी दृष्टिकोण मुख्यत: लेखकों के दृष्टिकोण को ही प्रस्तुत करते थे। लेखक जिस बात को सुधार समझता था उसे ही उपन्यास मे प्रस्तुत करता था। प्रारम्भिक युग के लेखकों का दृष्टिकोण स्पष्टत: धार्मिक भावनाओं से प्रभावित था और वे मनुष्य को नैतिक होने का उपदेश देने के बाद भी प्राचीन परम्पराओं का समर्थन करते दिखलाई पड़ते है।

इस युग के प्राय: सभी उपन्यास-लेखक पर्दा प्रथा के प्रति अपनी घोर आसक्ति प्रदर्शित करते है।[१] लज्जाराम मेहता अपने उपन्यास 'आदर्श हिन्दु' में पर्दा प्रथा की थोडी-बहुत अपरोक्ष बुराई करते हैं पर उसे समाज लिए के उचित ठहराते है। इसी तरह पति-पत्नी-संबध की प्राचीन मान्यता को ही प्रारम्भिक लेखक स्वीकार करते है। आयोध्यासिंह उपाध्याय के 'अधखिला फूल' की नायिका हिन्दू नारी के सनातन आदर्शो पर चलती दृष्टिगोचर होती है। विवाह-विच्छेद को ये लेखक हिन्दू समाज का खात्मा मानते थे। विधवाओं की दीनदशा पर यदा-कदा ये लेखक थोड़ा प्रकाश डालते है पर विधवा विवाह के भी ये विरोधी ही हैं। नारी-शिक्षा पर अधिकांश लेखकों के विचार यह हैं कि नारियों को घर पर ही थोड़ी बहुत हिन्दी-संस्कृत की शिक्षा दे दी जाय पर उन्हें संस्थाओ में भेजकर पढ़ाया न जाय। हरिऔध जी अवश्य इस मामले में थोड़ी उदारता दिखलाते है।

१. डॉ० चंडीप्रसाद जोशी, हिन्दी उपन्यास : समाजशास्त्रीय विवेचन, पृ० ४२

प्रेमचंद के उपन्यास

सामाजिक समस्याओं को राजनैतिक समस्याओं के साथ जोडकर उन्हें महत्त्व-पूर्ण मुद्दे के रूप में उपन्यासों में स्थान देने की परम्परा का सूत्रपात प्रेमचंद से हुआ। उनके युग को देखते हुए उनका दृष्टिकोण पर्याप्त प्रगतिशील भी था। भारतीय नारी-समाज के प्रति अपार श्रद्धा और सहानुभूति के दर्शन हिन्दी साहित्य में पहली बार प्रेमचंद के उपन्यासो मे हुए। 'वरदान' और 'प्रेमाश्रम' में अन्य सामाजिक समस्याओं के संदर्भ में रखकर उन्होंने विधवा-समस्या को देखा-परखा। 'प्रतिज्ञा' उपन्यास तो पूर्णतः विधवा-समस्या पर आधारित है। अनमेल विवाह की भीषणता और कटुता का चित्रण 'निर्मला' उपन्यास में हुआ। प्रेमचंद-पूर्व के उपन्यासकारों ने वेश्याओं को समाज का गंदा नाला माना था किन्तु प्रेमचद ने वेश्याओ की ओर भी मानवतावादी दृष्टिकोण से देखा। उन्होने माना कि समाज की गलत व्यवस्था ही वेश्या-समस्या का कारण है। 'सेवा सदन' के माध्यम से उन्होने यह चित्रित किया कि वह समाज ही घृणा का पात्र है जो वेश्याओं का निर्माण करता है। इस उपन्यास मे प्रेमचद ने सफेदपोशों का नकाब उतारकर रख दिया है। "अंधेरे में जूठा खाने को तैयार पर उजाले में निमत्रण स्वीकार नहीं।"[1] के सिद्धांत पर चलने वाले जर्जर समाज की विसंगतियों पर प्रेमचंद ने घोर प्रहार किया। अछूत समस्या पर भी उन्होने विशद विचार किया है। 'कर्म भूमि' उपन्यास में उन्होंने इस समस्या को व्यापक रूप से प्रस्तुत किया है। उनका 'गोदान' उपन्यास इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि उनका दृष्टिकोण समाज-सापेक्ष था। भारतीय ग्राम और ग्रामीण समस्याएं इस उपन्यास में साकार हो उठी हैं। उनके उपन्यासों में भारतीय समाज की जर्जरता और उसके नवोन्मेष के स्वप्न एक साथ साकार हो सके है।

प्रेमचंदोत्तर युग का सामाजिक संदर्भ

प्रेमचंदोत्तर युग में भारत ने अपने युग की सबसे बड़ी राजनैतिक हलचल में प्रवेश किया। तत्कालीन समर्थ कथाकारों ने उसका मंथन किया और उसका मूल्यांकन भी किया। स्वाधीनता आंदोलन के साथ ही देश की सारी समस्याएं राज-नीति से जुड गई। इसमें दो मत नहीं हो सकते कि आज के युग की पहले दर्जे की शक्ति राजनीति है। भारत ने जब राजनैतिक-स्वाधीनता की ओर कदम बढाया तभी से समाज की हर समस्या इसीका एक अंग बन गई। ऐसी स्थिति में यदि हिन्दी उपन्यासों में राजनैतिक हलचलों को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है तो

---

१. सेवा सदन, पृ० २९६

आश्चर्य की बात नही है।

आधुनिक भारत का ही दूसरी महत्त्वपूर्ण घटना है देश का औद्योगीकरण। स्वाधीनता-प्राप्ति के पहले से ही देश का औद्योगीकरण प्रारम्भ हो चुका था। भारत का व्यापारी वर्ग विश्वयुद्ध के समय कमाए हुए मुनाफे से उद्योगों की ओर झुक रहा था। भारत की स्वाधीनता के बाद देश का औद्योगीकरण और भी तेजी से हुआ। जवाहरलाल नेहरू की नीति ही उद्योगों को प्रोत्साहन देने की नीति थी। देश में तेजी से उद्योग बढ़े किन्तु औद्योगीकरण के दो दुर्गुण—पूजीवाद और काला बाजारी भी साथ बढे। पैसा ही आदर, अधिकार, पद-प्राप्ति का एक मात्र साधन बन गया। इस भयकर पूजीवादी युग मे मानवीय मूल्यों का तीव्रगति से विघटन हुआ जो आज तक होता जा रहा है। इस विघटन ने भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी, बेईमानी, अवसारवादिता, गंदी राजनीति, स्वार्थपरता, पदलोलुपता और सिद्धात-हीनता को जन्म दिया। प्रेमचंदोत्तर युग के उपन्यासकारो ने भारतीय समाज के सूक्ष्म से सूक्ष्म परिवर्तन को अपने उपन्यासो में चित्रित किया। प्रेमचद ने जो समाज-सापेक्ष दृष्टिकोण अपनाया था वह क्रमशः विकसित होता गया। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों मे मानव-मन का सूक्ष्म चित्रण लम्बे अर्से तक होता रहा किन्तु मनुष्य की सामाजिक समस्याओं का चित्रण बराबर जारी रहा।

वर्माजी का चित्रण

भारतीय समाज के परिवर्तनों को भगवती बाबू ने एक सजग व्यक्ति और सजग साहित्यकार की आखों से देखा। प्रेमचदोत्तर युग में जिन साहित्यकारो ने अपने उपन्यासो के माध्यम से सामाजिक समस्याओं को सामने रखा है उनमें भगवती बाबू का स्थान अत्यत ऊचा है। यह एक ध्यान देने योग्य तथ्य है कि विचारों से व्यक्तिवादी होने पर भी उनके उपन्यासों में सामाजिक समस्याओं का चित्रण है। प्रेमचद की तरह उन्होंने अपने युग की सारी समस्याओं का चित्रण नहीं किया है। यह बात अवश्य है कि जिन विशिष्ट समस्याओं पर उन्होंने अपनी दृष्टि डाली है, उनका गहनता से चित्रण किया है। इन समस्याओं को उन्होंने किसी वाद विशेष के चश्मे से नहीं देखा है जैसाकि प्रगतिवादी लेखक किया करते हैं। प्रगतिवादी उपन्यासकारो ने भी भारतीय समाज की विभिन्न समस्याओं पर गहराई से विचार किया है किन्तु उन्होंने समस्याओं के समाधान के लिए विशिष्ट राजनैतिक वाद का ही सहारा लिया है। भगवती बाबू ने जिन समस्याओं का विश्लेषण अपने उपन्यासों में किया है उन समस्याओं के हर पक्ष पर सोचने का प्रयास किया है। प्रायः हर उपन्यास में वे विभिन्न समस्याओं से जूझे हैं किन्तु किसी विशिष्ट राजनैतिक वाद की ओर उन्होंने विशेष झुकाव नहीं दिखाया है।

व्यक्ति और समाज के गहरे किन्तु नाजुक संबंध

व्यक्ति की गरिमा का स्वीकार आधुनिक युग मे ही हुआ है। समाज जैसे-जैसे सभ्य और प्रगतिशील हुआ है वैसे-वैसे उसके और व्यक्ति के सबंध बदलते गए है। समाज व्यक्तियों से मिलकर बनता है और व्यक्ति का निर्माण समाज में होता है। दोनो ही एक-दूसरे पर आश्रित हैं किन्तु कितनी ही बार दोनों एक-दूसरे के सामने प्रतिद्वद्वी की मुद्रा में खड़े हो जाते है। समाज अपनी इकाई व्यक्ति की स्वतंत्रता का एक सीमा के बाद विरोध करने लगता है, दूसरी ओर व्यक्ति अपने को ही स्वयं का अधिकारी मानते हुए समाज को चुनौती देने लगता है। इस तरह दोनों के अहम् टकराते हैं। कुछ समय पहले तक यह समस्या नही थी। व्यक्ति समाज द्वारा बनाए गए बंधनों को सर झुकाकर स्वीकार करता था। धर्म और नीति के नियम व्यक्ति के लिए लक्ष्मण-रेखा थे किन्तु ज्यो-ज्यों मनुष्य का ज्ञान बढ़ा उसकी चेतना इन बधनों से मुक्त हुई। नवीन युग के उदारवादी चिंतन, वैज्ञानिक प्रगति और मौलिक अधिकारों की कल्पना ने उसे अपना निजी व्यक्तित्व प्रदान किया। आज व्यक्ति इस स्थिति में है कि वह धर्म और नीति के नियमों का मूल्यांकन भी अपनी दृष्टि से कर सकता है। किन्तु इतना होने के बाद भी वह समाज में ही जीवित रह सकता है। एकाकीपन के अभिशाप को वह भोगना नहीं चाहता। किसी भी तरह के संबंधों की कल्पना ही व्यक्ति को समाज से अनिवार्य रूप में जोड़ देती है। कहने का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति और समाज के संबंध अत्यत गहरे किन्तु उलझे हुए है।

उपन्यास साहित्य मे व्यक्ति और समाज के संबंधों पर सोचने की प्रक्रिया का प्रारम्भ प्रेमचदोत्तर काल में हुआ। भगवती बाबू के उपन्यासों में व्यक्ति और समाज के संबंधों पर काफी विचार किया गया है। भगवती बाबू के उपन्यासों में पाप-पुण्य की समस्या इसी संबंध की व्याख्या का रूपांतर-भर है। वे व्यक्ति की स्वाधीनता की घोषणा करते हैं। 'चित्रलेखा' और 'रेखा' उपन्यास मे इसपर उन्होने विचार किया है। कुछ लेखकों को वर्माजी के दर्शन में अराजकता दिखलाई पड़ती है। डॉ० रमेश तिवारी का कथन है, "भगवतीचरण वर्मा आस्थाहीन बौद्धिकता तथा पाश्चात्य अराजकतावादी दर्शन के संयोग से अपने व्यक्तिवादी विचार-दर्शन का निर्माण करते हैं।"[1] यहां यह विचारणीय है कि वर्माजी के कुछ पात्रों में अराजकतावादी प्रवृत्ति है पर उसे उनकी प्रवृत्ति मान लेना गलत होगा। वे पाप-पुण्य और नैतिकता जैसे प्रश्नों को अवश्य व्यक्ति का अधिकार मानते है पर अराजकता के प्रति उनका आग्रह कभी नहीं रहा। व्यक्ति की स्वाधीनता को

---

१. डॉ० रमेश तिवारी, हिन्दी उपन्यास साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ३४०

कायम रखते हुए व्यक्ति और समाज के मधुर सबंधों की वे कल्पना करते है। उनके पात्र व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के प्रति समर्पित अवश्य है पर वे समाज के ढाचे को तहस-नहस करने के अभिलाषी कही भी नही दिखलाई पडते। उनके उपन्यासो के विषय मे डॉ० शीलकुमारी अग्रवाल का मत अत्यत सटीक है, "वातावरण व्यक्ति पर अपना प्रभाव डालता है, पर व्यक्ति-विशेष, उस वातावरण मे रहकर भी प्रभावों से अलग अपने व्यक्तिगत विचारों की रक्षा करता है। यही वातावरण और पात्रो का सघर्ष उनके सभी उपन्यासो मे दिखलाया गया है। कभी वातावरण का प्रभाव विजयी होता है और कभी पाप।"[1]

सामाजिक रूढ़ियां और क्रांति का संकेत

जिन सामाजिक समस्याओं पर प्रेमचंद ने विचार किया था उन समस्याओं को उसी ढंग से उठाने की आवश्यकता बाद के साहित्यकारो को नही हुई। कारण यह था कि भारतीय समाज ने कालांतर में नारी-शिक्षा, नारी-स्वातंत्र्य, विधवा-विवाह, अछूतोद्धार आदि सभी विचारो को स्वीकृत कर लिया था। अब वे समस्याएं या तो रह ही नही गई थी या उनका रूपान्तर हो गया था अथवा उन समस्याओं के कुछ सूक्ष्म पक्ष ही शेष बचे थे। प्रेमचदोत्तर उपन्यास-साहित्य ने सर्वाधिक विचार व्यक्ति के अतर्मन और व्यक्ति तथा समाज के बदलते सबधों पर किया है। भगवती बाबू ने सामाजिक रूढ़ियों के कुछ सूक्ष्म पक्षो को पकडा और उनपर विस्तार से विचार किया।

भारतीय समाज ने नारी को खुली हवा मे सांस लेने की छूट तो अवश्य दे दी किन्तु नारी-शरीर के साथ नैतिकता का एक हौवा जुडा ही रहा जबकि नैतिकता का यह हौवा पुरुष की देह के साथ उसी रूप मे कभी नहीं जुड़ा रहा। यौन संबंध के प्रति भारतीय समाज आज भी अत्यधिक सजग है। भगवती बाबू स्वच्छंद यौनाचार के समर्थक नहीं है किन्तु वे यौन-संबंधों को पुरानी दृष्टि से भी नहीं देखते। भारतीय समाज मे इन संबधों की एक विडंबना यह है कि पुरुष की आर्थिक स्थिति को देख-परखकर जीवन की सुविधाओं की सभावनाओं के आधार पर नारी का किसीसे विवाह कर लेना बुरा नहीं माना जाता। भगवती बाबू मात्र इस आधार पर विवाह करने वाली सभ्रांत स्त्री को वेश्या की कोटि में ही रखते हैं। इस संबंध मे भगवती बाबू का दृष्टिकोण सचमुच क्रान्तिकारी है—शायद इतना अधिक कि परम्परावादियो को इसमें अराजकता भी दिखलाई पड़ सकती है।

मनुष्य की देह की भूख को उन्होंने अत्यंत स्वाभाविक माना है। यह भूख

---

१. डॉ० शीलकुमारी अग्रवाल, हिन्दी उपन्यासों में कल्पना के बदलते हुए प्रतिरूप, पृ० १२०.

ऐसी है कि इसके सामने कभी भी और कोई भी परास्त हो सकता है। ऐसी स्थिति में यौनाचार का संबंध नैतिकता से जोड देने में वे कोई सार नही देखते। रेखा जैसी अतृप्त स्त्री के शारीरिक संबंधों को तो अनैतिक मानने के वे तनिक भी इच्छुक नही दीखते। उनके उपन्यासों मे यह भी दिखलाई पड़ता है कि नारी के इस तथाकथित पतन के लिए वे कही न कही पुरुष को दोषी मानते है। पुरुष नारी-शरीर का अधिक भूखा है और साथ ही नारी की भूख का फायदा उठाने में वह सिद्धहस्त खिलाड़ी भी है। ऐसी दशा मे पवित्रता और नैतिकता की बात केवल नारी-शरीर के साथ जोड़ना वे उचित नही मानते। मरती हुई जैदेई का अपने और ज्वालाप्रसाद के शारीरिक सबधों को पाप न मानना इसी बात का द्योतक है। इसके पीछे मात्र लेखक का व्यक्तिवादी दर्शन नही है बल्कि बदलते हुए युग की मान्यताओ के साथ उसकी सहमति भी है।

राष्ट्रीय हलचल और उसका रूपांकन

वर्माजी ने अपने अधिकांश उपन्यासों में भारतीय स्वाधीनता-आंदोलन से लेकर स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद तक के समय को चित्रित किया है। भारतवर्ष में स्वाधीनता-सग्राम से ही राष्ट्रीयता की हलचल का प्रारम्भ हुआ। भारत के स्वाधीनता-आंदोलन और उसके स्वरूप को भगवती बाबू ने काफी विस्तार से प्रस्तुत किया है। उन्होंने यह माना है कि स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद भारत मे जो अच्छाइयां-बुराइया विद्यमान है उनके बीज स्वतन्त्रता-आंदोलन के समय ही बो दिए गए थे। स्वतंत्रता-आंदोलन को पृष्ठभूमि बनाकर भगवती बाबू ने सबसे पहले अपना बृहत् उपन्यास 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' लिखा। परतन्त्र भारत में गतिशील विभिन्न राजनैतिक पार्टियों की विचारधाराओं और कार्य-प्रणालियों का इसमें वर्णन है। इस उपन्यास की साफगोई ने राजनैतिक विचारधाराओं से बधे लोगों को अवश्य रुष्ट किया। डॉ० चंडीप्रसाद जोशी का कथन है, "वर्माजी न चिंतक के रूप में और न कलाकार के नाते राजनीतिक उपन्यासकार की मर्यादा का निर्वाह कर पाते है। उनका उपन्यास अंत में पाठक को टेढ़े-मेढ़े रास्ते पर ही छोड़ देता है। उसमें न तो पाठक को उद्‌बुद्ध करने की शक्ति है और न चिंता के लिए प्रेरणा है, बल्कि लेखक स्वयं अवैज्ञानिक ढंग से राजनीनिक विवेचन करके भ्रांति फैलाता है।"[१]

वस्तुत: यह डॉ० जोशी का काफी पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण है। हिन्दी राजनैतिक हलचलों को व्यापक रूप से सामने रखने वाला यह पहला उपन्यास है जिसमें कांग्रेसी आंदोलन, अंकुरित होती हुई कम्युनिस्ट पार्टी तथा क्रांतिकारी

१. डॉ० चडीप्रसाद जोशी, हिन्दी उपन्यास : समाज शास्त्रीय विवेचन, पृ० ४००-४०१

आदोलन का चित्रण है। टूटता हुआ जमीदार वर्ग—उनके अत्याचार, और उनके अभिमान को भी लेखक ने साकार किया है। अग्रेज सरकार की कूटनीति का आभास लेखक मि० डाबसन से कहे गए रामनाथ तिवारी के शब्दों के माध्यम से देता है :

"जिन साधनों से आपने लोगो को गरीब और अपाहिज बनाया उनसे लोगों का ध्यान हटाने के लिए आप बेवकूफ, अपढ़ और मूर्ख जमीदारो को सामने ला-कर और उन्हें महत्त्व देकर हिन्दुस्तान मे गृह-कलह मचवा सकते हैं। नये-नये सवाल उठा लेना, हिन्दू-मुसलमान, वर्णाश्रम-अछूत, किसान जमीदार—ये सब छोटे-छोटे बिना महत्त्व के प्रश्न है। इनको महत्त्व देकर और लोगो की शक्तियों का इन बेकार की बातों पर अपव्यय कराके आप इस गुलामी की अवधि को लम्बा बनाना चाहते है।"[१]

जिस स्वाधीनता-आदोलन का स्वरूप अस्पष्ट और सशयग्रस्त था वही अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ किस तरह पनपा इसे लेखक ने अपने दूसरे बृहत् उपन्यास 'भूले-बिसरे चित्र' मे प्रस्तुत किया। इस उपन्यास में यह भी चित्रित हो सका है कि भारत के स्वाधीनता-आदोलन ने परम्परावादियों तथा ब्रिटिश सरकार के भक्तो के मन को भी कभी-कभी हिला दिया था। इस उपन्यास में एक स्थिति ऐसी आती है जब ब्रिटिश हुकूमत पर अदम्य विश्वास रखने वाला सरकारी अफसर गंगाप्रसाद बाद मे त्यागपत्र देने के लिए प्रस्तुत हो जाता है। गगाप्रसाद बाद मे त्यागपत्र नही देता किन्तु यह घटना इस बात को अवश्य सामने रखती है कि गंगप्रसाद की ही तरह कितने ही भारतीयो का मन विचलित हुआ होगा। देश की युवा पीढी को यह विश्वास हो गया था कि उसका कल्याण इस आंदोलन से जुड़ने में ही है। इस उपन्यास के अत में इस आदोलन को नवीन युग को धरा पर उतारने के लिए किए गए सामूहिक प्रयत्त के रूप मे प्रस्तुत किया गया है, "और दूर हजारों, लाखों, करोड़ों आदमी जीवन और गति से प्रेरित, नवीन उमग और उल्लास लिए हुए एक नवीन दुनिया की रचना करने के लिए चले जा रहे थे।"

भारत का स्वाधीनता-आंदोलन जैसे-जैसे विस्तृत होता गया वैसे-वैसे उसकी उलझनें भी बढ़ती गई। उससे न केवल विचारधाराओं में मतभेद उत्पन्न हुआ बल्कि अपने-अपने महत्त्व की स्थापना के लिए भी स्पर्धा प्रारम्भ हुई। राजनीतिक पार्टियों की गहमा-गहमी बढ़ी और देश के हर वर्ग के व्यक्ति उसमे कूद पड़े। 'सीधी-सच्ची बातें' इन सारी हलचलों का दस्तावेज है। इस उपन्यास मे १६३८ से १६४८ तक के समय को कथानक का आधार बनाया गया है। कांग्रेस पार्टी के त्रिपुरी-अधिवेशन के बाद गांधी ही देश के एकमात्र नेता रह गए। त्रिपुरी

१. टेढ़े-मेढ़े रास्ते, पृ० ४८

कांग्रेस में उत्पन्न मतभेद का परिणाम यह हुआ कि सुभाषचंद्र वोस जैसे तेजस्वी नेता को हटा दिया गया। गांधी के नेतृत्व में देशव्यापी अहिंसात्मक आंदोलन चला। भगवती बाबू की सहानुभूति कभी भी अहिंसा और अहिंसात्मक आंदोलन के साथ अधिक नही रही। उन्होने गाधी को 'फरिश्ता' माना है पर उनकी नीति का प्रत्यक्ष समर्थन नहीं किया। किन्तु ऐसा लगता है कि भगवती बाबू यह मानते रहे है कि उस समय देश के पास वही एक रास्ता था। यदि विश्वयुद्ध के समय सशस्त्र क्राति की भी जाती तो सभवत: विशिष्ट जीवन-दर्शन मे विश्वास रखने के कारण ब्रिटिश सेवा मे रत लड़ाकू जातियो का समर्थन उस क्रान्ति को नही मिल पाता। 'सीधी-सच्ची बातें' मे कामरेड जमील अहमद कहता है, "यहां हिन्दुस्तान में कुछ लडाकू जातियां है, फौज की भर्ती उन्ही लड़ाकू जातियों से होती है, सिख, जाट, गूजर, पठान, बलूच, राजपूत, मराठे-तैलंगे और गोरखे। इनको अच्छी तनख्वाहें दो, ये तनख्वाह देने वाले की तरफ से लड़ेंगे। तनख्वाह के माने है नमक खाना, और ये लोग नमक-हरामीपन को सबसे बड़ा पाप मानते है। बाकी लोगों में बड़े गहरे भेद-भाव हैं। हिन्दू-मुसलमान, मिल-मालिक-मजदूर, जमीदार-किसान हर जगह फूट है। हिंसा के माने है इन लोगों मे आपसी सघर्ष खड़ा कर देना। हिंसा के माने ब्रिटिश सरकार के साथ युद्ध नही होगे, उसके माने होंगे गृह-युद्ध।"[1]

इस उपन्यास में औपन्यासिक गुणों का तो नितांत अभाव है पर भारतीय समाज और जनमानस की हलचलों का चित्रण इसमे बडी स्पष्टता से हुआ है। स्वाधीनता-आंदोलन में कितनी ही विसंगतियां पल रही थी। आंदोलन ने राजनैतिक स्वतंत्रता के साथ ही साथ समाज-सुधार के कितने ही कार्यक्रम अपनाए थे। कितने ही कांग्रेसी इन कार्यक्रमों के समर्थन का ऊपरी प्रदर्शन करते थे। हरिजन-उद्धार आंदोलन की कलई इस उपन्यास में लेखक ने उतारकर रख दी है और उसकी विकृति को सामने प्रस्तुत कर दिया है। हरिजन सुखलाल और शिवदुलारी के विवाह के भोज के विषय मे बाबू राम और जगत के बीच हुआ यह वार्तालाप द्रष्टव्य है :

"जगतप्रकाश अंदर आकर कमरे में बैठ गया और बाबू राम ने स्टोव जलाकर चाय का पानी चढ़ा दिया। फिर वह बोला, 'यह सुखलाल—इसने अपने पिता की मर्जी के खिलाफ यह शादी की है। हिन्दू लॉ के अनुसार यह शादी हो ही नहीं सकती थी, लेकिन कांग्रेसमैनों ने मिलकर आर्य समाजी ढंग से यह शादी करवा दी है। जब तक कोर्ट में ये लोग रजिस्टर्ड मैरेज न करवा लें तब तक वह शादी कानूनी नही हो सकती। तिलक हाल मे तमाम कांग्रेसमैनों को दावत दी गई है, अपने घर में दावत देने की हिम्मत नहीं पड़ी। कौन जाता सुखलाल के घर खाना खाने—ऊपर

१. सीधी-सच्ची बाते, पृ० २५०

से यह हरिजन उद्धार का मामला ठीक है।'

" 'क्यों ? महात्मा गांधी तो हरिजनों के बीच ठहरते है, हरिजन बस्ती मे रहते हैं, हरिजनों के साथ खाना खाते है। हरेक कांग्रेसमैन महात्मा गाधी का अनुयायी है।'

" 'अरे महात्मा गांधी आदमी ही थोड़े ही है, वह तो देवता हैं, साक्षात् भगवान। यह छुआछूत, यह जाति-पाति—ये मनुष्यो पर लागू होते है—देवताओं पर नही।' "[1]

कांग्रेस में घुसे हुए मतलबपरस्त लोग अपने निहित स्वार्थ के लिए देशभक्ति के नाम पर औरों का माल किस तरह हडप रहे थे इसे अंगनू साह के माध्यम से लेखक प्रस्तुत करता है। जमील की विधवा फूफी का मकान कांग्रेसी अगनू पार्टी-दफ्तर के नाम पर सस्ते से सस्ते मे हड़प लेता है। जमील अहमद के इन शब्दों मे स्थिति पर तीखा व्यंग्य है, "यह लूट नही है बरखुरदार, यह देशभक्ति है। अगनू कांग्रेस के नाम पर मकान खरीद रहा है एक हजार रुपया अपने पास से देकर। यह अगनू का त्याग नही है तो क्या है? वह यह कहता है कि फूफीजान भी त्याग करें—यानी, एक हजार रुपये से वह गम खाए।"[2]

गांधी महान थे, स्वाधीनता-आदोलन गौरवशाली आंदोलन था, लोगों के त्याग झूठे नही थे पर यह भी सत्य है कि इन हलचलों के पीछे विसंगतिया भी थी और स्वाधीनता-आंदोलन के साथ प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियां भी जड़ी हुई थी। इस आदोलन में शामिल पूजीपतियो की देशभक्ति का आवरण नकली था। इस बात को जमील अहमद इस तरह व्यक्त करता है :

"हां बरखुरदार, ब्रिटिश साम्राज्य को मिटाने मे दिलचस्पी किसे है ? देश के इस पूजीवाद को ही तो है जो विदेशी पूजीवाद के मातहत है। हम जो कहते है कि कांग्रेस पूजीवादियो की सस्था है, वह गलत नही कहते, खुदा न खास्ता अगर हमारा देश स्वतंत्र हो गया तो देखना कि यहां पूंजीवाद का इतना नंगा नाच होगा कि लोग त्राहि-त्राहि कहने लगेंगे, बनियो का राज होगा इस देश में।"

हिन्दू-मुस्लिम समस्या

भारत मे हिन्दू-मुसलमानों के बीच की खाई बहुत पुरानी है। देश में मुसलमानों के शासन के समय से ही इन दोनों सम्प्रदायों में तनाव था। इनके अदर जब आपसी समझ पैदा हो रही थी तभी अंग्रेजों की कुटिल नीति ने इन दोनों के बीच भ्रम की मोटी दीवार चुन दी। इस समस्या को अधिकाधिक राजनैतिक रंग मिला स्वतंत्रता-आंदोलन के समय —जबकि स्वतंत्रता-आदोलन के कार्यक्रमों में

१. सीधी-सच्ची बातें, पृ० ३०५
२. वही, पृ० ६४

हिन्दू-मुस्लिम एकता भी एक महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम था। भगवती बाबू के उपन्यासों मे इस समस्या पर काफी विचार किया गया है। ऐसा स्पष्ट अनुभव होता है कि इस समस्या को व्यर्थ का राजनैतिक तूल दिए जाने की लेखक को बड़ी वेदना है। वह इस बात को नही भूल पाता है कि हिन्दू-मुसलमानो के भाग्य एक साथ बधे है फिर भी यह समस्या आज भी विद्यमान है। 'भूले-बिसरे चित्र,' 'सामर्थ्य और सीमा,' 'सीधी-सच्ची बाते' और 'प्रश्न और मरीचिका' मे इस समस्या के विविध पहलू सामने आए है।

हिन्दू और मुसलमानो की समस्या वर्माजी के दृष्टिकोण से केवल राजनैतिक और धार्मिक नही है। उनके मत से यह सास्कृतिक है। इस समस्या के मूल में है दो सस्कृतियो का मूल अंतर। हिन्दू समाज धर्म को व्यक्तिगत स्तर पर ग्रहण करने के पक्ष मे है। हिन्दू धर्म की सबसे बडी दुर्वलता वे यह मानते हैं कि वह सामाजिक नही है बल्कि वैयक्तिक है। दूसरी ओर इस्लाम मे धर्म का स्वरूप सामाजिक है पर उसमें सकुचित सामाजिकता है अतः वह व्यर्थ की हिसा पर उतारू हो जाता है। हिन्दू धर्म स्वयं ही अपने समर्थको को विभाजित करता है। ऐसी स्थिति मे अन्यों के साथ उसकी एकता की कल्पना हास्यास्पद है। अन्य धर्मावलंबी हिन्दू समाज के इस दुर्गुण के आधार पर उसके साथ घुल-मिलकर रहने की कल्पना ही नही कर पाते—"तुम्हें अपने को हिन्दू कहने मे शर्म आती है। तुम तो छोटे-छोटे फिरकों मे बंटे हुए हो, बरहमन, बनिया, ठाकुर, अहीर, चमार। और जब इनसे ऊपर उठे तो इटरनेशनल बन गए।"[1]

दूसरी ओर मुसलमान हैं जिन्होने इस देश से अधिक महत्त्व मक्का-मदीने को दिया। उनकी इस प्रवृत्ति ने हिन्दुओं को उनपर विश्वास नही करने दिया। तुर्की के खलीफा के पक्ष मे भारतीय मुसलमानो ने आदोलन किया। गांधीजी ने उस आंदोलन का समर्थन किया पर आदोलन की समाप्ति के बाद कट्टर मुसलमानों ने फिर अपना स्वरूप दिखलाया। 'भूले-बिसरे चित्र' में अब्दुल हक कहता है, 'अजी खिलाफत का मसला तो शामिल करके हम मुसलमानो को बेवकूफ बनाया गया था। बाबू गगाप्रसाद, यह सारा मूवमेट सुराजियों का है, यह साफ है। विलायती कपड़ा मत पहनो, विलायती माल मत खरीदो, शराब की दुकान पर धरना दो, और गुड़ का बाप कोल्हू, यानी अब नारा लगने लगा कि टैक्स मत दो। जनाब, इस हिन्दू गांधी का यह मक्र और फरेब कब तक चलेगा ?"[2]

इन आपसी गलतफहमियों ने हिन्दू-मुसलमानो को कभी एक-दूसरे का विश्वास नही करने दिया। धर्मार्थ व्यक्तियो की दृष्टि मे आदमी पहले हिन्दू अथवा मुसलमान है—आदमी बाद मे। 'भूले-बिसरे चित्र' मे मलका को लेकर

१. सामर्थ्य और सीमा, पृ० १३५

२. भूले-बिसरे चित्र, पृ० ४०१

उठ खड़े होने वाले फसाद और 'प्रश्न और मरीचिका' मे सुरैया को लेकर उठने वाले झगड़े के माध्यम से भगवती बाबू ने यह चित्रित किया है कि इस कट्टरता ने कैसी अजीब समस्या को जन्म दिया है। 'प्रश्न और मरीचिका' मे सुरैया के अंतर्द्वंद्व के माध्यम से वे बतलाते है कि धार्मिक कट्टरता किस तरह प्रेम का गला घोंट देती है। इसी उपन्यास मे मुहम्मद शफी और केसर बाई के प्रेम-प्रकरण तथा मुहम्मद शफी की हत्या के माध्यम से यह बात भी सामने रखी गई है कि व्यक्तिगत मामलों को भी किस तरह साम्प्रदायिक रग दे दिया जाता है :

"उसने मेरे अति घनिष्ठ मित्र मोहम्मद शफी की हत्या की थी। और उसने मोहम्मद शफी की हत्या किसी साम्प्रादायिक कारणों से नहीं की थी, उसने हत्या इसलिए की थी कि यदि मोहम्मद शफी से केसर बाई का विवाह हो जाता तो वह केसर बाई की जायजाद से वचित रह जाता। और उस हत्या को उसके पड़ौसी, उसके साथी साम्प्रादायिक दगे का रूप देने का प्रयत्न कर रहे थे।"[१]

हिन्दू-मुस्लिम समस्या का सबसे दुखद पक्ष हिदुस्तान और पाकिस्तान का बटवारा है। धर्म के आधार पर देश को बटवारे के कगार पर खड़ा कर देना अग्रेजों की बडी भारी राजनैतिक चाल थी। राष्ट्रीय भावनाओं से युक्त हिन्दू-मुसलमानों ने कभी बंटवारा नही चाहा था। 'सीधी-सच्ची बातें' का जमील अहमद, जो मजहबी कट्टरता से ऊपर उठा हुआ सच्चा मनुष्य है, कहता है, "हिन्दुस्तान के बंटवारे की जबरदस्त तैयारिया हो रही हैं, और यह बंटवारा हिन्दुस्तान को तोड़कर रख देगा! यह बटवारा जबान की बिना पर नहीं हो रहा है, यह हो रहा है मजहब की बिना पर। जबान की बिना पर हिन्दुस्तान के मुख्तलिफ हिस्सों के अलग हो जाने की बात तो समझ मे आ सकती है, लेकिन मजहब की बिना पर यह बंटवारा, समझ में नही आ रहा। यह सब कैसे होगा ?"[२] किन्तु साम्प्रादायिक दंगों की छाया में देश का बंटवारा हुआ। जमील अहमद जैसे उदारवादियों ने भी स्वतंत्र भारत में अपना भविष्य अनिश्चित समझा और पाकिस्तान की राह ली।

स्वाधीन भारत में धार्मिक स्वार्थ का राजनैतिक स्वार्थ से गठबंधन हुआ। चुनाव का मत राजनैतिक ब्लैकमेल का साधन बना। 'सामर्थ्य और सीमा' में जयाली गांव के मस्जिद-प्रकरण के माध्यम मे इसे बड़ी सुन्दरता से चित्रित किया गया है। मौलाना रियाजुलहक जैसे साम्प्रादायिकता का जहर उगलने वाले नेता बड़ी बेशर्मी से कह जाते हैं, "जनाब शर्मा साहब, हम मुसलमानों ने हजार बरस हिन्दुस्तान पर हुकूमत की है। हिन्दुस्तान में हुकूमत वही पार्टी कर पाएगी जो मुसलमानों के हक की हिफाजत करेगी, जो इज्जत के साथ रखेगी। हम मुस-

१. प्रश्न और मरीचिका, पृ० ४६५
२. सीधी-सच्ची बातें, पृ० ४८३

लमान एक है। यह गाजियों और शहीदों वाला इस्लाम दबेगा नही।"[१] भगवती बाबू ने अपने उपन्यासों के माध्यम से बार-बार यह व्यक्त किया है कि यह समस्या राजनैतिक स्वार्थ और समझदारी के अभाव के कारण अभी तक उलझी हुई है।

निर्माण-वेला और राष्ट्रीय चरित्र का संकट

स्वाधीन भारत में आम आदमी के मोह-भंग का दर्द समकालीन कथा-साहित्य (उपन्यास एवं कहानी) का सर्वाधिक चर्चित विषय है। भगवती बाबू के उपन्यासों में भी यह चित्रण प्राप्त होता है। स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद अच्छे दिनो की कल्पना प्रत्येक परतंत्र देश करता है। यही कल्पना भारतवर्ष में भी की गई थी किन्तु वह साकार नहीं हो सकी। स्वाधीनता-आंदोलन में ही छिपे हुए विषैले कीटाणुओं का स्वाधीनता की स्वच्छ हवा में भी तेजी से प्रसार हुआ।

पूजीवाद का दानव

देश के सारे स्वप्न पूजीवाद के क्रूर पंजों में दबकर चकनाचूर हो गए। वर्माजी ने अपने उपन्यासों के माध्यम से यह बतलाया है कि वास्तव में इस देश के पूंजीपतियों ने अपनी मोर्चाबंदी पहले ही कर रखी थी। इसी मोर्चेबदी का एक रूप यह था कि देश के बड़े-बड़े पूजीपति कांग्रेस में शामिल हो गए। उन्होंने स्वदेशी के प्रचार में भी रुचि इसलिए दिखलाई क्योंकि इसमें उनका लाभ था। 'सीधी-सच्ची बातें' और 'सबहिं नचावत राम गुसाईं' के माध्यम से भगवती बाबू ने देश में पैर जमाते हुए पूजीवाद का चित्रण किया है। कांग्रेस को पूंजीपतियों की संस्था निरूपित करते हुए जमील अहमद प्रजातत्र के विषय में अपनी राय देता है, "कुछ लोग आपस मे समझौता करके एक गुट बना सकते हैं और यह गुट मुल्क पर हकूमत कर सकता है। यह गुट बढता जाता है। डिमाक्रेसी की यही सबसे बड़ी कमजोरी है। और जब लूटने वालों का गुट बेतरह बढ़ जाता है तब लूट भी बेतरह बढ़ जाती है।"[२] 'सामर्थ्य और सीमा' में भारत की आधुनिक संस्कृति को 'गांधी की बनिया संस्कृति'[३] कहा गया है।

व्यापारी वर्ग अपनी तिकड़म से किस तरह बढ़ता गया है यह बात 'सबहिं नचावत राम गुसाईं' में अत्यत यथार्थ ढंग से दर्शाई गई है। अंग्रेजों के प्रति भक्ति बतलाकर राधेश्याम और जैसुखलाल द्वितीय विश्वयुद्ध के समय ब्लैक मार्केटिंग के द्वारा अपनी दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति करते हैं। किन्तु जैसे ही भारत की स्वतत्रता के आसार दिखलाई पड़ते हैं वे तुरंत ही खादीधारी बनकर कांग्रेस में

---

१. सामर्थ्य और सीमा, पृ० १३५
२. सीधी-सच्ची बातें, पृ० १००
३. सामर्थ्य और सीमा पृ० ८४

शामिल हो जाते है। जैसुखलाल कहता है, "अरे, हम लोगों को खद्दर पहनना पड़ेगा और कांग्रेस में शामिल होना पड़ेगा, अगर युद्धकाल मे हम लोगो ने जो करोडों रुपया कमाया है उसे बरकरार कायम रखना है। आगे चलकर देखना, यही कांग्रेस वाले मिनिस्टर बनेंगे और राज करेंगे। और इनका हमला हम पैसे वालो पर होगा। इस सबके पहले हम लोग खुद कांग्रेसमैन बन जाएं फिर देखे यह कैसे हमपर हमला करते है।"[१]

स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद जबरसिंह जैसे मन्त्रियों को खरीदकर ऐसे ही लोग चारों तरफ से धन बटोरने लगे और भारत का औसत आदमी भूखों मरता रहा। राधेश्याम जैसे काला बाजारियो और अपराधियों को उद्योगों के लिए लाइसेंस और सरकारी सहायता मिलती गई। इन सारी परिस्थितियो में एक ऐसे समाज का निर्माण हुआ जिसमे पैसा ही सब कुछ है, जहां योग्यता, ईमानदारी और मानवीयता जैसे गुण कोई अर्थ नही रखते। सारा देश इस अर्थपिशाच के चगुल में फंसता गया और स्थिति दिन-प्रतिदिन बिगड़ती ही गई। यह स्थिति आज भी बिगड़ती जा रही है। भगवती बाबू के उपन्यासों मे अर्थ-पिशाच के कितने ही एजेण्ट और पट्टेदार दिखलाई पडते हैं। अपनी सशक्त लेखनी से उन्होंने पूजीवादी युग को यथार्थ रूप में चित्रित किया है।

चरित्र का सकट

स्वाधीन भारत में चरित्र जैसी वस्तु का बिलकुल ही अभाव हो गया है। देश के ऊंचे तबके के लोग इतने स्वार्थी और नीच हो गए है कि समाज की प्रत्येक सधि मे भ्रष्टाचार घुसकर बैठ गया है। चरित्र का यह सकट सबसे अधिक राजनैतिक क्षेत्र में दिखलाई पडता है। भगवती बाबू ने एक कुशल डॉक्टर की तरह इस समस्या की सूक्ष्म से सूक्ष्म नस को अपने उपन्यासों मे खोलकर रख दिया है। उनके उपन्यास बडी कुशलता से यह व्यक्त करते हैं कि "अब सिवा नेतागीरी के और किसी दूसरे पेशे मे फायदा नही है।"[२] स्वतंत्र भारत के आम चुनाव केवल सौदेबाज़ी होकर रह गए है। 'प्रश्न और मरीचिका' में उदयराज से उसके काका कहते है, "वह जैदयाल यादव, लखपती-करोड़पती आदमी का लड़का है। बाप ने एक लाख रुपया निकाल रखा है उसे जिताने के लिए। पच्चीस हजार रुपया नगद देकर उसने कांग्रस का टिकट लिया है डंके की चोट पर। उसे टिकट मिला नही है, उसने टिकट खरीदा है, समझ रहे हो न।"[३]

---

१. सबहिं नचावत राम गुसाईं, पृ० ३९
२. प्रश्न और मरीचिका, पृ० २४६
३. वही, पृ० ३९५

'प्रश्न और मरीचिका' मे आज के राष्ट्रीय चरित्र-सकट की भीषणता दिखलाई पड़ती है। शर्माजी जैसे कर्मठ और ईमानदार आदमियों के दिन लद गए। रूपा शर्मा जैसी सभ्रान्त वेश्याएं अपने राजनैतिक और शारीरिक सम्पर्क के बल पर तरक्की करती है। चाहे पद पर आसीन नेता हो और चाहे विरोधी नेता सभी पैसों पर बिक गए हैं और सभी सिद्धांतो मे समझौता करते हैं। 'सबहि नचावत राम गुसाई' के त्यागमूर्ति जैसे कमजोर और प्रदर्शन-प्रिय चुके हुए नेता महत्त्वपूर्ण पदों पर बैठकर समस्याओ को बढ़ा रहे है। जबर सिह जैसे व्यक्ति गुंडो के दम पर राज्य कर रहे हैं। प्रदेश के गृहमन्त्री होकर वे इन्सपेक्टर से कहते है, "अब यह देखो कि साम्प्रादायिक दंगों की आशका नही, स्मगलिग कम होगी, ब्लैक मार्केटिंग बंद—लॉ एण्ड आर्डर पोजीशन बिलकुल ठीक। तो फिर तुम लोगो की जरूरत ही क्या है?" इसके लिए उनके पास यह उपाय है. "इन गुण्डों को बद रखने से कोई फायदा नही। तो कल इन लोगों को बुलाकर लेक्चर देना कि देशभक्त बनें, ईमानदार नागरिक बनें, कानून का पालन करें और फिर छोड़ देना।"[१]

स्वाधीन भारत में रिश्वत का बोलबाला फुटपाथ से लेकर सचिवालय तक है—'हर तरह की आजादी मिली है, लूटने की, अमीर बनने की, बेईमानी करने की, हर तरह की आजादी। तब कुछ इने-गिने अंग्रेजो के अधीन यह देश था, वह लोग खुद तो लूटते थे लेकिन दूसरों को नही लूटने देते थे। लेकिन आज हिन्दुस्तान का हरेक आदमी अपने को इस देश का मालिक समझता है, लूट में एक होड़-सी लग गई है।"[२] लालफीता शाही और मिली भगत, भाई-भतीजावाद और मक्कारी जैसे दुर्गुण स्वाधीन भारत की सर्वाधिक उत्पन्न होने वाली फसल हैं। कामरेड रवीन्द्र और मार्तण्डजी राधेश्याम के पास किसानों की जमीन की रक्षा करने जाते है और अपने हितो की रक्षा करके लौट आते हैं। राधेश्याम के यहां बैठकर असली स्कॉच ह्विस्की का रसास्वादन वे करते है। राधेश्याम का एक प्रलोभन ही उनका ईमान खरीद लेता है, "यह दो-दो हजार रुपये हैं, पत्र-पुष्प के रूप में आप लोगों को मेरी भेंट। फैक्टरी और कृषि अनुसंधान शाला के उद्घाटन के दिन आप लोगों को भेंट की तौर से तीन-तीन हजार रुपया और पहुंच जाएगा और आप लोग—अगला चुनाव लड डालिए। जितनी भी मदद मुझसे हो सकेगी, मै दूगा।"[३] भारतीय समाज की सिद्धांतहीनता पर लेखक की निम्नलिखित प्रतिक्रिया पंद्रह अगस्त, १९४७ के बाद से आज तक के लिए सही उतरती है:

"शानदार मोटरों पर सवार, कीमती रेशम और पश्मीने के कपड़े पहने हुए

१. सबहि नचावत राम गुसाईं, पृ० १७८-१७९
२. प्रश्न और मरीचिका, पृ० ३५३
३. सबहि नचावत राम गुसाईं, पृ० १९४

इन कांग्रेसमैनों का वर्ग देश का निर्माण करने के लिए पंडित जवाहरलाल नेहरू के इर्द-गिर्द एकत्रित हो रहा था। हृदय-परिवर्तन के नाम पर और देश के स्वतन्त्रता-सग्राम मे जवाहरलाल नेहरू से कंधा से कंधा मिलाकर चलने वाले और अपने को उनका समकक्ष समझने वाले आदमी कांग्रेस से अलग होकर अपनी पार्टिया बना रहे थे। लेकिन इन लोगो के पास भी तो कोई आदर्श नही दिखता था, कोई सिद्धांत नही दिखता था, मात्र कुंठा और सत्ता की भूख।"[१]

नियतिवादी दृष्टि से समस्याओं का आकलन

भगवती बाबू के उपन्यास में चित्रित सामाजिक समस्याओं पर चर्चा करते समय यह बात हमें ध्यान मे रखनी होगी कि वे नियतिवादी है अतः समस्याओ का आकलन भी वे विशिष्ट दृष्टिकोण से करते है। सम्पूर्ण देश को त्रस्त कर देने वाली सामाजिक समस्याओ का वे चित्रण अवश्य करते है पर बाद मे इन सारी अनियमितताओ के प्रति एक निर्लिप्त मुद्रा बना लेते है। बेईमान पूजीपतियों, रिश्वतखोर आफीसरों, अदूरदर्शी राजनीतिज्ञों, क्रूरता से भरे हुए असामाजिक तत्त्वो को देश की बर्बादी का कारण मानने के बाद भी वे अंत मे यह स्वीकार कर लेते है कि जो कुछ घटित होना है वही हो रहा है।

विषमता के कारण पशुतुल्य जीवन बिताने के लिए बाध्य लोगो का चित्रण वे करते है पर अन्य समस्या-प्रधान उपन्यासकारों की तरह वे खुले स्वर मे इसकी जिम्मेदारी मनुष्य पर नही डालते। प्रभानाथ कलकत्ते के वैभव और वहा पर व्याप्त भीषण गरीबी से अत्यंत दुखी होता है किन्तु इसके पीछे मानवीय जीवन की अनिश्चितता ही उसे मालूम पड़ती है। अपनी गहन उदासी को वह इस रूप मे व्यक्त करता है, "सोच रहा था कि एक दिन का भी ठिकाना नहीं। चारों तरफ देखता हूं और मालूम होता है कि हर चीज अनिश्चित है।"[२]

कही-कहीं इस बात की हलकी-सी झलक-भर मिलती है कि सामाजिक क्रूरताओं के पीछे मनुष्य का हाथ है पर इस विचार पर लेखक स्थिर नही रहता। बगाल के भीषण अकाल पर लेखक का दृष्टिकोण इस हद तक अपने दर्शन से परिचालित है कि शायद ही कोई इस समस्या पर लेखक से सहमत हो सकेगा :

"रूंधे कंठ से जगतप्रकाश बोला, 'जमील काका, यह सब क्या हो रहा है? हजारों-लाखों आदमी मेरे सामने भूखों मर रहे है—इस अकाल की विभीपिका को देखते हुए कैसे खाना खाया जा सकता है? यह तो दानवता और पशुता का तांडव हो रहा है, इसकी जिम्मेदारी किसपर है?'

"' किस्मत पर, खुदा पर।' जमील बोला।

---

१. प्रश्न और मरीचिका, पृ० २३०

२. टेढ़े-मेढ़े रास्ते, पृ० ८३

" 'नहीं, इसकी जिम्मेदारी मनुष्य पर है। मनुष्य के पास उसकी बुद्धि है, उसकी सामर्थ्य है, जिसके सहारे वह अनादिकाल से इन प्राकृतिक संकटों से लड़ता आया है। आज मैं देख रहा हू कि भावना मर गई है, बुद्धि विकृत और कुंठित हो गई है।'

"जमील ने जगतप्रकाश का हाथ पकड़ लिया, 'तुम ठीक कहते हो। लेकिन इस कुदरत के साथ लड़ने में हमेशा इंसान ही जीते, यह मुमकिन नहीं। मर्ज जब लाइलाज हो जाता है तब कोई बस नही चलता। इन लोगों को मरना ही है। जंग में जो करोड़ों आदमी मर रहे हैं, उन्हें भी तो बचाया जा सकता था, लेकिन कुदरत को यह मंजूर नही।' "[1]

समस्याओं का नियति के नाम पर इस तरह पटाक्षेप कर देने की उनकी प्रवृत्ति अन्य उपन्यासों में भी है। इस प्रवृत्ति को नेमिचद्र जैन 'दृष्टि का सरलीकरण' मानते हैं—"वर्माजी की सारी दुनिया इसी सरलता के साथ चलती है। चाहें तो कह सकते है कि यह मासूमियत ही उनकी विशेषता है। पर शायद हिन्दी उपन्यास अपनी समस्त आपरिपक्वता के बावजूद इस प्रकार के सरलीकरण से तो कुछ आगे बढ़ ही गया है। जिन्दगी की कोई गहरी समझ इस सरलीकरण के सहारे न तो प्राप्त हो सकती है, न सर्जनात्मक स्तर पर दूसरों को सम्प्रेषित ही की जा सकती है।"[2] इसमें संदेह नही कि मानव की अत्यंत कठिन समस्याओ को इतनी आसानी से दरकिनार नहीं किया जा सकता। भारत के बंटवारे पर भगवती बाबू की यह प्रतिक्रिया पलायन ही है—"यह बंटवारा होना ही था, कोई नही रोक सकता था उसे। भला भगवान के विधान को भी कोई रोक सका है।"[3]

समाधान के सूक्ष्म संकेत

नियतिवादी जीवन-दर्शन पर विश्वास करने के कारण लेखक मनुष्य को अपनी समस्याओं का समाधान ढूढ़ने में असमर्थ मानता है। समस्याएं हमेशा विद्यमान रहेंगी और मनुष्य उनसे जूझता रहेगा। वह समय को बदलना अवश्य चाहेगा पर जो होना है वह होता ही रहेगा। मनुष्य की असमर्थता पर विश्वास करने के कारण लेखक समस्याओं का कोई समाधान प्रस्तुत नही करता। आज का विश्व किसी न किसी राजनैतिकवाद के माध्यम से इन समस्याओं का समाधान पाना चाहता है। भगवती बाबू इन वादों को अंततोगत्वा मानवीय अहम् का ही दूसरा रूप मानते हैं। उपन्यास के माध्यम से किसी निश्चित समाधान को

---

१. सीधी-सच्ची बातें, पृ० ४७०
२. नेमिचद्र जैन, अधूरे साक्षात्कार, पृ० ८८
३. प्रश्न और मरीचिका, पृ० १६

प्रस्तुत करने मे उनकी आस्था वैसे भी कभी नही रही, "जहां समस्यामूलक उपन्यास किसी निश्चित निदान को निर्धारित करता है वही वह राजनैतिक प्रचार का माध्यम बनकर अपनी कला को खो देता है।"[१]

भगवती बाबू मानते है कि राजनैतिकवादो से मानवीय समस्याओं का समाधान नही हो सकता। 'टेढ़े-मेढे रास्ते' और 'सीधी-सच्ची बाते' के द्वारा लेखक यह सिद्ध करने की कोशिश करता है। मनुष्य अपना काम ईमानदारी से करता चले इसे ही वे काफी मानने हैं। समाधान की ओर यही ठोस कदम है। 'सीधी-सच्ची बाते' का परवेज कहता है, "ये जितने इजम-विजम है इन सबमे कही कोई लफड़ा है। अरे बाबा, मेहनत करो, ईमानदार बनो,—हर मजहब यह बतलाता है। बाकी सब आदमी अपना-अपना मुकद्दर लेकर पैदा होते है।"[२]

भगवती बाबू के विचार से सारी समस्याओं का कारण यह है कि मनुष्य की आत्मा से भावना मर गई है। वे मानते है कि समस्याओं का निदान भावनात्मक ही हो सकता है :

"बड़े-बड़े बौद्धिक प्राणियो, समाजशास्त्रियों, राजनीतिज्ञो और दार्शनिकों को भी कही न कही यह स्वीकार करना पड़ता है कि इन शाश्वत समस्याओं का निदान भावनात्मक ही हो सकता है। राजनीतिक अथवा सामाजिक दर्शन इनके निदान की ओर एक इगित के रूप-भर मे ही आ सकता है।"[३] भावना ही व्यक्ति को व्यक्ति, समाज और देश से जोडकर उसे उनके प्रति ईमानदार बना सकती है। आक्रोश और अविश्वास से सृजन नही हो सकता। विद्रोह के पीछे अक्सर विश्वास की कमी रहती है अतः उससे मनुष्य का कार्य बन नही पाता। भावना को महत्त्व देने के कारण ही भगवती बाबू चेतना और चेतनाजनित ज्ञान से बचने की बात कई स्थानों पर करते है।

---

१. भगवती चरण वर्मा, साहित्य की मान्यताएं, पृ० १२
२. सीधी-सच्ची बातें
३. भगवतीचरण वर्मा, साहित्य की मान्यताएं, पृ० १२७

अध्याय ६

भगवती बाबू का आधुनिकता-बोध

आधुनिकता का स्वरूप

भगवती बाबू के उपन्यास साहित्य मे उद्भासित आधुनिकता-बोध पर विचार करने के पूर्व आधुनिकता के स्वरूप पर सक्षेप में विचार कर लेना आवश्यक है। आधुनिकता पर तीन दृष्टियो से विचार किया जा सकता है। काल-विभाजन की सुविधा की दृष्टि से, काल-दर्शन की दृष्टि से और नवीन प्रवृत्तियो के समुच्चय की दृष्टि से।

तीनों दृष्टिकोण क्रमशः स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर बढते है। काल-विभाजन की सुविधा की दृष्टि से हम अतीत के कालखण्डों को प्रागैतिहासिक, प्राचीन, मध्य आदि नाम देकर नवीनतम समय को आधुनिक कह देते है। काल-दर्शन की दृष्टि से आधुनिकता का अर्थ तात्कालिकता या समसामयिकता है। इस दृष्टि से मूल्यांकन करने पर प्रत्येक युग अतीत बनने के पहले आधुनिक होता है और प्रवहमान काल का प्रत्येक नवीन क्षण आधुनिक है। प्रवृत्ति-विशेष के रूप में भी आधुनिकता स्वीकार की जाती है। यह आधुनिकता का सूक्ष्मतम तथा बहु-प्रचारित रूप है। इस रूप में आधुनिकता समसामयिकता से पूरी तरह मुक्त हो जाती है।

किसी युग-विशेष में विचार के रूप में प्रचारित आधुनिकता काल को भी पराजित कर सकती है। औद्योगिक क्रांति तथा फ्रांस की क्राति के बाद जो विचार और प्रवृत्तियां आधुनिक कहलाईं वे काल की लम्बी अवधि के बीत जाने के बाद भी आधुनिक बनी हुई हैं। विचारों के क्षेत्र में उदारता इस आधुनिकता का केन्द्र-बिदु रहा है। कहने का तात्पर्य यह है कि जहां प्रवृत्ति-विशेष को आधुनिकता

का पर्याय माना जाता है वहा आनुनिकता समसामयिकता की समानार्थी नही रह जाती। एक उदाहरण से यह बात अधिक स्पष्ट हो सकती है। मध्ययुगीन कवि कबीर अथवा विगत शताब्दी के विचारक विवेकानन्द और राजा राममोहन राय के विचार आज भी आधुनिक है। दूसरे और ऐसे कितने ही लोग आज मिलते है जिनकी विचारधारा को हम ठेठ मध्ययुगीन कह सकते है।

आधुनिकता का संबंध समाज के आधुनिकीकरण से तो है ही पर यह राष्ट्रीय और मानवीय प्रश्न भी है। "व्यापक आधुनिकीकरण तथा समाजीकृत आधुनिकीकरण आधुनिकता को एक राष्ट्रीय और मानवीय क्षितिज देता है। इसलिए हम आधुनिकता की समस्या को एक ओर राष्ट्रीय सस्कृति के प्रश्न से जोड़ सकते हैं तो दूसरी ओर समाज के आधुनिकीकरण से। इसलिए आधुनिकता एक विचार-विधि, एक व्यवस्था की समग्र धारणा, एक चिंतन-पद्धति, एक वृत्ति अथवा मूल्य-चक्र से अभिहित होती है।"[1] साहित्य मूलतः सामाजिक और नैतिक मूल्यो से जुड़ा होता है। मात्र समसामयिक परिवर्तनों और तत्कालीन समस्याओं पर विचार करना साहित्य का विषय नही होता बल्कि पत्रकारिता का विषय हुआ करता है। "कारण, प्रवृत्ति-विशेष की बात को हटा देने के बाद 'आधुनिकता' का सबध केवल काल से बच जाता है। और तब कालिक दृष्टि से प्रत्येक युग अपने वर्तमान अथवा क्रियमाण रूप मे आधुनिक रहता है (यानी युग-चेतना का पर्याय है आधुनिकता)।"[2]

किसी लेखक का आधुनिकता-बोध इस बात पर निर्भर नही करता कि अपने साहित्य मे वह आधुनिक युग का चित्रण कर रहा है अथवा प्राचीन युग का। मुख्य बात है कृतिकार का दृष्टिकोण, उसकी विचारधारा। आज धर्म-निरपेक्षता, उदारता, परम्परा-भंजन, सामाजिक समस्याओं का आर्थिक स्तर पर तथा मानवीय समस्याओं का मनोवैज्ञानिक स्तर पर आकलन, वैज्ञानिक दृष्टि-कोण की ओर झुकाव तथा अतर्राष्ट्रीयता आदि का आधुनिकता-बोध से सीधा सबंध है।

भगवती बाबू की आधुनिकता

भगवती बाबू ने चार दशक से भी पहले लिखना प्रारम्भ किया था और वे आज भी सृजन-रत हैं। जब भी उनकी कोई कृति सामने आई है उसमें तत्कालीन परिवेश को गहराई से चित्रण करने की प्रवृत्ति दिखलाई पडती है। भारत के नवीन युग के परिवर्तनों के चित्रांकन मे उन्होंने ऐतिहासिक तथ्यों का आश्रय लिया है। केवल इतने से ही भगवती बाबू को आधुनिकता-बोध से युक्त लेखक

१. डॉ० रमेश कुंतल मेघ, आधुनिकता-बोध और आधुनिकीकरण, पृ० २११
२. डॉ० कुमार विमल, आधुनिक हिन्दी साहित्य, पृ० २१२

नही कहा जा सकता। वास्तव में देश में घटित होने वाली बातों को निष्पक्ष दृष्टि से स्पष्टता के साथ कह देने की प्रवृत्ति उन्हें आधुनिक बनाती है। क्रांतियां और उथल-पुथल, राजनैतिक दोगलापन, समाज के कर्णधारों की अयोग्यताए तथा भारतीय समाज के मोह-भंग आदि का चित्रण आधुनिक लेखन की शर्त है। मात्र समाज का चित्रण नही बल्कि उससे गहरी प्रतिबद्धता अधुनिकता-बोध के स्वरूप को पूरा करती है। भगवती बाबू में यह प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है। जब भगवती बाबू की पीढी के लेखक आदर्शवादी खोल पहनकर बैठ गए[1] तब भगवती बाबू ने आज की परिस्थितियों का बेबाक चित्रण किया।

आधुनिकता के संदर्भ मे एक यह बात भी द्रष्टव्य है कि भारतीय आधुनिक चेतना पर पश्चिम का अनावश्यक प्रभाव है। डॉ० कुमार विमल के शब्दों में, "हमारी आधुनिकता पर पश्चिम का जो निबिड़ प्रभाव है, उसका विश्लेषण Intellectual metropolis की दृष्टि से भी किया जा सकता है, क्योंकि आधुनिकता की प्रवृति या विचारधारा को प्रवर्तित करने वाले सभी 'मैट्रोपोलीज़'— लंदन, पेरिस, मास्को और न्यूयार्क पश्चिम में ही हैं।"[2] हिन्दी के नवीनतम साहित्य पर यह प्रभाव और भी बढा हुआ दृष्टिगोचर होता हैं। यह प्रभाव आलोचना के क्षेत्र में भी स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। कई बार यह भी अनुभव होने लगता है कि कुछ विशिष्ट विचारधाराओं ने मुहावरों का रूप धारण कर लिया है। भगवती बाबू की विशेषता यह है कि पर्याप्त आधुनिकता का वहन करने के उपरांत भी उनकी विचारधारा पाश्चात्य प्रभाव से आक्रांत नही है। व्यक्तिवादी विचारधारा पश्चिम में जन्मी और विकसित हुई—किन्तु भगवती बाबू ने कहीं भी पश्चिमी विचारकों के प्रति वृथा मोह प्रदर्शित नही किया। इस आधार पर भगवती बाबू सही माने में व्यक्तिवादी सिद्ध होते हैं क्योंकि .उन्होंने अपने अनुभवों और अपनी विचारधारा पर किसीको हावी नही होने दिया है।

आधुनिकता और व्यक्ति की गरिमा

व्यक्ति की गरिमा का स्वीकार्य आधुनिकता का सबसे उज्ज्वल एवं सबल पक्ष है। विचारों की उदारता का मूल स्रोत भी यही स्वीकार्य है। धर्म, जाति और रंग की संकुचित सीमा से अलग हटकर व्यक्ति का केवल मनुष्य के रूप में मूल्यांकन करना विश्वव्यापी आधुनिकता है। किसी भी प्रकार की कट्टरता के कारण व्यक्ति की गरिमा पर प्रहार करना सिद्धांत रूप में आज हर सभ्य समाज

१. "वे राजनीतिक क्रांति और भूख मार्च और बेरोजगारी के दंड की चर्चा नही कर सकते, क्योकि तब उनकी सुरक्षा, पदवी और शक्ति को खतरा हो सकता है।"
आधुनिकता-बोध और आधुनिकीकरण, रमेश कुंतल मेघ, पृ० ३८८

२. डॉ० कुमार विमल, अत्याधुनिक हिन्दी साहित्य, पृष्ठ २१७

में अनुचित माना जाता है। रंग-भेद के आधार पर दमन की दक्षिण अमेरिकी प्रवृत्ति अथवा इयान स्मिथ की कट्टरता, धर्म के आधार पर होने वाले भारत-पाकिस्तान के पाशविक साम्प्रादायिक दगे, राजनीति के नाम पर रूस या स्पेन मे होने वाले दमन की निंदा विश्वव्यापी पर स्तर पर हुआ करती है। आज हर साम्प्रादाय और तंत्र, कम से कम ऊपरी तौर पर, मानवीय विचार-स्वातत्र्य और समानता का समर्थन करता है। पिछली शताब्दी से प्रजातंत्र के प्रति ससार के झुकाव का कारण यही विचारधारा है। साम्यवादी व्यवस्था व्यक्ति को स्वतत्रता नही देती किन्तु अंततोगत्वा वह भी मानव की गरिमा से प्रतिबद्ध है। वर्गभेद के आधार पर होने वाली क्रूरता को समाप्त करके औसत मनुष्य को जीवन की अधिकतम सुविधाएं समान तौर पर प्रदान करना ही उसका उद्देश्य है।

व्यक्ति की गरिमा आधुनिक युग का केन्द्रीय विचार है अतः व्यक्ति और समाज के संबंधों पर आज सबसे अधिक सोचा जाता है। "आधुनिक मनुष्य आज समाज पर आश्रित होने की नियति के प्रति सर्वाधिक जाग्रत् हो गया है। समाज की अधीनता इतिहास में एक वरदान थी किन्तु आधुनिक समाज में अभिशाप बन गई है क्योंकि उसके प्राकृतिक अधिकार तथा आर्थिक अस्तित्व ही खतरे मे पड गया है।"[१] भगवती बाबू ने इस समस्या की गहरी छान-बीन अपने उपन्यासों के माध्यम से की है। व्यक्ति की गरिमा को उन्होने अत्यंत ऊंचा स्थान दिया है। किसी भी वाद, सिद्धांत तथा मत के कारण मनुष्य का तिरस्कार वे अवांछित समझते है। बड़े-बड़े सिद्धांतों की आड़ मे होने वाले युद्धो का वे विरोध करते है:

"मनुष्य को मारने की क्या आवश्यकता। वह तो नश्वर है—वह खुद मर जाएगा। और सृष्टि की जीवन-अवधि के हिसाब से मनुष्य की आयु ही कितनी है? नहीं, मनुष्य को मारने से काम नहीं चलेगा। मनुष्य की परम्पराओं को नष्ट किया जाना चाहिए।"[२]

समाज की अधीनता वे नहीं चाहते किन्तु व्यक्ति और समाज के संबंधों मे खाई भी वे नहीं चाहते। व्यक्ति और समाज को एक बिंदु पर वे इस तरह लाते हैं—"वे जितनी सामाजिक मान्यताएं हैं, व्यक्तियों द्वारा ही तो प्रतिपादित होती हैं।"[३] उनके उपन्यासों में कहीं भी व्यक्ति समाज से इतना त्रस्त नहीं दिखलाई पड़ता कि वह समाज का विध्वंस करे।

जहां व्यक्ति की गरिमा के संबध में भगवती बाबू आधुनिक ढंग से सोचते हैं वहीं उनमें एक अजीब-सा विरोधाभास है। उनके आधुनिक विचार के समानांतर एक सामंतवादी विचार भी लगातार पनपता रहा है। वे मत्स्य-न्याय को शाश्वत

---

१. डॉ० रमेश कुतल मेघ, आधुनिकता-बोध और आधुनिकीकरण, पृ० २८३
२. सीधी-सच्ची बातें, पृष्ठ ३६३
३. वही, पृ० ३०२

मानते हैं। आधुनिक चितन व्यक्ति की गरिमा की सुरक्षा इस बात में देखता है कि निर्बल सबल का आहार न बने। राज्य जैसी सशक्त सस्था का निर्माण इसी उद्देश्य से हुआ। कितनी ही संस्थायें, नैतिक नियम, सरकारी कानून, न्याय-व्यवस्था इसी उद्देश्य से निर्मित है। यू० एन० ओ० जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का निर्माण इस आदर्श की स्वीकारोक्ति का प्रतिफल है कि जंगल का कानून सभ्यता की ओर बढते विश्व के लिए घातक है। भगवती बाबू एकबारगी इन नियम-कानूनों के उद्देश्यों को नकार कर उन्हें सबलों के स्वार्थ साधन का माध्यम मानते हुए दृष्टि-गोचर होते है। इसमें संदेह नही कि इतिहास मे ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहा सबल मनुष्यों ने कानून और व्यवस्था की व्याख्या को अपने पक्ष में ढाल लिया है किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि संसार हमेशा इसी लीक पर चलता रहेगा। भगवती बाबू मानते हैं कि सबल निर्बल पर शासन करता है यह आदिम नियम न केवल वर्तमान में चल रहा है बल्कि अनंत काल तक चलता रहेगा। इसमें परिवर्तन संभव नही है। आज जबकि संसार मत्स्य-न्याय के विकल्प की खोज में लगा है और इस दिशा मे काफी आगे भी बढ़ चुका है तब भगवती बाबू मानते है—"सबल अधिकारी है, यह नियम अनादिकाल से लागू रहा है, अनत काल तक लागू रहेगा।"[1]

भगवती बाबू किसी विकल्प की कल्पना तो करते ही नहीं, उसकी सभावना भी नहीं देखते। अपने हर उपन्यास में बिना किसी अपवाद के उन्होंने इस बात को दोहराया है। अपने इस विचार को ईश्वर का विधान कहकर वे उसे अत्यंत रूढ़िवादी जामा पहना देते है—"जो अयोग्य है, बुद्धिहीन है, असयंमी हैं उसे तो तबाह होना ही है। उसकी तबाही को भला कोई कैसे बचा सकता है। इस सब-की चिंता छोड़िए। भगवान का विधान एक अजीब ढग से चल रहा है और वह इसी तरह उस अजीब ढंग से चलेगा भी। इस दुनिया में जीवित वह रह सकता है, जो समर्थ है।"[2]

स्त्री-पुरुष-संबंध

स्त्री-पुरुष के संबंधों की विडंबना यह रही है कि यह सबसे गहरा संबंध हो-कर भी सबसे जटिल रहा है। यह संबंध एक साथ व्यक्तिगत तथा वर्गगत स्तर पर जीवित रहा है। समानता के सिद्धांत ने इस संबंध पर भी गहरा असर डाला है। न केवल भारत में बल्कि सम्पूर्ण विश्व में स्त्री सदियों तक पददलित वर्ग के रूप में रही। स्त्री-पुरुष की समानता आधुनिक विचार है। आधुनिक युग में स्त्री ने शिक्षा प्राप्त की और अपनी शक्ति को पहचाना। उसने राजनैतिक और सामा-

१. टेढे मेढ़े रास्ते, पृ० ३६६
२. भूले-बिसरे चित्र, पृष्ठ ५१

जिक अधिकार प्राप्त किए और हर क्षेत्र में अपने को पुरुष का सहकर्मी बनाया। आज जबकि इन्दिरा गाधी, गोल्डामायर, सिरीमाओ जैसी महिलाओ ने समाज के सर्वोच्च पद पर कुशलतापूर्वक कार्य करके नारी-शक्ति को प्रमाणित कर दिया है तब भी ऐसे व्यक्तियों की कमी नही है जो स्त्री को पुरुष के समान स्तर पर स्वीकार नही करते। स्त्री अभी भी पुरुष के मनोरंजन की वस्तु है—इस बात पर 'वूमैन लिबरेशन फ्रट' को आक्रोश है तथा यह सस्था स्त्री की सही मुक्ति का प्रयास कर रही है। अमेरिकी टेनिस खिलाडी, भूतपूर्व बिम्बलडन चैम्पियन बॉबी रिग्स और जीन किग के ऐतिहासिक टेनिस मैच मे जीन किंग की विजय स्त्री-शक्ति को नीचा समझने वालो को एक करारा उत्तर था। कहने का तात्पर्य यह है कि स्त्री की स्वतत्र सत्ता तथा शक्ति की स्वीकृति आधुनिकता-बोध का एक प्रमुख अग है।

स्त्री-पुरुष-संबध के विषय में भगवती बाबू के विचार आधुनिकता से मेल नहीं खाते। वे स्त्री को पुरुष से हीन मानते हैं। वास्तव में सबल को शासक मानने की उनकी प्रवृत्ति उन्हे स्त्री को पुरुष की बराबरी का स्थान देने को तैयार नहीं है। कभी-कभी उन्होंने अपने विचारधारा को जैविक आधार पर वैज्ञानिक तर्क के रूप मे प्रस्तुत करने का प्रयास किया है—"क्या करू, भगवान ने इस पुरुप को सशवत बनाया है, सबल बनाया है। हम स्त्रियों की अपेक्षा वह अधिक बुद्धिमान है, साहसी है।"[१] यह स्वीकारोक्ति भगवती बाबू के उपन्यास की नारी की है। आज जब स्त्री आर्थिक दृष्टि से भी स्वतंत्र है और अपनी शारीरिक कोमलता के उपरांत वह पुरुष की आश्रिता मात्र नही रह गई है, भगवती बाबू के उपन्यास के पुरुष पात्र उसे कोमल वस्तु ही मानते हैं। 'वह फिर नहीं आई' का नायक ज्ञान-चंद श्यामला के संबंध मे कहता है—"उसे एक सहारे की आवश्यकता थी, मुझसे उसे वह सहारा मिल गया। वह स्त्री थी, वह सौन्दर्य और कोमलता की प्रतीक थी। सौन्दर्य सहारा चाहता है। कोमलता का अस्तित्व तभी संभव है जब उसकी रक्षा की जाय।"[२] 'तीन वर्ष' उपन्यास में तो भगवती बाबू के नारी-संबंधी विचार मध्ययुगीन विचारों के करीब तक पहुच गये है।

नैतिकता का आधुनिक स्वरूप

आधुनिक युग में नैतिकता का स्वरूप भी बदल गया है। पहले नैतिकता का संबंध मात्र स्त्री-पुरुष के शारीरिक संबंधों से हुआ करता था। आधुनिक युग में शरीर संबंधों से जुड़ी हुई इस मान्यता में परिवर्तन हुआ। नैतिकता-संबधी परम्प-राओं का भंजन भगवती बाबू ने अपने उपन्यासों के माध्यम से किया है। उनके

१. रेखा, पृष्ठ ७७
२. वह फिर नहीं आई, पृष्ठ ३५

उपन्यासों में चित्रित नायक-नायिकाएं स्वतंत्रतापूर्वक, बिना किसी कुंठा के जीवन को भोगते है। 'चित्रलेखा' के बीजगुप्त और चित्रलेखा; 'भूले-बिसरे चित्र' के ज्वालाप्रसाद, जैदेई और गगाप्रसाद; 'रेखा' की रेखा, प्रभाशकर, सोमेश्वर, निरंजन; 'प्रश्न और मरीचिका' के उदयराज, केसरबाई, सोफी, बिदेसरी ऐसे ही चरित्र है। लेखक ने इनके शारीरिक संबधों को कही भी नैतिकता से नही जोड़ा है। चित्रलेखा और बीजगुप्त जीवन का सुख 'मस्ती' मे देखते है। चित्रलेखा बिना किसी कुंठा के स्वीकार करती है—"सुख तृप्ति का दूसरा नाम है। तृप्ति वहीं सभव है, जहां इच्छा होगी, वासना होगी।"[1]

'रेखा' उपन्यास की नायिका रेखा कभी-कभी पर-पुरुषों से अपने शारीरिक सबंधो के बारे में अपराध-बोध से पीडित दिखलाई पड़ती है पर भगवती बाबू ने उसे कभी भी अनैतिक की तरह चित्रित नही करते। 'भूले-बिसरे चित्र' में तो ज्वालाप्रसाद और जैदेई के सबधों को लेखक अत्यत स्वाभाविक और सहज मानता है। मरती हुई जैदेई यह स्वीकार करती है कि उसका और ज्वालाप्रसाद का संबध उसकी दृष्टि मे अपवित्र नहीं है—"भगवान की यही इच्छा थी देवरजी, जानती हूं, और उन्ही भगवान ने तुम्हारे रूप में एक देवता भेजकर मेरा थोड़ा-बहुत ताप हरा भी। देवरजी, उसी भगवान की साक्षी देकर मैं कहती हूं कि मैने कोई पाप नहीं किया।"[2]

नियतिवादी दर्शन और आधुनिकता का विरोधाभास

हम पहले अध्याय में इस बात का विश्लेषण कर चुके हैं कि नियतिवादी जीवन-दर्शन प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक मान्य रहा है। आधुनिक युग में इसे वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक आधार भी प्राप्त हुआ। इस आधार के प्राप्त होने के कारण इसे आधुनिकता का रंग प्राप्त हुआ। जहां नियतिवादी विचारधारा मनुष्य की शक्ति और स्वतंत्र इच्छा को अस्वीकार करती है वही वैज्ञानिक शक्ति पर विश्वास रखने वाले मानव की शक्ति को ही सर्वेसर्वा मानते है। आज विश्व में वैज्ञानिक शक्ति पर असीम विश्वास दिखलाई पडता है। मनुष्य के सामूहिक प्रयास पर आज किसी भी दैवी शक्ति से अधिक विश्वास किया जाता है। भगवती बाबू के उपन्यासों मे हर स्तर पर नियतिवाद को स्वीकार किया गया है। वे दैवी शक्ति की अजेयता पर विश्वास करते हैं और मानते है कि उसके सामने मनुष्य कुछ भी नहीं है। उनके परवर्ती उपन्यासों में ईश्वरीय शक्ति के सामने मानवीय शक्ति का बौना-पन अधिक उभरा है। उनके नियतिवादी जीवन दर्शन को यहा तक तो स्वीकार किया जा सकता है किन्तु जब वे चर्चिल की पराजय जैसी राजनैतिक घटना और

---

१. चित्रलेखा, पृ० ३१

२. भूले-बिसरे चित्र, पृष्ठ ३०६

बगाल के अकाल के पीछे भी मात्र ईश्वर की इच्छा देखते हैं तब उनसे सहमत होना आधुनिक विचारधारा के मनुष्य के लिए कठिन है। हिन्दू-मुस्लिम दंगो को भगवती बाबू ईश्वरीय विधान के रूप मे देखते है—"यह बंटवारा होना ही था, कोई नही रोक सकता था उसे। भला भगवान् के विधान को भी कोई रोक सका है।"[१]

ईश्वर पर आस्था का होना या न होना—आधुनिकता मे बाधक नही है किन्तु आज का चितन मानता है कि सामाजिक विषमताओं और विसगतियों का दायित्व ईश्वर पर डालकर मनुष्य उससे बरी नही हो सकता। ईश्वरीय सत्ता को आधुनिकतम चिंतन मे भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है किन्तु उस सत्ता के साथ जुड़े हुए दकिनानूसी विचारों को आज बिलकुल ही त्याग दिया गया है। मानव जाति पर मानव ने ही जो कहर ढाये है उसके लिए किसी अदृश्य को दोषी ठहराने के लिए कोई भी आधुनिक चेतना-सम्पन्न व्यक्ति अथवा समाज तैयार नही होगा। राजनैतिक दांव-पेच और साम्प्रदायिक दंगे जैसी घटनाओं को आधुनिक युग का बुद्धिजीवी मानव के कर्मो के रूप मे ही स्वीकार करेगा क्योंकि इनका सबंध मनुष्य की समझदारी और उसके द्वारा निर्मित योजनाओं से है— किसी दैवी शक्ति से नहीं।

नियतिवादी जीवन-दर्शन ने लेखक को उदार दृष्टिकोण और व्यापक सहानुभूति अवश्य दी है जो कि आधुनिकता का लक्षण है। वह किसी भी स्थिति में मनुष्य को उसके कर्मो के लिए दोषी नही मानता, यही कारण है कि पतित और गिरे हुए लोग भी उसकी सहानुभूति प्राप्त कर सके है।

आधुनिकता को नारे के रूप मे नही बल्कि एक प्रवृत्ति के रूप में स्वीकृत करने पर भगवती बाबू की आधुनिकता-बोध का एक मिश्रित स्वरूप सामने आता है। मानव के महत्त्व का स्वीकार्य, परम्परा-भजन तथा पतितों के प्रति व्यापक सहानुभूति उन्हें आधुनिक सिद्ध करने वाले विचार है किन्तु स्त्री को निर्बल समझने की प्रवृत्ति, सबल के शासन को शाश्वत समझने की प्रवृत्ति तथा नियतिवादी दर्शन को मानवीय सामाजिक कृत्यों से जोडने की उनकी प्रवृत्ति आधुनिकता-बोध में बाधक है। किन्तु यहां यह कहना भी आवश्यक है कि ये उनकी प्रवृत्तियां उनके परम्परा-प्रेम अथवा पूर्वाग्रह की द्योतक नहीं हैं। उनके ये विचार उनके निजी तर्क और अनुभव की देन है। परम्परा से हटकर व्यक्तिगत अनुभव पर विश्वास करना स्वयं में आधुनिकता है।

१. प्रश्न और मरीचिका, पृ० १६

अध्याय १०

हिन्दी में आवधिक उपन्यासों की परम्परा

समर्थ साहित्यकार अपनी कृतियों में अपने चिंतन के अतिरिक्त भरसक अपने देश और समाज का गहनता से अकन करता है। उपन्यास-साहित्य में यह अधिक आवश्यक है और इसके लिए उसमें अन्य विधाओं की अपेक्षा अधिक संभावनाएं भी विद्यमान हैं। भगवती बाबू के अब तक प्रकाशित तेरह उपन्यासों में उनके कुछ विशिष्ट उपन्यास इस संदर्भ में चर्चा के योग्य हैं। उनके चार बृहत उपन्यास 'टेढे-मेढ़े रास्ते,' 'भूले-बिसरे चित्र,' 'सीधी-सच्ची बातें,' 'प्रश्न और मरीचिका' आधुनिक भारतीय समाज की समस्त उथल-पुथल को दर्शाने में पूर्ण सक्षम हैं। ये चारों उपन्यास पैनोरमिक उपन्यासों के निकट बैठते है। दृष्टिगत दृश्य की व्यापकता जैसी विस्तृति वाले उपन्यासों को पैनोरेमिक उपन्यास कहा जाता है। ''समाज के विविध पहलुओं का विशद एव सर्वागीण चित्रण करते हुए अत्यंत विस्तृन पटभूमि पर लिखित कुछ उपन्यास उपलब्ध हैं, जो पात्रों की संख्या, वातावरण की विस्तृति, कथानक के गठन आदि बातों में किसी तरह की सीमा के अंदर नहीं समाते। इनको पैनोरमिक उपन्यास कहा जा सकता है।"[१]

पैनोरमिक उपन्यास के क्षेत्र में हिन्दी साहित्य, रूसी साहित्य की तरह समृद्ध है। गहन सामाजिक चेतना से युक्त विस्तृत काल-प्रवाह की लहरों को बांधने की क्षमता हिन्दी के कई लेखकों में रही है। प्रेमचंद के 'गोदान' से इसका प्रारम्भ माना जा सकता है। भगवती बाबू के 'टेढे-मेढे रास्ते', 'भूले-बिसरे चित्र,' 'सीधी-सच्ची बातें,' 'प्रश्न और मरीचिका,' यशपाल के 'झूठा सच,' 'मनुष्य के रूप,' रेणु के 'मैला आंचल,' 'परती: परिकथा,' अमृतलाल नागर के 'बूंद और समुद्र,' 'अमृत

१. डॉ० गणेशन : हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन, पृ० १४८

और विष,' नरेश मेहता का 'यह पथ बन्धु था', श्रीलाल शुक्ल का 'राग दरबारी' —इसी श्रेणी के उपन्यास है। ये सभी उपन्यास किसी कथामात्र को सामने रखने के लिए नही लिखे गए है। भारत का आधुनिक युग, पीढियो का अतर, सामाजिक चिंतन, मूल्यों का परिवर्तन इन उपन्यासों के माध्यम से चित्रित किया गया है। किन्तु भगवती बाबू के उपन्यास तथा अन्य उपन्यासों मे एक विशिष्ट अंतर है। यह अंतर स्पष्ट होता है जब उनके चारों बृहत् उपन्यासों को एक विशिष्ट क्रम से रखा जाए।

भगवती बाबू की लेखनी ब्रिटिश गुलामी से छटपटाते भारत से लेकर स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद अपनी ही कमजोरियों से टूटे हुए भारत को समग्रता से चित्रित करना चाहती है। हिन्दी के अन्य बृहत उपन्यासों में गहनता अधिक हो सकती है किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से उनमें पूर्णता नही है। भगवती बाबू ने अपने उपन्यासों के माध्यम से यह पूर्णता प्रदान करनी चाही है। 'भूले-बिसरे चित्र' सन् १८८५ से १९३० तक की अवधि को बांधता है। १९३० के आस-पास का समय भारत के विभिन्न राजनैतिक विचारधाराओ के उन्मेष का काल था। 'टेढे-मेढे रास्ते' इसी काल को समर्पित है। 'सीधी-सच्ची बाते' मे १९३८ से १९४८ तक का समय तथा 'प्रश्न और मरीचिका' मे १९४७ से लेकर १९६२ तक का समय चित्रित है। इस तरह ये चार उपन्यास आधुनिक भारत को पूरी तरह परखने का प्रयास है। ये चार उपन्यास अपने कथानक और पात्रों की विभिन्नता के कारण अपने-आपमें स्वतंत्र उपन्यास हैं किन्तु वस्तुतः भारतीय आधुनिक इतिहास पर भगवती बाबू की समग्र दृष्टि ही चार उपन्यासों में व्यक्त होती है।

भगवती बाबू के चार उपन्यासों की यह शृंखला सरितोपम उपन्यास की श्रेणी में इसलिए नहीं आ पाती क्योंकि यह एक व्यक्ति अथवा परिवार की कहानी नही है। "एक व्यक्ति के अथवा रक्त-संबंध से या विचार-सादृश्य से ऐक्य प्राप्त कुछ व्यक्तियों के जीवन को क्रम-बद्ध रूप में प्रकट करने वाली एक उपन्यास-परंपरा को फ्रेंच में रोमन फ्लो (Roman fleuve) या सरितोपम उपन्यास कहा जाता है।" रोमा रोलां के 'ज्यां क्रिस्ताफे' (चार भाग) अथवा शोलोखोव के 'धीरे बहो दोन' (चार भाग) की तरह भगवती बाबू के ये चार उपन्यास एक ही कहानी पर आधारित नही हैं। हा, इन्हें एक क्रम से रखने पर, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यह एक समाज के परिवर्तनों की क्रमानुगत कहानी अवश्य प्रस्तुत करता है। प्रत्येक उपन्यास एक विशिष्ट समय के इतिहास को सामने रखता है अतः इन चारों उपन्यासों को आवधिक उपन्यास की संज्ञा देना उचित है। ये चारों उपन्यास स्वतंत्र होकर भी एक-दूसरे की कड़ी है। वस्तुतः यह उपन्यास पैनोरमिक और सरितोपम दोनों की ही सीमाओं को छूते हैं।

आवधिक उपन्यास की सीमा

भगवती बाबू के आवधिक उपन्यासों पर चर्चा करते समय यह ध्यान रखने योग्य बात है कि ये उपन्यास ऐतिहासिक नही है। कथानक और पात्रों का सत्य होना ऐतिहासिक उपन्यास मे नितात आवश्यक है। आवधिक उपन्यास में सामाजिक परिवेश, परिस्थितियां आदि सत्य होती है किन्तु उनमें कथानक और पात्र का सत्य होना आवश्यक नहीं है। ऐतिहासिक परिवेश के चित्रण का उद्देश्य अपने-आपमें छिपाकर भी आवधिक उपन्यास ऐतिहासिक उपन्यास की सीमा का स्पर्शमात्र करता है। आधुनिक उपन्यास मे अवधि-विशेष के जन-जीवन का व्यापक चित्रण हुआ करता है। यदि कथानक ग्रामीण अंचल का है तो उसमें स्वाभाविक रूप से अचल-विशेष का जीवन गहराई से चित्रित होगा। इस स्थिति में वह आंचलिक उपन्यास की सीमा को भी छूता है। किन्तु आंचलिक उपन्यास का उद्देश्य अंचल-विशेष के जीवन के हर पक्ष को समग्रता से चित्रित करना होता है—अवधि-विशेष के परिवर्तनों का चित्रण करना नहीं। इस तरह पैनोरमिक, सरितोपम, ऐतिहासिक और आंचलिक उपन्यास की एकाधिक विशेषताओ को अपने मे समाहित करने के बाद भी आवधिक उपन्यास इनसे भिन्न होता है।

आवधिक उपन्यास का स्वरूप

आवधिक उपन्यास अपनी यथार्थवादी पृष्ठभूमि के कारण ऐतिहासिक उपन्यास के सर्वाधिक निकट बैठता है। किन्तु ऐतिहासिक उपन्यास की तरह आवधिक उपन्यास के कथानक एवं पात्रों में ऐतिहासिकता नहीं होती यह चर्चा हम कर चुके हैं। इसके अतिरिक्त एक अंतर यह भी है कि आवधिक उपन्यास एक विशिष्ट कालखण्ड तक ही सीमित रहता है। उस कालखण्ड के पहले और बाद के समय से उसका कोई भी संबंध नही होता। उस विशिष्ट कालखण्ड की गहन व्याख्या करके कथानक चुक जाता है। ऐतिहासिक उपन्यास का कथानक जिस विशिष्ट कालखण्ड को चित्रित करता है उसके पूर्व के वर्षो की स्थितियों पर भी काफी प्रकाश डालता है, इसके बिना उसके कथानक और पात्रों को पूर्णता प्राप्त नही होती।

एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो सकती है। वृन्दावनलाल वर्मा का "मृगनयनी' उपन्यास ऐतिहासिक उपन्यास है। इस उपन्यास में अपने मुख्य कथानक पर आने से पहले लेखक उस कथानक की पूर्व-भूमिका के रूप में पिछले इतिहास का भी चित्रण करता है। प्रत्येक ऐतिहासिक उपन्यास के साथ संभवतः यह आवश्यक है। उसके कथानक के किसी निश्चित दिन या तारीख से प्रारम्भ होने की संभावना कम होती है। यदि कथानक किसी विशिष्ट तिथि से प्रारम्भ

भी हो तो भी उल्लेख्य काल के पहले तक लेखक को जाना ही होगा क्योंकि इतिहास की प्रत्येक घटना काल-प्रवाह की एक कड़ी हुआ करती है। आवधिक उपन्यास विशिष्ट कालखण्ड पर आधारित होता है पर उसका कथानक अपने-आपमें पूर्ण होता है अतः उस विशिष्ट कालखण्ड के पीछे झाकने या आगे का पूर्व संकेत देने की लेखक को आवश्यकता नहीं होती। अपने उपन्यास 'टे॰-मेढ़े रास्ते' का प्रारम्भ भगवती बाबू इस तरह करते है :

"दिन और तारीख याद नही है, और उन्हें याद रखने की कोई आवश्यकता भी नहीं, बात सन् १९३० के मई के तीसरे सप्ताह की है।"[१]

'भूले-बिसरे चित्र' का प्रारम्भ १८८५ से होता है और समाप्ति १९३० पर होती है। 'सीधी-सच्ची बातें' और 'प्रश्न और मरीचिका' के कथानकों का प्रारम्भ और अंत भी उन्हें कुछ निश्चित वर्षों की सीमा में बाधते हैं। इस तरह किसी अवधि-विशेष के बीच होने वाली सामाजिक हलचलों और परिवर्तनो को किसी काल्पनिक कथानक से प्रस्तुत करने वाले उपन्यास को आवधिक उपन्यास की संज्ञा दी जा सकती है।

भारतीय स्वधीनता-आंदोलन और राजनैतिक परिवर्तनों की झलक यशपाल के उपन्यासों मे भी मिलती है। उनके 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही', 'पार्टी कामरेड' जैसे उपन्यास क्रांतिकारियों के व्यक्तित्व एवं जीवन से संबधित है किन्तु इन उपन्यासों में भारत के विशाल राष्ट्रीय आंदोलन का इतिहास नहीं ढूढा जा सकता। यशपाल अपनी विशिष्ट 'आइडियोलाजी' अपनी कृतियों के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं। परिवेश का चित्रण उनमें गौण है। उनका 'दिव्या' उपन्यास भी विशिष्ट जीवन-दर्शन को व्यक्त करता है—उसमें परिवेश केवल सहायक है। स्वयं भगवती बाबू के 'चित्रलेखा' उपन्यास मे भी यही बात है। उसमे ऐतिहासिक वातावरण को जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति के लिए सुन्दर, कोमल एवं भव्य पृष्ठभूमि के रूप मे प्रयुक्त किया गया है। उनके आवधिक उपन्यास मूलत. भारत के आधुनिक काल के राजनैतिक परिवर्तनों को चित्रित करने के लिए लिखे गए हैं। हां, उनका विशिष्ट जीवन-दर्शन भी साथ ही चलता है और इतिहास का मूल्यांकन-भर वे उसके अनुसार करते हैं। हिन्दी के अन्य चर्चित बृहत् सामाजिक उपन्यास, अपनी समस्त सामाजिक प्रतिबद्धता के उपरांत, इस आशय से नहीं लिखे गए हैं कि वे किसी विशिष्ट कालखण्ड को सामने रखेंगे जबकि भगवती बाबू के बृहत् उपन्यासों का उद्देश्य स्पष्टतः यही रहा है।

'बूंद और समुद्र' अथवा 'राग दरबारी' जैसे उपन्यास स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज पर रचे गए हैं। 'बूद और समुद्र' में एक समाज-संश्लिष्ट स्पष्ट कथानक

---

१. टेढ़े-मेढ़े रास्ते, पृष्ठ १

है जबकि 'राग दरबारी' में कथानक विशेष महत्त्व नही रखता बल्कि कथानक के समानांतर घटित होने वाली स्थितिया अधिक महत्त्वपूर्ण है। इन दोनो ही उपन्यासों में परिवेश महत्त्वपूर्ण है पर दोनों ही स्वातंत्र्योत्तर समाज के चरित्र-संकट को समग्रता से चित्रित करते है। यह चरित्र-संकट किसी निश्चित अवधि के बीच का नही है। भगवतीचरण वर्मा का 'प्रश्न और मरीचिका' भी स्वातत्र्योत्तर भारतीय समाज के चरित्र-संकट को सामने रखता है किन्तु भगवती बाबू एक निश्चित अवधि के बीच होते हुए मूल्य-विघटन को चित्रित करते है। १५ अगस्त, १६४७ से लेकर अक्टूबर, १६६२ तक के भारतीय समाज के सकट को वे चित्रित करते है। एक कल्पित कथानक को कल्पित पात्रों के साथ इतिहास की सच्ची घटनाओं मे वे गूंथ देते हैं। इस अवधि के बीच घटित होने वाली राजनैतिक घटनाओं, नेताओं के निर्णयों, भाषणों, समाचारों का प्रयोग वे उपन्यास में ठीक उसी तरह करते है जिस तरह बंगला लेखक विमल मित्र 'साहब, बीबी, गुलाम' और 'खरीदी कौड़ियों के मोल' उपन्यासों में करते है। मूल्यों के विघटन के संकट को भगवती बाबू अवधि-विशेष की सीमा में रखकर उसे इतिहास के साथ गहनता से जोड़ते है और उसके कारण ढूंढ़ने का प्रयास करते हैं।

शाश्वत मूल्यों का चित्रण

भगवती बाबू के आवधिक उपन्यासों में वातावरण की प्रमुखता है। उनमें पात्र या कहानी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अवयव नहीं है। विशेषकर 'सीधी-सच्ची बातें' और 'प्रश्न और मरीचिका' में सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियां ही प्रमुख है। इनमें नायक तक का विशेष महत्त्व नही है। किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि भगवती बाबू अवधि-विशेष की ऐतिहासिक घटनाओं में इतने खो गए हैं कि मानव के चिरंतन मूल्यों की ओर से उन्होंने आंखें मूंद ली हो। यदि ऐसा होता तो ये उपन्यास निर्जीव होते। जिस तरह काल के परिवर्तनों को ही विस्तार देने के उपरांत टालस्टाय के 'युद्ध और शांति' मे नताशा और सोफिया की, शोलोखोव के 'धीरे बहो दोन' में नवाल्या, अक्सीनिया की, बंगला लेखक शंकर के 'चौरंगी' में कनी की और सदरलैंड की कहानियां मानव के शाश्वत मूल्यों को चित्रित करते हुए इन कृतियों को अतीव कोमलता और गहन अर्थ प्रदान करती हैं उसी तरह भगवती बाबू के 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' मे झगडू मिश्र और मनमोहन की, 'भूले-बिसरे चित्र' मे जैदेई और नवल की, 'प्रश्न और मरीचिका' में मुहम्मद शफी की कथाएं इन उपन्यासों को गहरा अर्थ देती हैं।

अध्याय ११

भाषा-शैली

किसी भी साहित्यिक कृति की सफलता में कृति की भाषा-शैली का भी हाथ होता है। कथ्य और शिल्प का मिलकर एक हो जाना कृतिकार के लिए उपलब्धि होती है। कार्लाईल ने एक स्थान पर कहा है कि शैली लेखक का कोट नही बल्कि त्वचा है। तात्पर्य यह कि भाषा-शैली ओढी हुई नही लगनी चाहिए—वह कृति का ही अंग बन जाए यह उनकी सफलता है। "उपन्यास में शैली बाहर का जामा न बनकर स्वस्थ शरीर की ऊपरी सतह के समान होती है जिसमें सब अग अपने सुडौलपन के साथ प्रकट होते है।"[१] किसी भी लेखक का इस ओर असावधान होना उतना ही खतरनाक है जितना कि इस ओर अत्यधिक सजग होना। भाषा-शैली की शिथिलता कृतिकार के कथ्य के अर्थ तक को बिगाड़ सकती है—इसमे संदेह नहीं है।[२]

भगवतीचरण वर्मा के उपन्यासों की भाषा-शैली पर विचार करते समय भगवती बाबू के निम्नलिखित कथन को दृष्टि में रखना आवश्यक है, "···फिर भी शब्द को भावना के वहन करने का माध्यम मानने में मुझे सकोच होता है। मेरा ऐसा अनुभव है कि शब्द केवल भावना को स्पष्ट कर सकता है, वहन नही करता। मेरे हर्ष-विषाद को शब्द दूसरों को भासित भले ही कर दें, पर मेरे हर्ष अथवा विषाद को दूसरों में पहुंचाकर उनमें दूसरों को तन्मय कर दें, यह सामर्थ्य मैं शब्द में नही देख पाता हूं। और इसीलिए मैं शब्द को भावना को वहन करने

---

१. श्री नारायण अग्निहोत्री, उपन्यास-तत्त्व एव रूप-विधान, पृ० १९४

2. The language should be so pellucid that the meaning should be rendered but the very sense; no more and no less which the writer has intended to put in to his words.

Novelists on the Novel, Allott Miriam, P. 315

वाला माध्यम नहीं मान पाता।"[1] भगवती बाबू के इस कथन से सहमत या असहमत हुआ जा सकता है पर ध्यान देने योग्य बात यही है कि भगवती बाबू भापा के प्रति बहुत अधिक सजग नही है। क्योंकि वे शब्द को भावनाओ को प्रतिबिंबित करने मे पूर्ण सक्षम नहीं मानते अतः भाषा की अत्यधिक सजावट पर वे ध्यान नही देते। उनकी यह प्रवृत्ति कही-कही उनकी विशेषता और शक्ति बनकर आती है और कही-कहीं कमजोरी बनकर।

सजगता

'कान्शस आर्टिस्ट' की तरह भाषा शैली को संवारने की प्रवृत्ति उन्होंने केवल 'चित्रलेखा' उपन्यास में दिखलाई है। शेष सभी उपन्यास उन्होंने बोल-चाल की भाषा में ही लिखे है। 'चित्रलेखा' उपन्यास का सृजन जब हुआ तब उनका कवि उनसे अलग नही हुआ था। 'चित्रलेखा' की भाषा स्वयं में कोमल कविता है। उसके इतने अधिक प्रसिद्ध होने का एक बडा भारी कारण उसकी कवित्वपूर्ण शैली है। "वस्तुतः संवादों और भाषा-शैली में नाटककार और कवि भगवतीचरण वर्मा ने मिलकर उपन्यासकार की सफल सहायता की है। 'चित्रलेखा' की रंजकता का श्रेय वर्माजी की भाषा-शैली को भी है।"[2] यह रंजकता भाषा की कोमलता और नाटकीयता के कारण उत्पन्न हुई है। यहां दो अश उद्धृत है:

"दिन के बाद रात, और रात के बाद दिन।
सुख के बाद दुख, और दुख के बाद सुख।"

एवं

"बात बनी और बिगड़ गई, मृत्युंजय ने इसका अनुभव किया।
बात बिगड़ी और बन गई, बीजगुप्त ने इसका अनुभव किया।"

इन अंशों में भाषा को तराशने और शब्दों के अर्थ का पूर्ण दोहन कर लेने की प्रवृत्ति झलकती है। इसमें लेखक सफल भी हुआ है। ऐश्वर्यशाली पृष्ठभूमि की कथा को जिस कोमल भाषा की आवश्यकता है वह भगवती बाबू ने उसे प्रदान की है।

सहजता

'चित्रलेखा' की भाषा में जैसी सजगता दृष्टिगोचर होती है वैसी उनके अन्य उपन्यासों में नहीं है। यहां यह बतलाना आवश्यक है कि सजगता के उपरान्त भी 'चित्रलेखा' की भाषा में प्रवाह है और सहजता भी है। उनके शेष उपन्यास

---

१. भगवतीचरण वर्मा, साहित्य की मान्यताएं, पृष्ठ १३
२. डॉ० सत्यपाल चुघ, प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों की शिल्पविधि, पृष्ठ ४३२

व्यावहारिक चलतू भाषा मे है। भगवती बाबू की विशिष्टता यह है कि साधारण भाषा मे भी जीवन और जगत् के चित्र खीचने की उनमे अद्‌भुत क्षमता है। उत्तर प्रदेश के कचहरी के मुंशियों, पडितों, ताल्लुकेदारो और राजाओ के स्वभाव को वे अपनी सशक्त भाषा से साकार कर देते है। 'भूले-बिसरे चित्र' का यह अश इसका प्रमाण है :

"मुशी शिवलाल ने दोहरा खाया और उसके बाद मुवक्किल रूपी शिकार की तलाश मे टहलने लगे। इसी समय कलक्टर का चपरासी चदन सिह दौड़ता हुआ आया और उसने मुशी शिवलाल से कहा, 'मुशी जी, हम तुम्हें न जाने कब से ढूढ रह हन। साहेब तुम्हे अबही याद कीन्हिस हैं।'

"साहेब का नाम सुनते ही मुंशी शिवलाल का चेहरा पीला पड गया। ठाकुर भूप सिह के इस्तगासे में मुशी शिवलाल ने जो करामात दिखलाई थी, साहेब कही उससे नाराज तो नही हो गए। चंदन सिह ने मुशी शिवलाल की घबराहट ताड ली, उसने मुशी शिवलाल को धीरज बंधाते हुए कहा, 'डरै की कोनो बात नाही है मुंशीजी; साहेब पेशकार साहेब से हंस-हंसके बतियाय रहे है, तुमपर नाराज नाही है।'

"मुशी शिवलाल ने ऐंठकर कहा, 'और अगर नाराज हुई जाय तो हमार का बिगाड़ सकत है। ईमानदारी के साथ रोटी खाते हैं और राम नाम का भजन करते हैं।'

"कलक्टर अपने चैम्बर मे बैठा हुआ पेशकार से उस दिन के अर्जी-दावों को सुन रहा था और उनपर अपना हुक्म लिखाता जाता था। उसने मुंशी शिवलाल को देखते ही कहा, 'वेल मुंशी, तुम बड़ा चलता-पुरजा आदमी है।'

"'हुजूर का इकबाल है। कौन-सी खता हो गई इस नाचीज से?' मुंशी शिवलाल बोले।"[१]

यह अंश समय, स्थल और पात्र के स्वभाव को सहजता से प्रस्तुत करता है और प्रेमचद की क्षमता और शक्ति की याद दिलाता है। भाषा की सादगी और स्वाभाविक स्वरूप को ही उसकी शक्ति बना देने की कला में भगवती बाबू प्रवीण हैं। 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते,' 'भूले-बिसरे चित्र,' 'आखिरी दाव,' 'अपने खिलौने,' 'सबहिं नचावत राम गुसाईं'—उपन्यास इसके प्रमाण हैं। टेढ़े-मेढ़े रास्ते' का यह चित्र अपने-आपमें पूर्ण है और किसी सजावट की अपेक्षा नही रखता :

"तमाखू फांकते हुए पंडित परमानंद सुकुल ने आवाज लगाई, 'का हो बाज-पेयी जी, कितना विलम्ब है?'

"पंडित बैजनाथ बाजपेयी ने अपना हाथ रोका। सामने सिल पर भांग के

१. भूले-बिसरे चित्र, पृष्ठ १२-१३

गोले को, जिसे वे एक घंटे से पीस रहे थे, देखकर उनके मुख पर संतोष की मुसकुराहट आई। उन्होंने उत्तर दिया, 'बस सुकुल जी, तैयार है।'

"परमानंद सुकुल ने अपने सामने बैठे हुए नीलकंठ अवस्थी से कहा, 'सो महराज, कबौ बिलीहितियनों का प्रायश्चित भा है कि आजे होई ?'

"बात यद्यपि नीलकंठ अवस्थी से कही गई थी पर उत्तर मन्नू दूबे ने दिया, 'न कबौ भा है और न आज होई। हम लोगान कनौजिया और ऊभा खटकुल। ई भ्रष्टाचार हमरी यहां नाहीं चल सकत है, यू विश्वास राखो।"[1]

हास्य-व्यंग्य

साहित्य को स्वस्थ्य मनोरंजन का साधन मानने के कारण भगवती बाबू हास्य और व्यंग्य को अपनी कृतियों में स्थान देते रहे हैं। सामाजिक तथा मानवीय-चरित्र की विसंगतियां उन्हें जहां भी दिखलाई दी हैं वहां उनका हास्य-व्यंग्यकार मुखर हो उठा है। "वर्माजी तीव्र व्यंग्यकार हैं, उनके उपन्यासों में समाज और राष्ट्र की चलती हुई समस्याओं का सुन्दर प्रस्तुतीकरण है और उसमें जहां कहीं खामी है उसपर करारी चोट भी है।"[2] उनके उपन्यासों में गंभीर से गंभीर स्थलों पर व्यंग्य का पैनापन झलक जाता है। कथानक के गंभीर प्रकरण को स्वयं भी गंभीरतापूर्वक चित्रित करते हुए 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में अकस्मात् उभर आने वाले व्यंग्य को देखते ही बनता है। जिन रामनाथ तिवारी को उनकी सहानुभूति प्राप्त हुई है उनके उन्नाव में रहने के कारणों पर प्रकाश डालते हुए भगवती बाबू लिखते हैं :

"दूसरा कारण था तिवारी जी का दयालु होना। किसानों की हालत वैसे कहीं भी अच्छी नहीं है, पर अवध के किसानों की हालत तो बहुत अधिक करुणाजनक है। ये किसान अपनी फरियादें लेकर राजा साहेब, अर्थात् तिवारीजी के पास आते थे, और उनकी शिकायतों को दूर करना तिवारीजी अपना कर्त्तव्य समझते थे। पर शिकायतों को दूर करने का अर्थ प्रायः हुआ करते थे राज्य को, अर्थात् तिवारीजी को आर्थिक हानि। इस आर्थिक हानि से बचने के लिए किसानों को जिलेदार, सर्वाकार और मैनेजर से निपटने के लिए उनके भाग्य पर छोड़कर तिवारीजी उन्नाव में आ बसे।"[3]

भगवती बाबू ही प्रेमचंद युग के एकमात्र हास्य-व्यंग्यकार के रूप में दिखलाई पड़ते हैं। इस संदर्भ में डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का विश्लेषण अत्यंत सही है, "प्रेमचन्द तो अपने व्यक्तिगत जीवन की कटुता को अपने समाज-दर्शन से पृथक्

---

१. टेढ़े-मेढ़े रास्ते, पृ० १३०

२. डॉ० मक्खनलाल शर्मा, हिन्दी उपन्यास : सिद्धात और समीक्षा, पृ० ३१२

३. टेढ़े-मेढ़ रास्ते, पृ० ४

रखने में समर्थ हो सके थे। भगवती बाबू ऐसा नही कर सके। उन्होने अपने सपने मिटाए, अपनी आंखो से मस्ती का पागलपन मिटाया और अनास्था से भरा व्यग्य उनकी आखो मे झलकने लगा। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि उनकी दृष्टि में व्यग्य ही जीवन का एकमात्र सत्य है।"[1]

'अपने खिलौने' उपन्यास मे भगवती बाबू ने अपने हास्य-व्यग्यकार स्वरूप को पूर्ण तृप्ति प्रदान की है। यह पूरा उपन्यास ही हास्य-व्यंग्य से भरा हुआ है। इसके कथानक, परिस्थिति, पात्र, भाषा सभी हास्य-व्यंग्य से ओतप्रोत है। 'सबहिं नचावत राम गुसाईं' मे भी भगवती बाबू इसी रूप मे उभरे है। व्यंग्य लेखन मे उन्होंने शब्दनिष्ठ और प्रसंगनिष्ठ दोनो ही प्रकार की शैलियो को अपनाया है। शब्दनिष्ठ व्यंग्य का एक उदाहरण पठनीय है :

"उस दिन मेवालाल को स्वय कचहरी जाना पड़ा। जाली दस्तावेज बनाने में मुनीमजी से गड़बड़ी हो गई थी और मेवालाल पर जालसाजी का मुकद्दमा चला दिया था पुलिस ने, क्योंकि कोतवाल साहब शहर मे नये-नये आए थे। मेवालाल को उनकी सेवा करने का अवसर नहीं मिला था। भगवान की कृपा से एक हजार की रिश्वत देने से मेवालाल बरी हो गए, लेकिन उनके मुनीम को तीन साल की सजा हो गई। दोपहर को दो बजे मुकद्दमे से बरी होकर मेवालाल जब कचहरी से लौट रहे थे, तो उनके मन मे ख्याल आया कि इधर दो-तीन महीनों से अपने पिता को ठाकुरद्वारे में बैठाकर खुद सुबह-शाम आरती करना छोड़ दिया था। उसीके कारण यह विपत्ति उनपर आई और नतीजा यह हुआ कि घर मे प्रवेश करने के पहले उन्होने ठाकुरद्वारा में प्रवेश किया, भगवान से क्षमा मांगने के लिए।"[2]

'अपने खिलौने' और 'सबहि नचावत राम गुसाईं' में प्रसंगनिष्ठ हास्य-व्यंग्य की भरमार है। मीना पार्टी में अपने सौंदर्य का जादू चलाने जाती है और अशोक ईर्ष्यावश उसके सेंट में कॉडलीवर आयल डाल देता है। इस प्रसंग के भीतर छुपे हास्य को लेखक इस तरह उभारता है।

'जखमी ने मीना के पास जाकर सलाम किया और फिर बड़े भोलेपन से मुस्कुराया, हुजूर अर्ज किया है—

दुनिया में जो जन्नत से एक हूर उतर आई
नादान परिंदों को वह देख के घबराई।

"मीना की आंखें युवराज वीरेश्वर प्रताप को ढूढ़ रही थीं और मीना ने देखा कि वह कैरा कोमल के साथ नाच रहा है। मीना की भौहों में बल पड़ गए यह

---

१. डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, हिन्दी उपलब्धियां, पृ० ६६
२. सबहिं नचावत राम गुसाईं, पृ० २४

देखकर जख्मी ने फिर कहा, 'अहाहा। क्या तेवर, क्या अदा, क्या हुस्न और क्या मस्ती।'

"अशोक ने जख्मी की बात काटते हुए कहा—'जरा तमीज से बात करो, हैसियत से रहना सीखो।' "

"और जख्मी ने अपनी बात पूरी की—'और वल्लाह। क्या सड़न, क्या बदबू।' "

भगवती बाबू का हास्य-व्यंग्य तब तक प्रभावशाली रहता है जब तक वे अपनी रौ में स्वय नहीं बहते। जब वे कथानक को छोड़कर हास्य-व्यंग्य के प्रवाह में अपने को छोड़ देते हैं तब अगंभीर प्रकरणों में उलझकर लतीफेबाजी करते हैं। ऐसे समय हास्य-व्यंग्य के मूड में वे अन्य बातें भूल जाते हैं। हास्य वे तब भी उत्पन्न करते है पर वह उपन्यास के सदर्भ में सार्थक नहीं हो पाता। 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में ब्रह्मदत्त की बीमारी के बहाने वाले प्रकरण मे अथवा 'सबहि नचावत राम गुसाई' मे झंझावात के प्रकरण में वे कथा के प्रवाह को भूल जाते हैं।

संवाद-योजना

भगवती बाबू के उपन्यासों में उनके संवादों का विशेष महत्त्व है। विशेष महत्त्व इसलिए क्योंकि उनके उपन्यासों में प्रस्तुत विचार अधिकतर संवादों के माध्यम से ही सामने आए है। आम तौर पर पात्रों की व्यक्तिगत विशेषताओं का परिचय लेखक स्वयं देता है और पात्रो की विचारधारा और उनके माध्यम से अपनी विचारधारा को लेखक संवादों के माध्यम से प्रस्तुत करता है। वास्तव में सफल उपन्यासकार, जिसमें पकड़ है, कथोपकथन के माध्यम से अधिकांश विवरण देता है। भगवती बाबू के 'चित्रलेखा' उपन्यास के संवादों के विषय में डॉ० सत्य-पाल लिखते हैं, "चित्रलेखा में सर्वाधिक विचार-राशि संवादों के रूप में आई है, अतएव ये अनेक स्थलों पर लम्बे हो गए हैं। फिर भी अपनी उपयोगिता के कारण ये अत्यल्प खटकते हैं। ये रस्मी नहीं, पात्रों के स्वभाव से बंधे हैं।" पात्रों के स्वभाव से संवादों का बंधा होना अत्यंत आवश्यक है। इसमें सदेह नहीं कि 'चित्र-लेखा' में इस बात को भगवती बाबू ने अच्छी तरह निभाया है।

छोटे और नाटकीयता से भरे संवाद लिखने में भगवती बाबू कुशल हैं। 'सबहि नचावत राम गुसाई' में सिल्वेनिया के राजा पृथ्वीपाल सिंह का गर्भ रह जाने पर, राजा और पुरोहित के संवाद लेखकीय मंतव्य को अत्यंत तीव्रता से व्यक्त करते हैं। स्थिति के अंदर छिपे हुए व्यंग्य को बड़ी खूबी से भगवती बाबू ने व्यक्त किया है—

"पडित कमलनयन त्रिपाठी धर्मनिष्ठ, कर्मकांडी ब्राह्मण थे। उन्होंने कहा, 'महाराज! दुई-चार हजार रुपया दे के उहिका विदा कर दीन जाय। मगर

सरकार का हुकुम होय तो अईका फैजाबाद या लखनऊ के कोनो कोठा मा बैठाइन का इन्तजाम कराय देई।'

"पृथ्वीपालसिंह की भौहें एकाएक तन गई, 'सुनो तिरपाठी—तुम हावो हमार पुरोहित। और कोई ससुरा कहिस होई ई तरा की बात हमसे तो हम अकर मूड़ काट लेईत। हमें सिलवनिया से मुहब्बत हुई गई है।'

"कमलनयन बोले, 'सो बुरा भा सरकार। भला ई किरिस्तानी से प्यार मुहब्बत करे की कौन आवस्यकता रहे ?'

"राजा पृथ्वीपाल सिह ने तड़ाक से एक मिसरा पढा, 'नींद न देखे टूटी खाट इश्क न देखे जात-कुजात।'

"कमलनयन ने टीप लगाई, 'का कह्यो महराज, धन्य हो ! मुला समस्या तो उत्पन्न हुई गई है कि का कीन जाय। तौन महाराजौ कुछ सोचिन होई।' "[1]

भगवती बाबू के उपन्यासों में लम्बे-लम्बे संवाद भी है। जब वे सवाद लेखकीय विचारधारा की उद्घोषणा-मात्र का कार्य करते हैं तो बहुधा अरोचक और व्यर्थ मालूम पडते है। लम्बे सवाद 'टेढे-मेढ़े रास्ते,' 'सामर्थ्य और सीमा,' 'सीधी-सच्ची बातें' में है। 'सामर्थ्य और सीमा' के संवाद दार्शनिकता का वहन करने के साथ-साथ अपने पात्रों के स्वभाव के इतने अनुकूल हैं कि अरोचक होने से बच गए है। किन्तु यह बचना 'नैरो स्केप' के रूप में ही हुआ है। 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' मे कितने ही स्थलों पर संवाद अस्वाभाविक हो गए हैं और सवाद न रहकर भाषण बन गये है। रामनाथ तिवारी तो कितनी ही बार बोलना प्रारम्भ करते हैं तो उनमें लेखक स्पष्टतः अवतरित हो जाता है। परिणाम होता है रामनाथ तिवारी का बोलना और अन्यों का सुनना। केवल रामनाथ तिवारी ही नहीं बल्कि उमानाथ, मार्कण्डेय, दयानाथ, ब्रह्मदत्त भी अक्सर आधे-आधे पृष्ठ तक के संवाद बोलकर सांस लेते हैं। 'सीधी-सच्ची बातें' के संवाद तो इस हद तक उबाऊ हैं कि वे अखबार की कटिंग मालूम पड़ते हैं। ये संवाद न कथा को आगे बढाते है और न पात्रों के चरित्र को उभारते हैं, वे केवल सूचनाएं देते हैं या विचारों का विश्लेषण करते हैं।

प्रश्नोत्तर पर शैली का मोह

शैलीगत दोष

वर्माजी ने अपने उपन्यासों में अधिकतर वर्णनात्मक तथा विश्लेषणात्मक शैली का प्रयोग किया है। कभी-कभी उनकी विषय-विश्लेषण की प्रवृत्ति उनके

१. सबहिं नचावत रामगुसाईं', पृष्ठ १०२

प्रवाह में बाधक सिद्ध होती है। कभी-कभी वे व्यर्थ दार्शनिक विचारों की ऊहापोह उत्पन्न करने की कोशिश करते हैं। उन्हें एक विशेष शैली से प्रेम है—किसी विषय पर प्रश्न उठाना और फिर उत्तर देना। 'पतन' से लेकर 'प्रश्न और मरीचिका' तक इस शैली का उन्होंने धड़ल्ले से प्रयोग किया है। 'पतन' उपन्यास में तो उनकी यह प्रवृत्ति चरम सीमा पर है। कुछ उदाहरण रोचक भी है :

"जानते हो प्रेम क्या है ? प्रेम अमृत है, प्रेम सांसारिक नहीं है। यह दैवी होता है। क्यों ? तुम यह प्रश्न करोगे। इसके कारण है। जानते हो. ससार क्या है ? संसार मद है, नशा है। ससार, यह मानना पड़ेगा, वास्तविकता से परे है। लोग कहते है, और बड़े-बड़े ऋषियों का मत है कि संसार असार है। फिर संसार क्या है ?"[१]

अपनी इस प्रिय शैली के लिए ही वे बहुधा वाक्य तोड़ देते हैं। रणवीर सुभद्रा से प्रेम करता है—यह कहने के लिए वे लिखेंगे :

"रणवीर प्रेम करता था—किससे ? सुभद्रा से।"[२]

और भी—"हां, रणवीर प्रेम करता था, पर वह घृणा भी करता था। किससे ? प्रताप सिंह से।"[३]

'पतन' उपन्यास में पृष्ठ ५५, ५६, ६५, ११२, १२१, १३२, २३६—आदि कितने ही पृष्ठ पर ऐसे उदाहरण मिल सकते है। 'पतन' उनका प्रारम्भिक उपन्यास था पर 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' जैसे प्रौढ़ उपन्यास में तथा 'सीधी-सच्ची बातें' जैसे परवर्ती उपन्यास में भी इस भ्रष्ट शैली के दर्शन होते है। दोनों के एक-एक उदाहरण यहां दिए जा रहे हैं—'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' का एक अश—"आखिर ये सबके सब चाहते क्या हैं ! स्वराज्य ? यह स्वराज्य है क्या चीज ? जनता के प्रतिनिधियों के द्वारा शासन। और जनता ? यह अपढ, मूर्ख और कंगाल जनता ? किसीके भी बरगलाने में यह जनता आ सकती है।"[४]

सीधी-सच्ची बातें' का अंश—"मनुष्य को मारने की क्या आवश्यकता ? वह तो नश्वर है, वह खुद मर जाएगा। और सृष्टि की जीवन-अवधि के हिसाब से मनुष्य की आयु ही कितनी है ? नहीं, मनुस्य को मारने से काम नही चलेगा, मनुष्य परम्पराओं को लेकर जन्म लेता है, परम्पराएं छोड़कर मरता है।"[५]

१. पतन, पृष्ठ १४
२. वही, पृष्ठ ५५
३. वही पष्ठ ५६
४. टेढे-मेढ़े गस्ते, पृष्ठ ५२
५. सीधी-सच्ची बातें, पृष्ठ ३६३

चित्रण में पुनरुक्ति

भगवती बाबू को अपने पात्रों का विस्तृत परिचय देने की आदत है। कितने ही महत्त्वहीन पात्रों का, जिनपर अन्य उपन्यासकार सभवतः ध्यान नही देते—और न ही ध्यान देने की आवश्यकता है, भगवती बाबू न केवल परिचय देते हैं बल्कि उनका वर्णन भी करते हैं। यह कार्य न तो आवश्यक है और न ही आसान। लेखक आखिर कितने चेहरो को याद रख सकता है? पात्रों के परिचय को विस्तार देने की प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ है कि भगवती बाबू बार-बार पात्रो के बारे में एक ही जैसे वाक्य लिखने को बाध्य हुए हैं। घिसे हुए रिकार्ड की तरह वह वाक्य, शब्दो के हेर-फेर के साथ, 'पतन' से 'प्रश्न और मरीचिका' तक प्राप्त होता है। भगवती बाबू जैसे समर्थ लेखक का यह शब्द-कार्पण्य कोई भी पाठक पकड सकता है। 'पतन' मे प्रकाशचंद्र के लिए वे लिखते है—"प्रकाशचद्र यदि बदसूरत न था तो खूबसूरत भी न था।"[1]

'टेढ़े-मेढे रास्ते' में वीणा का वर्णन इस तरह है—"वह युवती सुन्दरी न थी, प्रभानाथ ने इस विषय मे अपना निर्णय मन ही मन दे दिया था, पर वह कुरूप है—यह वह किसी हालत मे स्वीकार न कर सकता था।"[2] शब्दों के थोड़े-से अंतर के साथ यही वाक्य 'रेखा' के तीन पात्रों के लिए प्रयुक्त किया गया है।

ज्ञानवती के लिए—उसके सामने जो स्त्री बैठी थी वह सुन्दर नही थी, लेकिन असुन्दर भी नही कही जा सकती थी।[3]

शशिकान्त के लिये :—देखने में वह अगर सुन्दर नहीं कहा जा सकता था तो असुन्दर भी नही कहा जा सकता था।[4]

योगेन्द्रनाथ के लिए—लम्बा चेहरा, जो कुरूप नही कहा जा सकता था, लेकिन सुन्दर भी नही कहा जा सकता था।[5]

भगवती बाबू के उपन्यासों में न जाने कितने मुख्य और गौण पात्र आए हैं और उन्होंने मुक्त भाव से यह वाक्य पचास प्रतिशत से कहीं अधिक पात्रों के लिए प्रयुक्त किया है। इसमें संदेह नहीं कि जीवन में मिलने वाले अधिकांश व्यक्ति सामान्य नाक-नक्शे के होते हैं किन्तु समर्थ लेखक उनका वर्णन एक ही सांचे में करे—यह आवश्यक नही है।

---

१. पतन, पृ० ७२
२. टेढ़े-मेढ़े रास्ते, पृष्ठ ६८
३. रेखा, पृष्ठ १३६
४. वही, पृष्ठ १८८
५. वही, पृष्ठ २६४

स्थूलता

भगवती बाबू की शैली में कई स्थलो पर स्थूलता आ गई है। उसका एक स्वरूप यह है कि पात्रों के गुणों के विषय मे वे बार-बार पाठक को आश्वस्त करते रहते है। उन्हें जैसे विश्वास नही हो पाता कि उनके पात्रों के विषय में पाठक सही राय बना पाएगा। 'सीधी-सच्ची बाते' मे यह दोष अधिक है। जसवंत जगत प्रकाश से कुलसुम के विषय में कहता है—"यह कुलसुम बड़ी भली लड़की है, बड़ी शरीफ, बड़ी उदार। मैं जानता हूं तुम इन पत्रो को पढोगे नही, और अगर पढ़ भी लो तो कोई हर्ज नही।"[१]—थोड़ा रुककर वह फिर कहता है, "जगत प्रकाश, यह कुलसुम बड़ी भली लड़की है। शरीफ, उदार और समझदार। तुम शायद उससे प्रेम करने लगो।"[२]

सैलाब के विषय में कुलसुम कहती है, "बड़ा प्यारा आदमी है वह सैलाव, किस कदर भोला और मासूम। लेकिन अपनी धुन का पक्का।"[३] 'वह फिर नहीं आई' में ज्ञानचंद से जीवनराम के विषय में श्यामला कहती है, "देखा आपने इस जीवनराम को। कितना भोला है यह, और साथ ही बडा भला आदमी है।"[४]

कही-कहीं भगवती बाबू पात्रों से संवाद कहलाकर उसका विश्लेषण करना शुरू कर देते हैं—"बड़ा कुरूप सत्य कह डाला था उसने।"—या इसी तरह कुछ और। जैसे उन्हें यह विश्वास न हो कि संवाद की तीक्ष्णता का असर पाठक पर पड़ेगा।

भाषा-शैली की स्थूलता इस रूप में भी सामने आती है कि कई स्थानों पर पात्रों के सुख-दुख, प्रसन्नता-वेदना का चित्रण करने के बदले वे स्वयं उसकी सूचना देते हैं। पात्र की दयनीयता का अनुभव कराने के बदले वे केवल उसका सतही चित्रण कर देते हैं—"अब रेखा को अनुभव हुआ कि एक टूटा हुआ आदमी उसके सामने लेटा हुआ है—कितना निरीह और कितना दयनीय।"[५]

इस प्रवृत्ति के दो कारण हो सकते हैं। पाठक को अनुभवहीन समझना अथवा अपनी शब्द-शक्ति पर विश्वास न होना। पाठक इस बात को कभी पसंद नहीं करता कि उसकी समझदारी पर अविश्वास किया जाए। चार्ल्स लैंब ने अपने

---

१. सीधी-सच्ची बाते, पृष्ठ १७४
२. वही, पृष्ठ १७५
३. वही, पष्ठ २०३
४. वह फिर नही आई, पृष्ठ २२
५. रेखा, पृष्ठ ३४७

एक पत्र में वर्ड्सवर्थ को लिखा था कि इससे पाठक की भावना पर चोट लगती है।[1] जहा तक शब्द-शक्ति का प्रश्न है वर्माजी की यह शक्ति वर्णन-क्षमता एवं विश्लेषण में जितनी दिखलाई पडती है—अंतर्द्वंद्व तथा आंतरिक भावों के चित्रण मे उतनी नही। वास्तव में ऐसी सशक्त भाषा जो हृदय के अंदर की वेदना, कटुता, कोमलता, सुख-दुख को चित्र की तरह स्पष्टता से सामने रख सके भगवती बाबू के पास नही है। अज्ञेय की समर्थ शब्द-शक्ति से यदि हम भगवती बाबू की तुलना करें तो बात अधिक स्पष्ट हो जाती है। अज्ञेय अपने पात्रों के हृदय मे उफनती भावनाओं को व्यक्त करने के लिए अत्यंत सूक्ष्म, सुघड़ और कोमल भाषा का प्रयोग करते है। भगवती बाबू के उपन्यासों में इसका अभाव है।

भगवती बाबू में प्रासगिक कथाओं को समेटने और उनसे निष्कर्ष निकालने की प्रवृति है। उनके इस प्रयास ने कहीं-कहीं उनके उपन्यासों को व्यर्थ विस्तार से बोझिल बनाया है। जो उपन्यास विस्तृत कालखण्ड को चित्रित करते हैं उनमें न जाने कितने पात्र आते है। 'पैनोरमिक' उपन्यास के लेखक हर पात्र के क्रिया-कलापों को मुख्य कथा में बहुत अधिक नही गूथते है। न ही उनकी परिणति के विषय मे अधिक सचेत होते हैं। पर भगवती बाबू के उपन्यासों में यह प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है। 'भूले-बिसरे चित्र' में पहलवानों के दंगल की कथा को समेटने के लिए भगवती बाबू को काफी प्रयास करना पडा है। इसी तरह 'प्रश्न और मरीचिका' मे बिंदेसरी की कथा तथा लता और अंजनी कुमार की कथा को अंतिम परिणति तक पहुंचाने की आकांक्षा ने उपन्यास के कलेवर को बढाया है।

नियतिवादी दर्शन का शैली पर प्रभाव

लेखक का जीवन-दर्शन भी उसकी शैली को प्रभावित कर सकता है इसके प्रमाणस्वरूप हम भगवती बाबू के उपन्यासों को रख सकते हैं। कथानक मे आकस्मिक मोड़ तथा संयोग तो इसके कारण उत्पन्न होते ही हैं—उपन्यास मे घटने वाली घटनाओं के पूर्व संकेत भी पात्रों की मनःस्थिति से प्राप्त हो जाते हैं। 'आखिरी दांव' के अंतिम परिच्छेद के पूर्व के बीसवें परिच्छेद का प्रारम्भ अतिम परिच्छेद में होने वाले विनाश का पूर्व संकेत है :

"उस दिन जब चमेली सोकर उठी, वह बहुत उदास थी। वैसे उसकी उदासी का कोई कारण न था, लेकिन उसने अपने प्राणों में एक तरह की आशंका का

---

1. An intelligent reader finds a sort of insult in being told, "I will teach you how to think upon this subjeet". This fault, if I am right, is in a ten thousand worse degree writers, in Stern and many—they set out with assuming their readers to be stupid."

—Time and Novel, Page 101

अनुभव किया।"[१]

'टेढे-मेढ़े रास्ते' में उमानाथ के जीवन मे आने वाले संकट का सकेत भगवती बाबू और भी स्पष्टता से देते है :

"उमानाथ अनायास ही बहुत अधिक उद्विग्न हो उठा था। ऐसी उद्विग्नता शायद उसने पहले कभी अनुभव न की थी। लाख प्रयत्न करने पर भी उमानाथ को उस उद्विग्नता का कोई स्पष्ट कारण न मिल रहा था, पर फिर भी एक भयानक उथल-पुथल वह अपने अंतर में अनुभव कर रहा था। उमानाथ को उस समय कुछ ऐसा लग रहा था कि उसके चारों ओर जो कुछ है, वह सबका सब अनायास ही बदलने वाला है—और वह यह भी अनुभव कर रहा था कि यह बदला हुआ अच्छा न होगा, यह बदलना विनाश होगा।"[१]

भगवती बाबू के नियतिवादी जीवन-दर्शन ने दूसरा प्रभाव उनकी शैली पर यह डाला है कि उनके व्यंग्य में आक्रोशहीनता है। सामाजिक विसंगतियों पर अधिक से अधिक लिखने के बाद भी उसमें आक्रोश और विचलन नहीं है जबकि यह आज के लेखक का अभिन्न अंग है। बुराइयों पर प्रहार करने के बाद भी वे यह पाते है कि बुराइयों पर मनुष्य का वश नहीं है और न उन्हें दूर करने की उसमें क्षमता है। 'सबहिं नचावत राम गुसाईं' व्यंग्य उपन्यास है पर अनाचारियों और अत्याचारियों के प्रति लेखक का कहीं आक्रोश नहीं है। आज के भारत की अत्यत दयनीय स्थिति 'प्रश्न और मरीचिका' में चित्रित है और अंत में उस स्थिति पर मनुष्य की अवशता की स्वीकारोक्ति है। इस स्वीकारोक्ति को उनके अन्य उपन्यासों में भी देखा जा सकता है। इस बात ने उनके उपन्यासों के अंत को अवसाद से भर दिया है। उनके अधिकांश उपन्यास अपनी समाप्ति तक मानवीय स्वतत्रता और सामर्थ्य के प्रति गहरा संशय उत्पन्न करते हैं। 'आखिरी दांव,' 'टेढ़े मेढे रास्ते,' 'वह फिर नही आई,' 'सीधी सच्ची बातें,' 'सामर्थ्य और सीमा,' 'प्रश्न और मरीचिका'—इन सभी की परिणति अवसादमय है। यह स्पष्टतः उनके जीवन-दर्शन का प्रभाव है।

---

१. आखिरी दाव, पृ० २५९

२ टेढ़े मेढ़े रास्ते

अध्याय १२

समकालीन अन्य कथाकार : तुलनात्मक अनुशीलन

हिन्दी उपन्यास साहित्य और भगवती बाबू

भगवतीचरण वर्मा, जैसा कि हम पहले विचार कर चुके है, एक लम्बी अवधि से सृजनरत हैं। उनका लेखन छायावादी युग मे ताजगी से भरा था तो आज भी ताजगी से युक्त है। आम तौर पर यह माना जाता है कि पुरानी पीढ़ी के उपन्यासकार भाव-बोध, भाषा और शिल्प के स्तर पर नई पीढ़ी के साथ कदम नही मिला सके। नवीन युग-बोध और उनके अनुभवों के बीच थोड़ा फासला आ गया—"प्रेमचंदोत्तर पीढ़ी के कुछ ही उपन्यासकार स्वातंत्र्योत्तर समस्याओं, बदलते जीवन-मूल्यों और पनपती हुई नई धारणाओं पर चल पाए। जो चले भी वे अधिक दूर तक साथ न दे पाए। उनके अनुभवों और युगीन यथार्थ-बोध के बीच फासले बढते गए। पुरानी पीढ़ी न केवल अपने अनुभवों को उपन्यासों मे दुहराती रही अपितु उन्हें विकृत भी करती रही।"[1] किन्तु भगवती बाबू की कृतियों को समय की मार धुंधला नही कर सकी है। साथ ही उनकी यह भी विशेषता रही है कि बदलते हुए समय का चित्रण उनके उपन्यासों में हुआ है। यदि उनका उपन्यास 'चित्रलेखा' तत्कालीन उपन्यासों में महत्त्व प्राप्त कर सका तो उनका 'प्रश्न और मरीचिका' आधुनिक उपन्यासों की पंक्ति में शामिल है। अपने कथ्य और शैली के कारण उनके नवीन उपन्यास युवा उपन्यासकारों के उपन्यासों के समकक्ष बैठते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि उनकी लेखनी अभी भी पैनी है। दूसरे शब्दों में कहें तो अपने अधिकांश समकालीनों की तरह वे चुके नहीं हैं। उनकी दृष्टि नये

1. बादाम सिंह रावत, 'स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास : उपलब्धियों के इर्द-गिर्द' से उद्धृत : पृष्ठ ८५, समकालीन हिन्दी साहित्य, सम्पादक: वेद प्रकाश शर्मा अमिताभ

युग-आदर्शो और परिस्थितियों के आकलन की क्षमता अभी भी रखती है।

भगवती बाबू ने उपन्यास लेखन उस समय आरम्भ किया था जब हिन्दी उपन्यास-साहित्य अपना स्वरूप ग्रहण कर रहा था। प्रेमचद अपने समाज-सापेक्ष दृष्टिकोण से तत्कालीन राष्ट्रीय समस्याओं पर कथा-साहित्य का सृजन कर रहे थे। उस समय पाप-पुण्य जैसी सूक्ष्म समस्या पर 'चित्रलेखा' जैसी सशक्त और कोमल कृति का प्रकाशन एक उपलब्धि थी। जब प्रेमचद द्वारा स्थापित मानदडों के आधार पर सामाजिक उपन्यासों की रचना होने लगी जिनमें यथार्थ के प्रति आग्रह बढा तब भगवती बाबू ने भारतीय समाज के स्वरूप को उपन्यासो के माध्यम से प्रस्तुत किया। एक ओर उनके उपन्यास बाह्य का विस्तृत चित्रण करते हैं और दूसरी ओर लेखकीय विचारधारा का वहन भी करते है। उनका जीवन-दर्शन उनके उपन्यासो को सूक्ष्मता प्रदान करता है। यह सूक्ष्मता 'चित्रलेखा' और 'सामर्थ्य और सीमा' मे दिखलाई पडती है। 'टेढे-मेढे रास्ते' व्यक्तिगत विचारधारा और समाज-सापेक्ष दृष्टि का अद्भुत सामजस्य प्रस्तुत करता है।

प्रेमचद ने 'गोदान' के माध्यम से हिन्दी उपन्यास को अत्यत व्यापक फलक प्रदान किया। उसमे उन्होंने व्यक्ति के माध्यम से वर्ग और पूरे समाज, बल्कि सही अर्थो मे पूरे देश को प्रस्तुत किया। स्वातत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास साहित्य में व्यापक पृष्ठभूमि को लेकर उपन्यास लिखे गए। इन उपन्यासो मे भारतीय समाज का समग्रता से चित्रण करने का प्रयास किया गया है। भगवती बाबू ने हिन्दी उपन्यास जगत् को चार बृहत् उपन्यास भी दिए। उनके प्रसिद्ध उपन्यास 'भूले-बिसरे चित्र' मे महाकाव्य के स्वर विद्यमान हैं और न केवल भगवती बाब की सृजन-यात्रा मे बल्कि सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य मे वह 'मील का पत्थर' माना जाता है। हिन्दी उपन्यास साहित्य को जिन उपन्यासों से ऊचाइयां प्राप्त हुई हैं उनमें 'भूले-बिसरे चित्र' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भगवती बाबू हिन्दी के उन विशिष्ट लेखको में है जिन्होंने अपनी लेखनी उपन्यास विधा को समर्पित की है। सृजन-क्षमता, अतर्दृष्टि एवं कलात्मकता के आधार पर उनकी गणना हिन्दी के प्रथम कोटि के उपन्यासकारो में होती है। उनकी सृजन-क्षमता अभी भी समाप्त नही हुई है। विगत ६ वर्षो मे उन्होंने हिन्दी को तीन बृहत् उपन्याम दिए। इन तीन उपन्यासों में से दो उपन्यास 'सबहिं नचावत राम गुसाईं' एवं 'प्रश्न और मरीचिका' आश्वस्त करते है। इन उपन्यासों से यह सिद्ध है कि उनके अंदर की संभावनाएं अभी भी समाप्त नही हुई है। अभी वे 'सारिका' के लिए कहानिया लिख रहे है तथा एक नया उपन्यास 'जोंके' लिखने की योजना बना रहे है।[1]

१. "....लम्बे उपन्यास के लेखन से बेतरह थक गया हूं, इसीलिए 'सारिका' में लगातार कहानिया लिख रहा हूं लेकिन एक की योजना तो बनाई है, उसे कार्यान्वित करने की हिम्मत नही पड़ रही है। उपन्यास का शीर्षक होगा—'जोंके'।" —(पत्र न० ३)

निष्कर्ष के रूप मे हम कह सकते है कि भगवती बाबू हिन्दी के अमर हस्ताक्षर हैं और उपन्यास-साहित्य में उनका योगदान अविस्मरणीय है।

प्रत्येक बड़े साहित्यकार में कुछ विशिष्ट प्रवृत्तियां होती है और साथ ही उसका अपना जीवन दर्शन भी होता है। साहित्यकार की प्रवृत्तियो का सीधा प्रभाव कृति के स्वरूप पर पडता है। अपनी प्रवृत्तियों के आधार पर वह एक अपनी विशिष्ट शैली का निर्माण करता है और जीवन-दर्शन के आधार पर वह मानव-जीवन और सामाजिक समस्याओं का आकलन करता है तथा किसी घटना को नया अर्थ देता है। लेखक का जीवन-दर्शन तथा उस दर्शन का प्रस्तुतीकरण ही उसकी कृतियों को साहित्यिक मूल्य (Literary Value) प्रदान करता है। इनके अतिरिक्त किसी भी लेखक को उसके युग की प्रवृत्तिया भी प्रभावित करती है। युगीन प्रवृत्तियों का प्रभाव लेखक को अपने समाकालीनों से जोडता है और उसकी व्यक्तिगत प्रवृत्तियां और जीवन-दर्शन उसे अन्यों से विलग कर विशिष्टता प्रदान करता है। इस बात को दृष्टि मे रखते हुए यह स्वीकार किया जा सकता है कि किसी भी लेखक का पूर्ण अध्ययन तब तक संभव नही है जब तक उसे समकालीनो के करीब रखकर न परखा जाए। इसी आधार पर भगवती बाबू की कुछ साहित्यकारों से तुलना अध्ययन को पूर्णता प्रदान करने में सहायक होगी।

भगवती बाबू और जैनेन्द्र

जैनेन्द्र कुमार हिन्दी के प्रमुख व्यक्तिवादी उपन्यासकारों में से है। व्यक्तिवादी होने के साथ ही साथ ही साथ उनका नियति पर भी विश्वास है। प्रथम अध्याय में इसपर चर्चा की गई है, यहां हम मुख्य रूप से इस बात पर चर्चा करेंगे कि भगवती बाबू और उनमे अंतर तथा समानताएं कहां है। इन दोनों उपन्यासकारों की कृतियों के अध्ययन के बाद प्रथम दृष्टि में ही जो अंतर स्पष्ट होता है वह उनकी प्रवृत्ति का अंतर है। दोनों ही व्यक्तिवादी है किन्तु जैनेन्द्र कुमार मूलत: मानव-मन का विश्लेषण करते हैं जबकि भगवती बाबू मानव की वाह्य-परिस्थितियों के चित्रण पर जोर देते हैं। संक्षेप मे कहें तो जैनेन्द्र की दृष्टि अंतर्मुखी है जबकि भगवती बाबू बाह्योन्मुख कथाकार हैं। "जैनेन्द्र ने व्यक्ति की अतुल गहराइयों में पैठकर उसकी आंतरिक प्रवृत्तियों को स्पष्ट कर, उसके संघर्ष को समाप्त कर दुविधा में उसके मन को एक निश्चित दिशा देने का प्रयत्न किया हैं।"[१]

यह कहा जा सकता है कि जैनेन्द्र व्यक्ति के अंतर्मन के कथाकार हैं। उनके उपन्यासों में बाह्य संसार का महत्त्व नहीं है। व्यक्ति-कुंठाओं, उलझनों और पीड़ा

१. डॉ० सुरेश सिन्हा, हिन्दी उपन्यास, पृष्ठ २७८

का गहन चित्रण ही उनका अभीष्ट है। इसके विपरीत भगवती बाबू उन परिस्थितियों का चित्रण करते है जो मनुष्य को परिचालित करती है। भगवती बाबू के सभी उपन्यास सामाजिक समस्याओ पर आधारित है और उनमें समाज का विशद वर्णन है। तत्कालीन परिवेश उनके उपन्यासों मे साकार हो उठा है। जैनेन्द्र के उपन्यासों में भी क्रांतिकारी पात्र है किन्तु स्वाधीनता-आंदोलन की हलचल का उनके उपन्यासों में कही कोई आभास नही है जब कि भगवती बाबू के उपन्यासों में स्वाधीनता-आंदोलन पर विस्तार से विचार किया गया है। उनके तीन उपन्यास 'टेढे-मेढ़े रास्ते', 'भूले-बिसरे चित्र' और 'सीधी-सच्ची बातें' उक्त आदोलन की पृष्ठभूमि पर ही आधारित है।

जैनेन्द्र के पात्र अपनी आंतरिक कुहेलिका से परिचालित है और भगवती बाबू के पात्र अनायास घटने वाली घटनाओं से। व्यक्ति के अंतर्द्वंद्व का चित्रण भगवती बाबू भी करते है पर यह चित्र मनोवैज्ञानिक स्तर पर नही होता। उनके पात्रों का अंतर्द्वंद्व अवचेतन की गुह्य प्रवृत्तियों से प्रसूत नही है जैसा कि जैनेन्द्र के पात्रों का है। 'सुनीता' और 'रेखा' उपन्यासों की यदि हम तुलना करें तो पाएंगे कि दोनों में ही चित्रित अंतर्द्वन्द्व कामजनित है किन्तु 'सुनीता' में चित्रित अंतर्द्वंद्व का संबंध काम-ग्रंथि से है जब कि रेखा मे चित्रित अंतर्द्वन्द्व परिस्थितियों की विडंबना से उत्पन्न है। सुनीता के चित्रण में सूक्ष्मता है और रेखा के चित्रण में स्थूलता।

व्यक्ति के अंतर्मन का चित्रण करने के कारण जैनेन्द्र कुमार व्यक्तिवादी कहे जाते हैं जबकि भगवती बाबू व्यक्तिवादी दर्शन पर विश्वास करने के कारण व्यक्तिवादी है। वे व्यक्ति के अहम् को अत्यंत महत्त्व देते है जबकि जैनेन्द्र कुमार गांधीवादी दर्शन में विश्वास करने के कारण प्रेम और आत्मपीड़न को महत्त्व देते है। अपनी हस्ती को मिटाकर अन्यों को बनाने की प्रवृत्ति उनके पात्रों मे दिखलाई देती है, जबकि भगवती बाबू के उपन्यासों के पात्रों में प्रबल अहम् का टकराव है। अपने अहम् के लिए वे एक-दूसरे के प्रति आक्रामक रवैया अपनाते है। यों भगवती बाबू भी मानते हैं कि अहम् का परिष्कार होना चाहिए। अपने उपन्यासों में वे व्यक्ति के अहम् को टूटता हुआ भी चित्रित करते है। इतना ही नही वे मनुष्य को झुकने के लिए भी कहते है। 'सामर्थ्य और सीमा' में नाहर सिंह नास्तिक देवलंकर से कहते हैं, "नही इन्जीनियर साहब। झुको, झुको। मनुष्य का यह भ्रम है कि वह लेता है, सत्य तो यह है कि वह केवल पाता-भर है। और तुममें इतनी सामर्थ्य कहां है कि तुम ले सको।"[1] किन्तु इतना सब कहने के बाद भी व्यक्ति के अहम् के प्रति भगवती बाबू की आसक्ति उनके उपन्यासों में

१. सामर्थ्य और सीमा, पृ० २७४

स्पष्ट लक्षित होती है। अहम्‌वादी पात्रों के चित्रण मे उनकी तल्लीनता को प्रमाण-स्वरूप रखा जा सकता है।

दोनो ही नियति में विश्वास रखते हैं किन्तु भगवती बाबू का नियतिवाद अधिक स्पष्ट है। वस्तुतः नियतिवाद ही उनके सम्पूर्ण साहित्य का आधार है। वे मनुष्य की स्वतत्र इच्छा पर विश्वास नही करते, यहां तक कि इतिहास की भी नियतिवादी व्याख्या वे करते है। किन्तु परिस्थितियो के चक्र से लडते हुए मानव का चित्रण उन्होंने बार-बार किया है। उनके नियतिवाद में कही न कही आशा का स्वर है। उनके द्वारा चित्रित मनुष्य नियति की शक्ति से बार-बार हारता है किन्तु उससे लगातार जूझता भी है। जैनेन्द्र के उपन्यास मे भी मनुष्य की स्वतत्र इच्छा का कोई महत्त्व नही है। उनका मनूष्य बार-बार अपने से ही हारता है। 'त्याग-पत्र' की मृणाल तो अपने को बिलकुल ही परिस्थितियो के प्रवाह मे असहाय छोड देती है। कही भी यह जूझती हुई नही दिखलाई पड़ती। स्पष्टतः यह भगवती बाबू और जैनेन्द्र की विचारधारा का अंतर है।

भगवती बाबू और अज्ञेय

हिन्दी उपन्यासकारों मे अज्ञेय को सर्वोच्च व्यक्तिवादी माना जाता है। उनके उपन्यास 'शेखर: एक जीवनी' में व्यक्ति के अहम् और समाज के संघर्ष का इतना जीवंत चित्रण है कि कितने ही आलोचकों ने इसे असामाजिक कह डाला। व्यक्ति का अहम् ही उसके जीवन का केन्द्र-बिंदु होता है—इसे अज्ञेय ने अपने उपन्यासों के माध्यम से बार-बार व्यक्त किया है। भगवती बाबू भी यही मानते हैं। व्यक्ति और समाज के सघर्ष मे वे भी व्यक्ति की सत्ता को अक्षुण्ण रखना चाहते हैं। 'चित्रलेखा' में बीजगुप्त व्यक्ति को महत्त्व देते हुए कहता है, "व्यक्तित्व जीवन में प्रधान है और व्यक्ति से ही समुदाय बनता है। जब व्यक्ति वर्जित है, तो उस व्यक्ति को समुदाय का भाग बनना अपना ही अपमान करना है।"[1] अज्ञेय का शेखर कहता है, "मुझे मूर्ति उतनी नहीं चाहिए, मुझे मूर्तिपूजक चाहिए। मुझे कोई वैसा उतना नहीं चाहिए, जिसकी ओर मैं देखूं, मुझे वह चाहिए, जो मेरी ओर देखे।" यहां यह ध्यान देने योग्य बात है कि शेखर का अहम् भाव उसे तोडता नहीं बल्कि उसे आत्मविकास की ओर बढाता है जबकि भगवती बाबू के पात्रो का अहम् भाव उन्हें विकसित करने के साथ तोड़ता भी है। 'पतन' का प्रताप सिह, 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' के रामनाथ तिवारी, दयानाथ, उमानाथ, 'रेखा' की रेखा और प्रभा-शंकर—इन सभीको उनका अहम् भाव तोड़कर रख देता है।

अज्ञेय का व्यक्तिवादी स्वर 'नदी के द्वीप' और 'अपने-अपने अजनबी' में भी

---

१. चित्रलेखा, पृष्ठ १२

कायम रहा है। अज्ञेय के पहले उपन्यास मे व्यक्ति का संघर्ष समाज से ही है पर दूसरे उपन्यास मे उनके व्यक्ति-पात्रों का संघर्ष अपने से ही है। किन्तु व्यक्ति स्वातंत्र्य का प्रबल स्वर इसमें भी विद्यमान है। 'अपने-अपने अजनबी' अस्तित्व-वादी चिंतन पर आधारित है। यह व्यक्तिवाद के साथ-साथ नियतिवाद को भी प्रश्रय देता है। इसमें सेलमा योके से कहती है, "तुम जो अपने को स्वतंत्र मानती हो, वही सब कठिनाइयों की जड़ है। न तो हम अकेले हैं, न हम स्वतंत्र हैं।" अपने पहले उपन्यास की भूमिका में ही उन्होंने नियतिवाद में अपनी आस्था प्रदर्शित की है। भगवती बाबू भी मनुष्य की स्वतंत्र इच्छा पर विश्वास नहीं करते। यह स्पष्ट परिलक्षित है कि भगवती बाबू और अज्ञेय दोनों ही व्यक्तिवादी एवं नियतिवादी हैं। पर उनमें अंतर यह है कि भगवती बाबू मूलतः नियतिवादी हैं और उनका व्यक्तिवादी उनका पूरक है जबकि अज्ञेय मूलतः व्यक्तिवादी हैं और उनका नियतिवाद उनके व्यक्तिवाद का पूरक है। व्यक्ति की सत्ता के प्रति आकृष्ट होने के उपरात भी दोनो उपन्यासकार समाज की उपेक्षा नही करते। वे व्यक्ति के किसी-न-किसी रूप में समाजोन्मुख होने मे विश्वास रखते हैं। अज्ञेय का शेखर व्यक्तिवादी अवश्य है किन्तु "वह विभिन्न सामाजिक संदर्भो मे व्यक्ति-स्वातत्र्य की रक्षा करता हुआ निरंतर अपना सामजस्य स्थापित करने की चेष्टा करता है। इस प्रक्रिया में उसका अहम् और विद्रोह भाव निश्चय ही बाधक है, पर अगत्या वह अपने प्रश्नों का समाधान सामाजिकता में खोज लेता है तथा अपने अहम् का परिष्कार कर सकने में समर्थ हो ही जाता है। यह एक प्रकार से सामाजिक परिधि में स्वातंत्र्य की खोज है।"[1] भगवती बाबू भी अहम् के परिष्कार मे विश्वास रखते हैं। 'सामर्थ्य और सीमा' मे वे इस बात को बड़े स्पष्ट शब्दों में सामने रखते हैं। अहम् से भरे हुए व्यक्तियों की पराजय बतलाकर वे अहम् पर प्रहार करते हैं।

अज्ञेय अपने जीवन-दर्शन को उपन्यासों में मुख्य स्थान देते हैं—शेष सब कुछ उनके लिए गौण है। समाज के साथ संघर्ष करते हुए मनुष्य के आंतरिक भावों की चीर-फाड़ वे करते हैं। भगवती बाबू अपने जीवन-दर्शन को ही कृति में महत्त्व-पूर्ण नही बनाते—उनका जीवन-दर्शन उनके कथानक के साथ-साथ चलता है और कथानक की चरम परिणति उसके पक्ष में होती है। वे समाज के व्यापक चित्रों को प्रस्तुत करते है और परिस्थितियों के विस्तृत चित्रण में रमते हैं। अज्ञेय अपनी सूक्ष्म दृष्टि से व्यक्ति-मन का विश्लेषण करते हैं और भगवती का बाबू ऐतिहासिक एवं सामाजिक घटनाओं का विश्लेषण करने में रुचि लेते है। दोनों की भिन्न प्रवृत्तियों का स्पष्ट प्रभाव उनकी शैली पर पड़ा है। अज्ञेय सूक्ष्म कथ्य के

---

१. डॉ० सुरेश सिन्हा, हिन्दी उपन्यास, पृष्ठ ३००

अनुकूल अत्यंत सूक्ष्म और तराशी हुई भाषा का प्रयोग करते है। उनकी रचनाओ को पढ़कर उनकी अभिव्यक्ति की सशक्तता का कायल होना पड़ता है। मनुष्य के आतरिक द्वंद्वो के घात-प्रतिघात का अत्यत सफल और सूक्ष्म अकन करने मे अज्ञेय हिन्दी उपन्यास-जगत् मे अद्वितीय है। भगवती बाबू में सूक्ष्मता का अभाव है। पात्रो के वाह्य सघर्षो का चित्रण वे कही अच्छी तरह करते है। पात्रो की अंतर्बद्धता के चित्रण मे वे रम नही पाते जबकि उनकी बाह्य परिस्थितियो का अकन वे अत्यंत कुशलता से करते है।

भगवती बाबू और यशपाल

यशपाल मार्क्सवादी साहित्यकार हैं अतः व्यक्तिवाद और नियतिवाद दोनो से ही उनका विरोध है। "उनके अनुसार साहित्यिक व्यक्तिवाद की शरण तब लेता है, जब वह सामूहिक जीवन में सघर्ष और असुविधा देखकर मैदान से भागना चाहता है।"[1] व्यक्तिवाद की ही तरह भाग्यवाद की भी वे आलोचना करते है। उनके 'दिव्या' उपन्यास के पात्र मादिश के शब्दों मे, "भाग्य का अर्थ है मनुष्य की विवशता और कर्मफल का अर्थ है और कष्ट और विवशता के कारण का अज्ञान" — इस तरह यशपाल का जीवन-दर्शन भगवती बाबू के जीवन-दर्शन से बिलकुल उल्टा है। किन्तु एक-दूसरे स्तर पर यशपाल और भगवती बाबू बहुत निकट भी है। मार्क्सवादी होने के कारण यशपाल भारत की सामाजिक समस्याओं की गहरी पड़ताल करते है। उनकी सजग और चौकस सामाजिक चेतना उनके साहित्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पहलू है। यह चर्चा हम पहले ही कर चुके है कि भगवती बाबू भी भारतीय समाज की समस्याओं का चित्रण मनोयोग से करते दिखलाई पड़ते है। दूसरे शब्दों में कहें तो दोनों ही बाह्योन्मुख उपन्यासकार है।

यशपाल यथार्थवादी उपन्यासकार हैं अतः नग्न यथार्थ का यथातथ चित्रण वे अपनी कृतियों में करते हैं। उन्होंने सामाजिक यथार्थ के चित्रण मे आर्थिक विषमता को ही स्थान दिया है। यह उनके मार्क्सवादी चिंतन का प्रभाव है। मानवीय रिश्तों और ऐतिहासिक घटनाओं को उन्होंने इसी आधार पर तोला जबकि भगवती बाबू उन्हें अपने नितांत व्यक्तिगत दर्शन पर तोलते है। यशपाल समस्त समस्याओं का समाधान मार्क्सवादी दर्शन मे देखते हैं जबकि भगवती बाबू किसी भी राजनैतिकवाद से बंधे नहीं है। अपने उपन्यासों में उन्होंने राजनैतिक वादों को कभी भी मानवीय समस्याओं का निदान नहीं माना है। वे सारे वादों को अप्रत्यक्ष रूप से टेढ़े-मेढे रास्ते ही सिद्ध कर देते हैं। कभी-कभी भगवती बाबू की आलोचना इस बात पर की गई है कि वे सभी राजनैतिकवादों पर अविश्वास

---

१. डॉ० सुरेश सिन्हा, हिन्दी उपन्यास, पृष्ठ २१६

करते है तो यशपाल की आलोचना इस बात पर हुई है कि वे विशिष्टवाद पर ही विश्वास करते है। वादों पर अविश्वास करके भी मानव के प्रति गहन सहानुभूति के कारण भगवती बाबू के उपन्यास महत्त्वपूर्ण बन सके है। एक वाद की सीमा में जितना विस्तार सभव है वह यशपाल के उपन्यासो मे भी प्राप्त है। सामान्य जन से प्रतिबद्ध होने के साथ ही साथ कलात्मक सम्पन्नता होने के कारण उनकी कृतियों का साहित्यिक मूल्य कम नही हुआ। यशपाल पर प्रचारवादिता का आरोप भी किया गया है। इसमे सदेह नही कि उन्होंने पार्टी के सिद्धांतों का प्रचार अपनी कृतियों के माध्यम से जोर-शोर से किया किन्तु फिर भी कृतियो मे निहित साहित्यिक सभावनाओं का उपभोग उन्होने पूरा किया है।

यशपाल राजनैतिक विचारधारा से बंधे होने के कारण भारत के राजनैतिक और सामाजिक परिवर्तनो का चित्रण करते है जबकि भगवती बाबू बिना किसी राजनैतिक विचारधारा से बंधे यही करते है। अपने 'झूठा सच' उपन्यास की भूमिका मे यशपाल ने स्वयं यह कहा है कि देश के "सामयिक और राजनैतिक वातावरण को यथासभव ऐतिहासिक यथार्थ के रूप में" उन्होंने प्रस्तुत किया है। इसमें संदेह नहीं कि 'झूठा सच' उपन्यास के दोनों भागों मे उनका यह प्रयास सफल रहा है। भारतीय समाज के चित्रण में दोनों ही लेखकों मे अंतर यह है कि भगवती बाबू घटनाओं की प्रतिक्रिया के रूप मे संवादों द्वारा उसका चौतरफा विश्लेषण करते है जबकि यशपाल नि:सगता से उसका प्रत्यक्ष वर्णन करते है। "वस्तुत: 'झूठा सच' मे यशपाल की नि:संगता ही उनकी अनुभूतियों को प्रामाणिक बनाती है।"[१] विशेषकर हिन्दू-मुस्लिम दंगों की भीषणता को यशपाल अधिक यथार्थता से प्रस्तुत कर सके है। भगवती बाबू की प्रवृत्ति स्पष्टत: प्रकरणों को विस्तृत रूप से चित्रित करने मे अधिक है। उनकी इसी प्रवृत्ति की अति ने 'सीधी-सच्ची बाते' उपन्यास को नीरस बना दिया है।

ऐतिहासिक तथ्यों का प्रयोग यशपाल ने 'झूठा सच' मे ही अधिक किया है। उनके अन्य उपन्यासों में भी इस बात की अधिकता है किन्तु प्रमुखता नहीं। भगवती बाबू के उपन्यासों में ऐतिहासिक तथ्यों की प्रमुखता है और वे अलग-अलग काल पर भिन्न-भिन्न उपन्यासों की रचना करते है। उन उपन्यासों मे ऐतिहासिक परिवर्तनों को ही मुख्यता प्राप्त हुई है। इन दोनों में एक अंतर और भी है। यशपाल मनुष्य की शक्ति पर आस्था रखते हैं और इतिहास मे उसका दाय स्वीकार करते है। जनता की शक्ति पर उन्हे विश्वास है। 'झूठा सच' में उनका एक पात्र (डॉक्टर) कहता है, "गिल, अब तो विश्वास करोगे जनता निर्जीव नही है। जनता सदा मूक भी नही रहती। देश का भविष्य नेताओं और मन्त्रियों की मुठ्ठी

१. डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, हिन्दी उपन्यास, उपलब्धियां, पृष्ठ ८२

मे नही है, देश की जनता के ही हाथ मे है।''[१] इसके विपरीत भगवती बाबू इतिहास में मनुष्य का कोई भी योगदान स्वीकार नही करते। जनता की शक्ति और चेतना पर भी उन्हे विश्वास नही है:

''विद्यानाथ एक विद्रूप हंसी हंस पड़ा, 'उदय, यह मतदान करने वाली जनता वेदिमाग, अपढ और भुलावो मे भटकने वाले लोगो का एक समूह-भर है। ये जितने चुनाव है, ये सिद्धातों पर नही लड़े जाते।''[२]

इस बात पर ध्यान देने पर कि दोनों लेखकों के पात्रो के उक्त कथन चुनाव के संदर्भ में है—दोनों की प्रवृत्ति का अंतर अधिक स्पष्ट हो जाता है।

भगवती बाबू और अमृतलाल नागर

उपन्यास साहित्य के क्षेत्र में प्रेमचंदोत्तर युग में प्रेमचन्दीय परपरा के सर्वाधिक निकट बैठने वाले उपन्यासकार भगवती बाबू और अमृतलाल नागर ही हैं। यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि उन्होंने उस परपरा का परिष्कार किया है। कहानी और पात्र दोनों पर ही समान दृष्टि रखने की प्रवृत्ति के कारण—डॉ० देवराज उपाध्याय ने भगवती चरणवर्मा को 'प्रेमचंद का सशोधित सस्करण।'[३] कहा है। अमृतलाल नागर के उपन्यास 'बूंद और समुद्र' के विषय में डॉ० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय ने लिखा है, ''एक प्रकार से प्रेमचंद शैली की उसमें पुनरावृत्ति थी। वही स्थूलता, पात्रों के व्यक्तित्व का वही एकांगी रूप और आदर्श का वही आरोपण।'[४] भगवती बाबू और अमृतलाल नागर दोनों ही समाज के चित्रण मे रुचि लेते हैं। दोनों की ही दृष्टि बाह्योन्मुख है अतः बदलता हुआ समाज और जीवन मूल्य ही इनके उपन्यासों के विषय हुआ करते हैं। नागर जी के दो प्रसिद्ध उपन्यास 'बूद और समुद्र' तथा 'अमृत और विष' भगवती बाबू के वृहत् उपन्यासों की ही तरह समाज की कई समस्याओं को चित्रित करते हैं। इनमें कथा नायक तथा कथानक अपने-आपमें उतने महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना कि उनके माध्यम से चित्रित होता हुआ समाज।

भगवती बाबू कहानी कहने पर विश्वास रखते है। अपने बृहत् उपन्यासो में कहानी कहने के साथ ही समाज का विस्तृत चित्रिण करते हैं और इतिहास को नये सिरे से परखते हैं। अमृतलाल नागर भी यही करते हैं। अपने बृहत् सामाजिक उपन्यासों 'बूंद और समुद्र' तथा 'अमृत और विष' में विस्तृत सामाजिक

---

१. यशपाल : देश का भविष्य, पृष्ठ ६८०
२. प्रश्न और मरीचिका, पृष्ठ १३
३. देवराज उपाध्याय, 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते : एक समीक्षा'—प्रतीक (प्रयाग) स० १—ग्रीष्म।
४. डॉ० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, हिन्दी उपन्यास, उपलब्धियां, पृ० ९०

पृष्ठभूमि पर उन्होंने अपने कथानक का विस्तार किया है। उनके सभी उपन्यासों मे कथा की वही रोचकता विद्यमान है जो भगवती बाबू के उपन्यासों में हैं। यहां इन दोनों लेखकों की एक और समानता पर चर्चा करना भी अप्रासंगिक न होगा कि ये दोनों ही पुरानी दुनिया का चित्रण करने मे सिद्धहस्त हैं। नई दुनिया का चित्रण दोनों ने ही किया है किन्तु उसमें वे अधिक सफल नहीं हुए हैं। भगवती बाबू का 'भूले-बिसरे चित्र' और अमृतलाल नागर का 'बूद और समुद्र' इसके प्रमाण है। 'भूले-बिसरे चित्र' के पहले तीन खण्ड जिस कौशल से रचे गए हैं उसका अंतिम दो खण्डो में अभाव है। इसी तरह नागरजी के 'बूंद और समुद्र' में ताई की गली का चित्रण जितना सजीव है उतना सजीव सज्जन और वनकन्या का ससार नही है। इसका कारण यह भी है कि दोनों की ही दृष्टि इतिहास पर अधिक ठहरती है। नागरजी प्राचीन और मध्यकालीन इतिहास में अधिक रुचि लेते है और भगवती बाबू आधुनिक काल में।

भगवती बाबू और अमृतलाल नागर में मुख्य अंतर यह है कि भगवती बाबू अधिक से अधिक व्यक्ति के अहम् के परिष्कार के पक्ष में हैं जबकि नागरजी समाज के लिए पूर्ण-समर्पित व्यक्ति की आवश्यकता समझते हैं। भगवती बाबू अहम् को व्यक्ति के लिए आवश्यक मानते है। अहम् के बिना व्यक्ति निष्प्राण है। यही कारण है कि अहम् से भरे पात्रों की पराजय दिखलाने के उपरांत भी उनके प्रति भगवती बाबू की अनुरक्ति स्पष्ट है। नागरजी समाज रूपी सागर में बूंद के रूप में मिल जाने में व्यक्ति का कल्याण समझते हैं। 'बूद और समुद्र' के बाबाजी इसी बात को आध्यात्मिक रंग देकर इस तरह प्रस्तुत करते हैं, "मैं तो क्षण-प्रतिक्षण साधारण—सहजता को ही साधता रहता हूं, तुम्हारे मन में अद्वि-तीय बनने की भावना है। अलग रहकर विराट को कैसे पहचानोगे राम जी ?"[1] 'बूंद और समुद्र' मे उन्होने सज्जन को अहम् का घेरा तोड़कर विराट में अपने को समाहित करके शांति और शक्ति प्राप्त करते हुए बतलाया है जबकि अहम् का अजगर पालकर महिपाल इतना पतित होता है कि उसे आत्महत्या करनी पड़ती है।

आस्था के प्रश्न पर इन दोनों लेखकों का अंतर अधिक स्पष्ट है। नियति-वादी भगवती बाबू मनुष्य को बार-बार असफलताओं के द्वार पर खड़ा करके उसे परिस्थितियो से पराजित चित्रित करते हैं। अपनी ही गलतियों से अथवा समय की मार से निराश और त्रस्त उनके पात्र मरते हैं, आत्महत्या करते हैं, विक्षिप्त होते है या अवसाद के सागर में गोते लगाते हुए दिखलाई पड़ते हैं। हम इस बात की चर्चा पूर्व के अध्याय में कर चुके हैं कि उनके नियतिवाद में आशा का स्वर भी

---

१. अमृतलाल नागर, बूंद और समुद्र, पृ० ५७२

है पर कुल मिलाकर वह आशा का स्वर यही कहता है कि पराजय के बाद भी जूझते रहो। दूसरे शब्दों मे कहें तो उनके उपन्यास-साहित्य में पराजित मनुष्य का चित्र ही 'प्रामिनेण्ट' है। नागरजी में आस्था का स्वर अधिक है। उनके उपन्यासों में भी परिस्थितियों से जूझते हुए मनुष्य को चित्रित किया गया है पर उनकी अंतिम परिणति विश्वास से भरी हुई है। मनुष्य के आत्मविश्वास को उन्होंने जीवन में प्रथम स्थान दिया है :

"मृत्यु के भय-चक्र में पड़कर परलोक चिंतन में फंसाए रखने वाला दर्शन नितांत जड़ और आत्मघातक है। इस परलोक वाले दर्शन और उसके धर्म को लोक-जीवन से समेटकर म्यूजियम में रख देना ही उचित और समयानुकूल है। स्वामी विवेकानन्द ने कहीं कहा है कि आत्मविश्वास खोकर ईश्वर या माने हुए तैंतीस कोटि पौराणिक देवी-देवताओं में विश्वास रखना गलत है। आत्मविश्वास ही नये युग का धर्म है।"[१]

जो बात उन्होंने 'बूंद और समुद्र' में स्थूल ढग से कही है उसीको 'अमृत और विष' मे सूक्ष्म बनाकर प्रस्तुत किया है। अरविंद शंकर जब अपने जीवन के माध्यम से देश और समाज का मूल्यांकन करता है तो उसके सामने हैमिंग्वे का 'बूढा मछेरा' प्रेरणा के रूप में बार-बार आता है जो परिस्थितियो से पराजित नहीं होता। अरविंद शंकर कहता है, "विश्राम करूं या मर जाऊं ? तब तो मैं हैमिंग्वे के 'बूढे मछेरे' से हार जाऊंगा। जड़-चेतनमय, विष-अमृतमय, अंधकार-प्रकाशमय जीवन में न्याय के लिए कर्म करना ही गति है।"

समकालीन उपन्यास साहित्य में व्यक्तिवाद और नियतिवाद की परछाई

कोई भी दर्शन साहित्य में स्थान पाने के बाद अपनी एक परंपरा कायम करता है और लम्बे समय तक अपना अस्तित्व बनाए रखता है। व्यक्तिवाद और नियतिवाद के संबंध में विचार करते समय हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि ये दोनों ही धाराएं मात्र परंपरा के कारण नहीं चल रही हैं। ये दोनों ही जीवित दर्शन हैं और इनपर अभी भी नये ढंग से विचार किया जा रहा है। बदलते संदर्भों में इनका पुनर्मूल्यांकन अभी भी होता रहता है। हिन्दी के समकालीन उपन्यास-साहित्य में नवीन जीवन-मूल्यों के आगमन से भी ये विचारधाराएं क्षीण नहीं हुई हैं। हां, उनके स्वरूप में थोड़ा परिवर्तन हुआ है।

---

१. बूंद और समुद्र, पृ० ५८२

व्यक्तिवादी विचारधारा

आधुनिक भारतीय चिंतन में अतः भारतीय साहित्य में भी व्यक्ति सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटक है। "स्वांतंत्र्योत्तर मूल्य-सक्रमण के सामाजिक परिपार्श्व में समाज के स्थान पर व्यक्ति को प्रतिष्ठा मिली है। परंपरागत संदर्भ में समाज-सापेक्ष व्यक्ति का चिंतन मिलता है, पर अब उसके स्थान पर समाज-निरपेक्ष व्यक्ति-चिंतन का विकास हुआ है।"[1] आधुनिक साहित्यकारों ने समाज की बाह्य परिस्थितियों का भी गहन चित्रण किया किन्तु तमाम उथल-पुथल और हगामा-खेज वातावरण के केन्द्र में उन्होंने व्यक्ति को रखा—कभी सामान्य जन को और कभी किसी विशिष्ट व्यक्ति को। सामाजिक विसंगतियों मे छटपटाते सामान्य मनुष्य और कई स्तरों पर अजनबीपन के संत्रास को भोगते हुए अकेले व्यक्ति की स्थिति का चित्रण आज के उपन्यास-साहित्य का प्रमुख विषय है। हम कुछ लेखकों के माध्यम से समकालीन उपन्यास साहित्य में पनपते व्यक्तिवाद के स्वरूप पर चर्चा करेंगे।

नरेश मेहता

नरेश मेहता के उपन्यास कभी व्यक्ति और व्यक्ति के, कभी व्यक्ति और समाज के संबधों को सामने रखते है। वे समाज में घटने वाली घटनाओं से कहीं अधिक महत्त्व लेखक की प्रतिक्रिया को देते हैं। उन्होंने स्वयं कहा है, "घटना का स्वतः कोई प्रयोजन नहीं। यह व्यक्ति पर निर्भर करता है कि वह उसे ग्रहण किस प्रकार करता है। मेरे निकट लेखक के लिए प्रखर सवेदनशीलता का ही एकमेव महत्त्व है।" उनके उपन्यासों में जीवन के प्रति उनका व्यक्तिगत दृष्टिकोण ही उभरता है।

'डूबते मस्तूल' उनका प्रथम उपन्यास है जिसमें तमाम परंपराओं से अपने को ऊपर उठाकर, एक रूपगर्विता अपने सही संबंधों की तलाश करती हुई दिखलाई पड़ती है। कई पुरुषों से संबंध स्थापित कर अत मे वह आत्महत्या कर लेती है। इस उपन्यास मे व्यक्ति और समाज के विचारों का टकराव लेखक स्पष्ट कर सका है। उनके दूसरे उपन्यास 'धुमकेतु : एक श्रुति' की तुलना तो कुछ लोग 'शेखर: एक जीवनी' से करते हैं। इस तुलना का आधार कृति की महत्ता नहीं बल्कि यह है कि जिस तरह अज्ञेय शेखर के व्यक्तित्व को उपन्यास में चित्रित करते हैं उसी तरह नरेश मेहता इसमें नायक उदयन के चरित्र का अध्ययन मनोवैज्ञानिक आधार पर करते हैं। जीवन की हर छोटी-बडी घटना उदयन को प्रभावित करके

१ हेमेन्द्र पानेरी, 'स्वातत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास : मूल्य सक्रमण' से उद्धृत 'समकालीन हिन्दी साहित्य' स० वेदप्रकाश शर्मा, पृ० १०१

उसका निर्माण करती है। 'यह पथ बंधु था' उनका बृहत उपन्यास है जिसमें नायक श्रीधर के जीवन की कथा है। इस उपन्यास मे समाज का व्यापक चित्रण किया गया है और उस व्यापक परिवेश मे श्रीधर के जीवन का मूल्याकन भी प्रस्तुत किया गया है। भारत के आधुनिक युग के तमाम परिवर्तनों को पृष्ठभूमि मे रखकर व्यक्ति की सार्थकता की खोज पर लेखक की दृष्टि केन्द्रित है। सम्पूर्ण सामाजिक घटना-प्रवाह मे लेखक इस बात को नहीं भूलता है कि व्यक्ति समाज की भावनात्मक इकाई है और उसकी निजता बड़ी महत्त्वपूर्ण है। निजता का यही प्रश्न उनके उपन्यास 'दो एकात' में भी है। आधुनिक सामाजिक ढांचे का प्रभाव प्रेम जैसी नितात व्यक्तिगत अनुभूति पर भी पड़ता है यह बात विवेक और वानीरा के माध्यम से चित्रित की गई है। नरेश मेहता ने प्रेम को आज की जटिल एवं सश्लिष्ट परिस्थितियों मे रखकर व्यक्ति को पहचानने की और उसके भीतर द्वन्द्व को स्पष्ट करने की चेष्टा की है—इस उपन्यास की सफलता भी वस्तुतः इसी में निहित है।"[१]

मोहन राकेश

मोहन राकेश के उपन्यास ही नही वरन् उनका सम्पूर्ण साहित्य ही आधुनिक युग के व्यक्ति की त्रासदी का अभिव्यक्तिकरण है। आधुनिक युग से उत्पन्न हुए अनिवार्य तनाव से प्रभावित होने वाले दाम्पत्य-जीवन का चित्रण उनके उपन्यास 'अधेरे बद कमरे' मे हुआ है। आज का व्यक्ति एक कृत्रिम जीवन जी रहा है और वह न केवल दूसरों से बल्कि अपने से भी कटा हुआ है। हर व्यक्ति अपने अंदर एक रिक्तता का अनुभव करता है। उस रिक्तता की पूर्ति वह किसी अन्य के द्वारा करना चाहता है। कभी-कभी इस पूर्ति का भ्रम भी होता है किन्तु वह भ्रम अधिक समय तक कायम नही रहता। हरवंश और नीलिमा के दाम्पत्य-जीवन के उतार-चढ़ाव के माध्यम से लेखक यह सब कुछ व्यक्त करता है। हरवंश और नीलिमा जब दूर होते है तो उन्हें एक-दूसरे की आवश्यकता का अनुभव होता है किन्तु जब वे पास होते है तब एक-दूसरे पर अपने को आरोपित करने का प्रयास करने लगते हैं। उनके व्यक्तित्व का बार-बार टकराव ही उनके जीवन को दूभर बना देता है। हरवश नीलिमा के स्वतंत्र व्यक्तित्व को एक सीमा तक ही पनपते देखना सह सकता है जबकि नीलिमा उसे अधिकाधिक प्रस्फुटित करना चाहती है। मधुसूदन से बात करते हुए नीलिमा व्यक्ति की आकांक्षा को ही सर्वोपरि सिद्ध करती है :

"तो तुम्हें लगता है कि जीवन में किसी तरह का कोई मूल्य है ही नहीं ?"

---

१. डॉ० सुरेश सिन्हा, हिन्दी उपन्यास, पृष्ठ ३४६

"बिलकुल नहीं। अगर कोई मूल्य है तो इतना ही कि हर इसान अपने लिए थोडा-बहुत सुख जुटाकर किसी तरह जी लेना चाहना है, जैसे मै चाहती हूं, तुम चाहते हो और हमारे आसपास सब लोग चाहते है।"[1]

'न आने वाला कल' में भी अपनी-अपनी सीमाओं में कैद जीते हुए व्यक्तियों की कहानी है। एक पहाड़ी स्कूल में साथ-साथ जीवन जीकर भी हैड मास्टर ह्विसलर से लेकर चपरासी फकीरे की पत्नी काशनी तक—सभी नितात अकेले हैं। सभी एक-दूसरे के लिए नितांत अजनबी हैं अतः एक-दूसरे से कटे हुए हैं। नरूला का त्यागपत्र सभीमें खलबली पैदा करता है और सभी अपने-अपने अस्तित्व के प्रति आशंकित हो उठते है। मोहन राकेश इस उपन्यास में अस्तित्ववादी चिंतन के निकट दिखलाई पड़ते है। इसके सभी पात्र अंतर्मुखी और अपने से प्रतिबद्ध हैं। आधुनिक जीवन की विसगतियों को चित्रित करने वाला वह उपन्यास व्यक्तिवादी विचारधारा को सामने रखता है।

निर्मल वर्मा

निर्मल वर्मा का व्यक्ति-स्वातंत्र्य में अटूट विश्वास है। उनके 'वे दिन' उपन्यास में अस्तित्ववादी दर्शन भी उभरा है। अकेलापन, संत्रास, शून्यता आदि के बीच जीते हुए पात्र अपने को पूर्ण स्वतंत्र समझते है। कथा-नायक और रायना के लिए जैसे कोई समाज, मान्यताएं एवं परंपराए ही नही है। वे विश्वास करते हैं कि वे अलग-अलग इकाई हैं एवं मूल्यों के निर्माता स्वयं है। उपन्यास के सारे पात्र अपने प्रति प्रतिबद्ध हैं, मानव समाज के प्रति नही। वे आपसी संबंधों मे भावुक भी नही है। उनकी अपनी अभिव्यक्ति ही उनके जीवन का चरम लक्ष्य है। अतीत और भविष्य दोनों ही की चिंता छोडकर वे वर्तमान क्षणो को जीते है। लेखक इस बात को बार-बार स्पष्ट करना चाहता है कि किसीको किसीके जीवन में कोई हस्तक्षेप नही करना चाहिए। कथा-नायक व्यक्ति के अलगाव और उसके अलग-अलग इकाइयों में विभाजित होने का कट्टर समर्थक है। कतिपय आलोचकों ने उनकी व्यक्ति-स्वातंत्र्य की इस इच्छा को अति की सीमा तक बढ़ा हुआ माना है। "इस उपन्यास में व्यक्ति की स्वतंत्रता अनेकस्थलों पर उपाहासास्पद बन गई है। उनके पात्रों की छटपटाहट, जीवन का उलझाव, सकट-बोध, अकेलेपन की भावना आदि से उनके जीवन की कोई समस्या हल नही होती।"[2] वस्तुतः निर्मल वर्मा ने मानव-संबधों को नितांत अर्थहीन सिद्ध करना चाहा है। मारिया फ्रांज का मित्र है लेकिन उसका बर्लिन चला जाना उसके लिए कोई भी अंतर नही पैदा करता। रावना अपने पति से अलग हो गई है। वे अपने बच्चे नीता को

१ अंधेरें बन्द कमरे, पृष्ठ ३८४

२. डॉ० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, द्वितीय विश्व युद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १००

हर वर्ष बारी-बारी से बांट लेते है—इसमें भी उन्हें कुछ अंतर नहीं पड़ता। कथा-नायक से रायना कई बार यौन संबध स्थापित करती है और हर बार उसे भूल जाने को कहती है—यानी उस संबंध से भी कोई अंतर नहीं पड़ता। यह व्यक्ति की अंतर्मुखता की चरम सीमा है। यही कारण है कि डॉ० वार्ष्णेय इसे आत्म-केन्द्रित उपन्यास रचना का क्लैसिक उदाहरण[1] मानते हैं।

उषा प्रियवदा

प्रसिद्ध आधुनिक लेखिका उषा प्रियंवदा का दृष्टिकोण भी व्यक्तिवादी है। उन्हे व्यक्ति की स्वतंत्रता एवं निजता में विश्वास है। अपने उपन्यासों में उन्होंने इस बात को व्यक्त किया है कि परंपराओं और संस्कारों का आज के व्यक्ति के लिए कोई अर्थ नहीं रह गया है। उन्होंने यह भी माना है कि व्यक्ति का असली धर्म 'स्व' यानी उसका मन है। लेखिका के दृष्टिकोण को हम मानवतावादी व्यक्तिवाद की संज्ञा दे सकते है।

'रुकोगी नहीं राधिका' मे लेखिका ने नायिका राधिका की स्वतंत्रता की कामना का चित्रण किया है। राधिका अपने स्वतंत्र विकास के लिए परंपरागत संस्कारों को तोड़ती है। वह अपने पापा से लड़कर विदेश चली जाती है। इसका कारण पीढियों के दृष्टिकोण का अंतर नही वरन् राधिका की स्वतंत्रता की आकांक्षा है। अपने पापा से वह स्पष्ट कहती है, "जो आप चाहते है, वही हमेशा क्यों हो ? क्या मेरी इच्छा कुछ भी नही है ?" अपनी इस जिद को वह पूरा करती है और एक विदेशी पत्रकार के साथ विदेश चली जाती है। इस तरह की वैयक्तिक स्वतंत्रता उपन्यास के अन्य पात्र भी चाहते हैं। वैयक्तिक स्वतंत्रता को पाने के प्रयास में उसके जीवन में जो विसंगतियां पैदा होती हैं उनका निदान भी वह अन्त में वैयक्तिक स्वतंत्रता में ढूंढ़ती है। उसके अस्थिर जीवन को स्थिरता देने के लिए जब उसके पापा इसे दुबारा संरक्षण देना चाहते हैं तब वह उसे अस्वीकार करके अपनी एक बंधु मनीषा के पास जाने की इच्छा व्यक्त करती है। यह एक अलग प्रश्न है कि उपन्यास में चित्रित परिवेश का आधुनिक भारतीय संवेदना से कितना संबंध है किन्तु इतना अवश्य है कि उपन्यास नारी की वैयक्तिक स्वतंत्रता की मांग को ही सामने रखता है।

शिवानी

शिवानी हिन्दी के उन कथाकारों में हैं जिनके पास अत्यंत सशक्त और मन को बांधने वाली भाषा है तथा किस्सागोई का सुन्दर लहजा भी है। उनके कथा-

---

१. डॉ० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, द्वितीय विश्व युद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० १०१

प्रधान उपन्यास व्यक्ति को लेकर ही चलते हैं। व्यक्ति के जीवन के उतार-चढ़ाव उनमें साकार हुए हैं। आम तौर पर उनके उपन्यास नायिका-प्रधान होते हैं। ये ऐसी अभागी नारियों की गाथा को प्रस्तुत करते हैं जो अपनी सत्ता और अस्तित्व के लिए समाज से जूझ रही हैं। 'चौदह फेरे' सस्कारग्रस्त नारी-जीवन और संस्कारों से मुक्ति पाने की छटपटाहट की कहानी है। 'कृष्णकली', 'भैरवी', 'विष-कन्या'—ये सभी उपन्यास अपने अंदर कोई वेदना छिपाये हुए हैं।

राही मासूम रजा

हिन्दी के समकालीन उपन्यास लेखन में व्यक्ति-स्वातंत्र्य का सबसे तीव्र स्वर संभवतः राही मासूम रजा का है। आधुनिक भारत की राजनैतिक विसंगतियों से उत्पन्न कुहासे में अपने सही सांस्कृतिक मूल्यों के लिए भटकते सरल और ईमान-दार औसत भारतीय के दर्द को अपने उपन्यासों में उभारने में राही मासूम रजा अत्यंत सफल हुए हैं। धर्म, जाति, सम्प्रदाय और राजनैतिक वादों से अलग हट-कर व्यक्ति का सही मूल्यांकन करने की उन्होंने चेष्टा की है। उनके हर उपन्यास के पीछे एक विशिष्ट सांस्कृतिक दृष्टिकोण भी हुआ करता है। 'हिम्मत जौनपुरी' और 'टोपी शुक्ला' तो व्यक्ति की गाथा ही हैं। 'आधा गांव' अपनी भूमि से बंधे हुए लोगों के विश्रृंखल होने की कहानी है। लेखक मानव कृत संकीर्ण घेरों के भीतर झांककर मनुष्य के भीतर छिपे हुए प्रेम को देखने और पाठक को दिखलाने में सफल हो जाता है। मनुष्य अंततोगत्वा मनुष्य है और वह सबसे गहराई से अपने पडोसियों और जमीन से जुडा हुआ है। भाषा, धर्म, भूमि के झगड़े राज-नैतिक हथकंडे हैं, इनसे मनुष्य का कुछ भी भला न होगा—इस बात को लेखक भावनात्मक और तार्किक दोनों ही स्तर पर सिद्ध करता है।

अपने सही व्यक्तित्व को तलाशने और स्थापित करने के प्रयास में जूझने वाले व्यक्ति की मार्मिक कहानी 'टोपी शुक्ला' है। मनुष्य को मात्र मनुष्य मान-कर संकीर्णताओं से लड़ने वाले 'टोपी शुक्ला' की आत्महत्या वस्तुतः आत्महत्या नहीं है। वह या तो हत्या है या एक ज्वलंत प्रश्न। यह प्रश्न कि मनुष्य को मनुष्य का दर्जा कब प्राप्त होगा ? 'टोपी शुक्ला' की आत्महत्या व्यक्ति की समाज में 'मिसफिट' होने की ट्रेजेडी है। साम्प्रदायिक दंगों के बीच व्यक्ति के गुम हो जाने का वर्णन लेखक इस तरह करता है :

"शहर की हालत बहुत खराब हो चुकी थी। हर आदमी अकेला हो गया था। जानी-पहचानी गलियां सांप बनकर रेंग रही थीं, फन काढ़े पैरों की चाल की राह देख रही थी। पैरों की चाप की आवाज बदल गई थी। मेल्हती हुई आवाज तो आती ही नहीं थी। हर आदमी तेज-तेज चल रहा था। हर कंधे और पीठ पर आंखें उग आई थी। परछाइयां हिन्दू-मुसलमान बन गई थीं और आदमी अपनी

ही परछाइयों से डरकर भाग रहा था। टूटे हुए ख्वाबों के रेजे शीशे की किर्चियों की तरह तलवों में चुभ रहे थे। परन्तु वह दर्द से चीख नही सकता था। वह डरता था कि कहीं कोई चीख की आवाज न सुन ले—कहीं किसी को पता न चल जाय कि वह किस गली मे छिपा हुआ है।

''आदमी !

''मनुष्य !

''दोनों शब्दों का अर्थ एक ही है। इन शब्दों की आवाजें एक दूसरे से फिर भी टकरा रही थी। महेश मनुष्य था। उसे आदमियों ने मार डाला। सय्यद आदिब रजा आदमी थे। उन्हें मनुष्यों ने मार डाला।[1]''

समकालीन हिन्दी उपन्यास पर नियतिवाद की परछाई

समकालीन हिन्दी उपन्यास साहित्य में नियतिवादी दर्शन अपने परंपरागत भाग्यवादी दर्शन के रूप में अथवा वैज्ञानिक सिद्धांत के रूप में नही आया है। यह इस रूप में आया है कि आधुनिक समाज की विसंगतियों को भोगने वाले त्रस्त औसत भारतीय की कोई दूसरी गति नहीं है। वह तीव्रता से अनुभव करता है कि उसके सारे मार्ग अवरुद्ध है और विषम परिस्थिति के इस चक्रव्यूह में कैद रहना ही उसकी नियति है। परिस्थितियों के जाल से उसके जीवन का हर अंग प्रभावित है। उसका व्यक्तिगत जीवन, उसके आपसी संबंध तक इन तनावों से प्रभावित है और वह कुछ भी नहीं कर सकता। परिस्थितियों की भीषणता से अपनी विवशता का उसे अनुभव होता है और यही अनुभव सिद्ध करता है कि उसकी स्वतन्त्र इच्छा का कोई अस्तित्व नहीं है। वस्तुतः इसे नियतिवाद न कहकर नियतिवाद की परछाई कहना ही अधिक उचित है। द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर संसार आशंकाग्रस्त हैं एवं मूल्य-परंपरा-रहित जीवन से त्रस्त है। अस्तित्ववाद जैसा आधुनिक दर्शन यह स्वीकार करता है कि इस स्थिति को भोगना ही मानव की नियति है। भारत के स्वातंत्र्योत्तर समाज का मोह-भंग भारत के मनुष्य को अपने ढग से प्रभावित करता है। आधुनिक हिन्दी उपन्यास का प्रमुख स्वर मोह-भंग का स्वर है। इसमें केवल यथास्थिति का चित्रण है। स्थिति से लड़ने और निजात पाने की भावना नहीं है—न ही आशा का स्वर है। इस नियति को भोगने की अभिशप्तता ही उसमें झलकती है। कुछ रचनाओं के माध्यम से इसे समझा जा सकता है।

---

१. राही मासूम रजा, टोपी शुक्ला, पृष्ठ ७९-८१

व्यक्ति-संबंध और नियति

आज के मनुष्य की बेबसी को व्यक्तिवादी एवं सामाजिक चेतनासम्पन्न उपन्यासकार दोनों ने ही चित्रित किया है। नरेश मेहता का 'दो एकात,' मोहन राकेश का 'अंधेरे बंद कमरे,' निर्मल वर्मा का 'वे दिन,' उषा प्रियंबदा का 'रुकोगी नही राधिका' मूलतः भारतीय संबंधों पर आधारित उपन्यास है। ये सारे उपन्यास आज के युग की अनिवार्य परिणति के रूप मे सबंधों के तनाव को स्वीकृत करते है। 'दो एकात' मे आधुनिक युग में होने वाले व्यक्ति के विघटन की स्थिति का चित्रण है। 'अधेरे बद कमरे' में नीलिमा और हरवश के माध्यम से आज के स्त्री-पुरुष की साथ बधे रहने की विवशता को व्यक्त किया गया है। टूटने की सीमा तक पहुंचकर भी उनके सबंध टूटते नही हैं और उन्हें फिर एक-दूसरे को बर्दाश्त करते रहने के लिए बाध्य होना पडता है। नीलिमा जब घर वापस लौटती है तो उसके पास वापस लौटने का कोई कारण नही है और न ही तर्क। वह मधुसूदन से केवल यही कहती है—"रात को शुक्ला को काफी बुखार हो गया है। अप्रैल-मई मे उसके बेबी होने वाला है, इसलिए सुरजीत बहुत घबराया हुआ था। मैं आना नहीं चाहती थी, मगर फिर मैंने सोचा कि—सोचा नहीं, मुझे लगा कि—शायद अब यही ठीक है।"[1] संबंधों की पूर्णता को प्राप्त करने के लिए बेचैन, प्रतीक्षारत व्यक्तियों की अनिच्छा से जुड़े रहने की विवशता का चित्रण मोहन राकेश अत्यंत सशक्त ढग से करते हैं। 'लहरों के राजहंस' और 'आधे-अधूरे' नाटक भी इसी विवशता का चित्र खींचते हैं।

संबंधों का यही तनाव निर्मल वर्मा के 'वे दिन' में भी है। यह उपन्यास अकेले-पन और अजनबीपन के बोध को व्यक्त करता है। युद्धोत्तर काल की विसंगतियों से सारे पात्र अभिशप्त है और जीवन को एक अर्थहीन वस्तु समझकर या तो उसे ढो रहे हैं या उसे बेमानी समझ रहे है। उस उपन्यास की स्थितियों में अदृश्य नियति की स्वीकृति अतःसलिला की तरह विद्यमान है। पात्रों का जीवन 'मौत की मडराती छाया' और जीने के लिए बाध्य करती हुई 'पगली चाह' के बीच झूलता है। युद्ध की विभिषिका ने ऐसी अभिशप्त स्थितियों और मनः-स्थितियों को जन्म दिया कि सभीके जीवन जैसे विशाल प्रवाह से कटकर छोटे आवर्तो मे घूमने लगे। अकेला कोई रहना नही चाहता और साथ रहना संभव नहीं है, यही सबकी नियति है, विवशता है। उषा प्रियंवदा का 'रुकोगी नहीं राधिका' भी आधुनिक जीवन के संबधों की विवशता को अंकित करता है। भार-तीय परिवेश और आधुनिक विचारधारा के बीच राधिका जैसी स्त्रियों की

---

१. मोहन राकेश, अधेरे बन्द कमरे, पृष्ठ ४४३

स्थिति त्रिशंकु की तरह है।

यूरोपीय संसार का अकेलापन और भारतीय व्यक्ति के जीवन का अकेलापन अलग-अलग प्रकार के हैं। यूरोपीय व्यक्ति के जीवन का अकेलापन युद्धों की विभिषिका से उत्पन्न मृत्युबोध और पारिवारिक इकाई के करीब-करीब टूट जाने के कारण है। किन्तु भारतीय व्यक्ति का अकेलापन पारिवारिक संबंधों के बासीपन के कारण है। पूर्वी और पश्चिमी जगत की परिस्थितियां ऐसी हैं कि फिलहाल संबंधों के इस संकट को भोगने के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नही है। दोनों ही स्थितियों को हिन्दी के आधुनिक उपन्यासों मे स्थान प्राप्त हुआ है।

सामाजिक चेतना और नियति

सामाजिक चेतना से युक्त उपन्यासों की हिन्दी मे अच्छी सख्या है। हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं कि यशपाल और अमृतलाल नागर समाज के पतन के उपरांत भी आस्था का स्वर रखते हैं। फणीश्वर नाथ रेणु के आचलिक उपन्यासों में विघटित होते हुए भारतीय समाज का चित्रण है पर उनमे गजब का आशावादी स्वर है। समकालीन सामाजिक उपन्यासों में सामाजिक बुराइयों से जूझते और फिर पराजय से कुंठित होते हुए मनुष्य का चित्रण है। इन उपन्यासो मे पिछली पीढ़ी के सामाजिक उपन्यासों की तरह विस्तार है—बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि गहनता और यथार्थता पहले से अधिक है। किन्तु इन उपन्यासों के अधिकाश कथानायक परास्त हो कर वर्तमान प्रवाह मे अपने को असहाय छोड देते हैं। वे स्वीकार कर लेते हैं कि वर्तमान स्थिति के पाटों मे पिसना ही समाज की नियति है।

शिवप्रसाद सिंह का 'अलग-अलग वैतरणी,' श्रीलाल शुक्ल का 'राग दरबारी' आधुनिक हिन्दी साहित्य के महत्त्वपूर्ण सामाजिक उपन्यास हैं। दोनों में ही ग्रामों के माध्यम से आज के समाज में व्याप्त संकीर्णता, भेद-भाव, निहित स्वार्थ, और टूटन-थकन को अत्यंत कुशलता से उभारा गया है। दोनो की शैली में अंतर है, दोनों के कथा-नायक अलग हैं, कथा के स्थल अलग हैं पर दोनों का कथ्य एक दूसरे के निकट है और दोनों के नायकों के पराजय से भरे अनुभव एक-से हैं। दोनों में ही परास्त कथा-नायक गांव से घबराकर वापस चले जाते हैं और मान लेते है कि वर्तमान स्थिति में ग्रामीण समाज की, जो प्रकारांतर से भारतीय समाज भी है, नियति यही है।

'अलग अलग वैतरणी' में करैता गांव से लौटते समय विपिन मिसिर चाचा से पूछता है कि क्या पहले भी लोग इसी तरह भागते थे, तब मिसिर चाचा गांव के दुर्भाग्य को इन शब्दों में व्यक्त करते है—"हां भई जाते थे। अक्सर वे जिन्हें यहां काम नहीं मिलता था, या फिर वे जो जमीनदारों के जोर-जुलुम से घबरा-

कर भाग जाते थे। पर अब तो एक नई तरह का अनत गौन हो रहा है। यहां रहते वे हैं, जो यहां रहना नही चाहते, पर कही जा नही पाते। यहा से जाते अब वे है, जो यहां रहना चाहते हैं, पर रह नही पाते :"[1]

श्रीलाल शुक्ल के व्यंग्य शैली में लिखे उपन्यास 'राग दरबारी' का नायक रंगनाथ भी 'क्राइसिस ऑफ फेथ' से घबराकर गांव से भागता है। वह अनुभव करता है कि भागकर कल्पना की दुनिया मे अपने-आपको खो देने के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है। अपनी आत्मा के अंदर 'पलायन संगीत' वह इस तरह सुनता है :

"कीचड़ की चापलूसी मत करो। इस मुगालते मे न रहो कि कीचड़ से कमल पैदा होता है। कीचड़ में कीचड़ ही पनपता है। वह फैलता है, वही उछलता है।

"कीचड से बचो। यह जगह छोडो। यहां से पलायन करो।

"अगर तुम्हारी किस्मत ही फूटी हो, और तुम्हें यहां रहना पड़े तो अलग से अपनी एक हवाई दुनिया बना लो। उस दुनिया में रहो जिसमे बुद्धिजीवी आंख मूद कर पड़े हैं।

"यह न कर सको तो अतीत में जाकर छिप जाओ। कणाद, पतंजलि, गौतम में, अजंता, एलोरा, एलिफेण्टा में, कोणार्क और खजुराहो में, शालभंजिका, सुर-सुन्दरी, अलस कन्या के स्तनों में, जप-तप मंत्र में, संत-समागम, ज्योतिष, सामुद्रिक में जहां भी जगह मिले, जाकर छिप रहो।

"भागो, भागो, भागो। यथार्थ तुम्हारा पीछाकर रहा है।"[2]

व्यंग्य की शैली में लिखा गया वह पलायन गीत भारतीय समाज का एक कटु यथार्थ है जिसे समकालीन साहित्यकार वाणी दे रहा है। ये उपन्यासकार परिस्थिति से उबरने के लिए किसी तरह की झूठी आशा नहीं गढ़ते। वर्तमान परिस्थितियों की गंभीरता को देखते हुए किसी आश्वस्त करने वाले आदर्श को भी ये उपन्यासकार संबल के रूप में नहीं रखते। अवसाद और थकान का एकत्री-करण इनमें विद्यमान है। परिस्थितियों की अजेयता इनमें चित्रित की गई है। ये उपन्यासकार स्पष्ट रूप से तो नहीं पर अपरोक्ष रूप से काल की शक्ति को स्वीकार कर लेते हैं। राही मासूम रजा 'टोपी शुक्ला' की भूमिका मे लिखते हैं :

"परन्तु 'आधा गांव' ही की तरह यह किसी एक आदमी या कई आदमियों की कहानी नहीं है। यह कहानी भी समय की है। इस कहानी का हीरो भी समय है। समय के सिवाय कोई इस लायक नहीं होता कि उसे किसी कहानी का हीरो बनाया जाए।"

• • •

१. शिवप्रसाद सिंह, अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ ६७५
२. श्रीलाल शुक्ल, राग दरबारी, पृष्ठ ४२१-४२२

परिशिष्ट-१

वर्माजी का जीवन और कर्म-संकुल संसार

"यह एक विचित्र विरोधाभास की स्थिति है कि हम भगवती बाबू को मूलतः उपन्यासकार माने या कवि या कहानीकार। यह वर्माजी की सफलता है कि उन्होंने लोगों को भ्रम में रखा है।"[1] लखनऊ में भगवती बाबू की षष्टि-पूर्ति के अवसर पर स्थानीय सूचना केन्द्र मे उनके स्वागत के आयोजन के अवसर पर ये शब्द श्री ठाकुरप्रसाद सिंह ने कहे थे। वस्तुतः बहुमुखी प्रतिभा के धनी भगवती बाबू का व्यक्तित्व कुछ ऐसा आकर्षक है कि जो उनके परिचित है उन्हे वे अत्यत मधुर मालूम होते हैं। प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ और हिन्दी के पुराने पत्रकार पडित कमलापति त्रिपाठी के कथनानुसार, "मुझे तो उनकी सभी बाते अच्छी लगती है—सबसे ज्यादा उनका पान खाना, उनकी अचकन, चौड़ी मोहरी का पैजामा, उनकी चाल (मानो लखनऊ नाप लेंगे), उनके लिखने की शैली।"[2] भगवती बाबू के स्वभाव की मस्ती और उनके फक्कडपन की चर्चा अमृतलाल नागर ने कई स्थलों पर की है। साथ ही उन्होंने भगवती बाबू की प्रखर प्रतिमा और तेजस्वी व्यक्तित्व से प्रभावित होकर लिखा है, "भगवती बाबू यदि कवि न हुए होते तो आज वे आई० सी० एस० अफसर भी हो सकते थे और राजनीतिक नेता— मत्री भी। आरम्भ में यदि अनुकूल स्थितिया मिल जातीं तो शायद वे सफल उद्योगपति भी हो सकते थे।"

भगवतीचरण वर्मा के व्यक्तित्व पर विचार करते समय उनकी अपने ही विषय में व्यक्त की गई राय महत्त्वपूर्ण है। अपने संबंध में एक स्थान पर उन्होंने लिखा है, "और अपनी आत्मा का एक रूप जो मुझे बड़ा प्यारा लगता है वह है

१. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, १५ दिसम्बर, १९६३, पृष्ठ ४५
२. वही

आत्म-संतुष्टि का। जो कुछ मुझे मिला था या मिल रहा है उससे मुझे संतोष है। कहीं भी कुंठा नही, घूटन नही, किसीसे मुझे ईर्षा नही, किसीसे अपने को हीन समझने की प्रवृत्ति नही।"[१] भगवतीचरण वर्मा स्वाभिमानी व्यक्ति हैं तथा किसी सीमा तक उन्हें अनासक्त भी कहा जा सकता है। वे अपनी प्रशसा से लापरवाह तथा अपनी आलोचना से बेफिकर रहने वाले व्यक्ति है। स्पष्टवादिता उनके स्वभाव की विशेषता है। अपने स्वभाव की इस विशेषता के कारण उन्होने कभी भी अपनी प्रशंसा एवं आलोचना की परवाह नही की। "यह तो सत्य नही है कि प्रशंसा मुझे बुरी लगती है लेकिन प्रशंसा की भूख मुझमे नही है और निंदा से मुझे चोट अवश्य लगती है लेकिन निंदा का भय मुझमे नही है।"[२]

भगवती बाबू के अंदर की जीवनी शक्ति और मस्ती ने उन्हें हर स्थिति का सामना करने की एक ऐसी शक्ति प्रदान की है कि वे हमेशा अजेय बने रहते हैं। उनकी इसी शक्ति ने जीवन की विषमतम स्थितियों मे भी उनके साहस को नष्ट नही होने दिया। उनकी इस विशेषता की ओर संकेत करते हुए अमृतलाल नागर ने लिखा है, "जीवन की बड़ी-बड़ी पराजयों के कालकूट को हिन्दी का यह भोला भंडारी और मस्त कलाकार न जाने कितनी बार हंस-हंसकर पचा चुका है।" उनका जीवन अनेक बार विषम घड़ियों से होकर गुजरा है फिर भी उन्होंने अपने को टूटने नही दिया। 'हमारी उलझन' में उन्होंने लिखा है, "मुझपर मुसीबतें पड़ी ऐसी मुसीबतें पड़ी, जिनकी कल्पना करने से ही हृदय कांप उठता था। लेकिन जब वे मुसीबते सिर पर आई, तब मैंने यह अनुभव किया कि वे मुसीबतें कुछ भी नही है। नित्य ही घटित होने वाली साधारण घटनाओं की भांति वे मुसीबतें आई और चली गई। लोगों का कहना है कि मुसीबतों के समय खुदा याद आता है, पर मैं यकीन दिलाता हूं कि उन मुसीबतों के समय भी मैंने ईश्वर के विषय मे कुछ नहीं सोचा।" उनका यह कथन उनकी अपराजेय जीवनी शक्ति का प्रमाण है।

भगवती बाबू का जीवन संघर्षों की कहानी है। विषम परिस्थितियों में भी मस्त रहने वाले इस कलाकार का जन्म एक सम्पन्न कायस्थ परिवार में हुआ था। उनके पितामह दो-तीन गांवों के जमींदार थे। उनकी दो पत्नियां थीं। जब उनकी संतानों के बीच उनकी जायदाद का बंटवारा हुआ तो उनके हाथ वैभव की अंतिम चमक ही रह पाई। परिणामतः अजीविका के लिए उन्हें कुछ करने के लिए विवश होना पड़ा। भगवती बाबू के पिता श्री देवीचरण श्रीवास्तव वकालत पास करने के बाद आजीविका की खोज में उन्नाव जिले की शफीपुर तहसील मे जाकर बस गए। वहां ३० अगस्त, १९०३ को भगवती बाबू का जन्म

१. सारिका, जनवरी १९६३, पृ० ९

२. वही

हुआ। कुछ दिनों के बाद देवीचरण सपरिवार कानपुर चले आए।

कानपुर के पटकापुर मोहल्ले मे कान्यकुब्ज ब्राह्मणों के बीच भगवती बाबू का बचपन बीतने लगा। मोहल्ले के अखाड़ों मे भगवती बाबू की कनौजिया हेकड़ी तथा हुड़दंग-पसंद प्रवृत्ति की संतुष्टि होती रही। वे खेल-कूद में प्रवीण थे और उनका गला भी मीठा था। आस-पास के लोग उनको गाते सुनकर एकत्र हो जाते थे। किन्तु सुख के ये दिन अधिक दिनों तक नहीं रह सके। जिस समय भगवती बाबू की अवस्था मात्र पांच वर्ष की थी तभी उनके परिवार पर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा : यह सन् १९०८ की बात है। कानपुर में प्लेग का भयंकर प्रकोप था। उस महामारी में भगवती बाबू के पिता का स्वर्गवास हो गया। भगवती बाबू के सिवा उनके परिवार में एक तीन वर्षीय भाई, दूध पीती बहन और विधवा मां शेष बचे। पिता के देहांत के पश्चात् भगवती बाबू अपने परिवार के साथ अपने ताऊ के यहां रहने लगे। उनके ताऊ ने भगवती बाबू को पिता का गांव बेचकर उससे मिलने वाले रुपयों को बैंक में जमा कर दिया। इन रुपयों के बदले जो ब्याज मिलता था वही उनके परिवार के भरण-पोषण का एकमात्र साधन था। यह रकम अत्यंत कम—केवल २२ रुपए प्रतिमाह थी किन्तु इसीसे परिवार को अपना कार्य चलाना पड़ता। इस तरह परिस्थिति के कुचक्र ने भौंरा-गिल्ली खेलने की ही उम्र मे शिशु भगवतीचरण के कोमल हाथो मे अनाज-गल्ला, मिर्च-मसाला का थैला पकडा दिया।

स्कूल की पढ़ाई शुरू हुई तो वर्माजी ने अपने प्रतिभाशाली मस्तिष्क का परिचय दिया। प्रारम्भ मे वे बड़े तेज रहे। यहां तक कि चौथे दर्जे में उन्हे डबल प्रमोशन मिला। किन्तु वे एकाग्र होकर पढ न पाते थे। अपने ताऊजी की भाग के प्रबंध के अतिरिक्त उनको और भी बहुत-से घरेलू कार्य करने पडते थे। आर्थिक संकट बराबर बना रहता। कापी-किताब खरीदने को पैसे न मिलते। मुहल्ले मे होने वाले आर्थिक अथवा सांस्कृतिक उत्सवों मे भी उनको जाना पड़ता था। एक सभ्रांत परिवार के बालक और आदरणीय व्यक्ति के भतीजे जो थे। न जाने इन सब कार्यों में व्यस्त रहने के कारण, पाठ याद न करने से अथवा शिक्षक की क्रूर नीति के कारण एक दिन छोटी-सी गलती के कारण उनकी कसकर पिटाई हुई और उन्हें एक दर्जे नीचे उतार दिया गया। इस अपमान से उनके किशोर हृदय का अह कुछ सम्भला और वे पांचवीं तथा छठी कक्षा में क्रमश: प्रथम और द्वितीय आए। सातवी कक्षा में वे उत्तीर्ण तो हुए किन्तु हिन्दी में फेल रहे। इसके बाद प्रथम या द्वितीय स्थान प्राप्त करने की बात तो दूर रही, पास होना भी उनके लिए कठिन हो गया। उनकी गरीबी ने जहा एक ओर उन्हे पाठ्यक्रम की पुस्तकों से बंचित रखा वहीं अतिशय व्यस्तता ने उन्हें व्यक्तिगत अध्ययन करने का भी अवसर नहीं दिया। किन्तु इतना होने पर भी वे नियमित रूप से स्कूल

जाया करते थे। उनके पास पुस्तकें न रहती। साथी उनका उपहास करते, कक्षा-अध्यापक उन्हे डांटते किन्तु वे भाग्य का विधान समझकर चुप रह जाते। यद्यपि उनके पैरों में जूते न होते परन्तु अपने को वे हीन न समझते। उनका स्वाभिमान इतना प्रबल था कि वे अपने को किसीकी दया का पात्र नहीं बनने देना चाहते थे। अकारण मिलने वाली किसी भी आर्थिक सहायता को वे ठुकरा देते थे।

सातवी कक्षा मे हिन्दी में फेल होने पर उनके अध्यापक श्री जगमोहन 'विकसित' ने उन्हें बुलाकर कहा, ''यह कितनी लज्जा की बात है कि तुम हिन्दी में ही फैल हुए।'' उन्होंने भगवती बाबू को कोर्स के अतिरिक्त बाहरी पुस्तकें भी पढ़ने की सलाह दी। उन्हें मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती' पढ़ने का आदेश दिया। घर ले जाकर भगवती बाबू ने 'भारत-भारती' का सस्वर पाठ प्रारम्भ किया। 'भारत-भारती' को पढ़ते-पढते अगस्त के बरसाती मौसम में वर्माजी का कवि-हृदय अपनी ओर से कुछ गाने के लिए आकुल हो उठा। उन्होंने अपने-आप कुछ गुनगुनाना प्रारम्भ किया। कुछ देर के बाद उनको होश आया कि वे स्वयं भी कवि हो गए है। दूसरे दिन अपनी तुक-बंदी उन्होंने 'विकसित' जी को दिखलाई और विकसित जी ने उन्हें लघु-गुरु मात्राओं का ज्ञान कराया। यहीं उनके साहित्य-जीवन का प्रारम्भ हुआ।

इस घटना के बाद भगवती बाबू ने पढ़ाई-लिखाई को उठाकर ताक पर रख दिया। उन्हें कविता का चस्का लग गया। इसके साथ ही साथ उनकी मजबूरियां भी उन्हें विशिष्ट दिशा की ओर प्रेरित कर रही थी। इस समय तक भगवती बाबू के छोटे भाई भी पढ़ने लगे थे अतः पुस्तकों का खरीदना अब और कठिन हो चुका था। खर्च बढ़ गया था किन्तु उनकी आय अब भी २२ रुपये ही थी। एक दिन उनके मन में आया कि कविता छपवाई जाए। गणेश शंकर विद्यार्थी का 'प्रताप' उस समय अत्यंत लोकप्रिय था। भगवती बाबू उन्हीके कार्यालय जा पहुंचे। उन दिनों प्रताप के सम्पादक श्री रमाशंकर अवस्थी थे। भगवती बाबू ने साधारण बातचीत के पश्चात् उनको अपनी कविता दे दी और अत्यंत उत्सुकता के साथ उसके प्रकाशित होने की प्रतीक्षा करने लगे। दो-तीन महीने के बाद कुछ परिवर्तन के साथ वह कविता छपी। दो महीने के बाद वे फिर एक कविता लेकर 'प्रताप' कार्यालय जा पहुंचे। इस बार स्वयं विद्यार्थी जी ने कविता देखकर 'अच्छी है' का प्रमाण-पत्र तथा 'छप जाएगी' का आश्वासन दिया। यह कविता बिना किसी परिवर्तन के ही छपी और उसके बाद वर्माजी की कविताएं लगातार छपने लगीं। नवी कक्षा तक आते-आते भगवती बाबू उस समय की अत्यंत लोकप्रिय साहित्यिक गोष्ठी मे भी जमने लगे। कानपुरकी उस गोष्ठी में विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', बालकृष्ण 'नवीन', रमाशंकर अवस्थी, चंद्रिका प्रसाद जैसे लोग बैठा करते थे। इस समय भगवती बाबू की उम्र पंद्रह वर्ष की थी। कविता का चस्का और गोष्ठी

का चक्कर उनकी पढाई के लिए बाधक थे अतः परीक्षा के अत में जो परिणाम हुआ वह स्वाभाविक ही कहा जा सकता है। बड़ी शान के साथ वे हाई स्कूल की परीक्षा में फेल हो गए थे। किन्तु इससे वे निराश नही हुए। उन्होंने फिर से अध्ययन प्रारम्भ किया और १९२१ में किसी प्रकार ले-देकर तीसरी श्रेणी मे वे पास हो गए। लोगों ने कहा कि अब कुछ अहलमदी, पेशकारी आदि मे मन लगाओ किन्तु उनकी इच्छा आगे पढ़ने की थी। नाजुक आर्थिक स्थिति होते हुए भी मां की ममता ने उन्हें आगे पढने की अनुमति दे दी।

इंटर मे वे फिर फेल हुए। इसी वर्ष (१९२३) मे उनका विवाह हुआ। इस साल फेल होने का कारण था कानपुर में होने वाला हिन्दी सम्मेलन का अधिवेशन। कौशिक जी ही अधिवेशन के सर्वेसर्वा थे, अतः भगवती बाबू भी परीक्षा से अधिक ध्यान उसी ओर देते थे। सन् १९२४ में इंटर पास करके वे इलाहाबाद चले आए। पढाई में तो जी लगता नहीं था किन्तु वे इसलिए पढ रहे थे कि लोग नौकरी करने के लिए न कहें। विश्वविद्यालय मे पहले तीन घटे मे जो विषय पढाए जाते थे उसीमें उन्होने नाम लिखा लिया। सन् १९२६ मे वे बी० ए० पास हुए, एम० ए० के लिए उन्होंने हिन्दी विषय को चुना। प्रथम वर्ष का परीक्षा-फल देख-कर उन्हें खतरे की गंध आई। इस वर्ष उन्हें प्रथम श्रेणी के अंक प्राप्त हुए थे। उन्हें डर हुआ कि कही ऐसा न हो कि एम० ए० द्वितीय वर्ष में भी वे प्रथम श्रेणी मे पास हो जाए। ऐसा होने से उन्हें प्रोफेसरी करके अपनी आर्थिक स्थिति सम्हा-लनी पड़ती। चूंकि भगवती बाबू नौकरी नही करना चाहते थे अतः एम० ए० न करके उन्होंने वकालत पास करने का निश्चय किया। १९२८ मे वे वकील बन गए।

इसी समय उनका झुकाव पद्य से गद्य की ओर हुआ और १९२८ मे उन्होंने अपना पहला उपन्यास 'पतन' लिखा। संघर्षमय जीवन के पच्चीस वर्ष बिताकर वे पहले की अपेक्षा अधिक गंभीर हो गए थे अतः कल्पना के साथ ही साथ उनके विचारों में भी पंख लगने लगे थे। इलाहाबाद से वे पुनः कानपुर लौट आए और यहीं रहकर उन्होंने वकालत प्रारम्भ की। वकालत तो उनसे क्या होती ? मुकदमे की तारीखें भूलकर वे साहित्य साधना में लगे रहते। किन्तु नौकरी न करने के लिए वकालत एक अच्छा बहाना अवश्य थी। १९३० में वे कानपुर छोड़कर हमीरपुर चले गए। वहीं उन्होंने 'चित्रलेखा' का प्रारम्भ किया। १९३१ में भदरी रियासत के राजा के निमंत्रण पर वे वकालत करने प्रतापगढ़ आ गए। राजा साहब ने वायदा किया था कि अपने मुकदमे वे उन्हीको देगे। वस्तुतः राजा साहब भदरी उनके प्रति श्रद्धालु थे तथा किसी भी बहाने उन्हें सहायता करना चाहते थे। भगवती बाबू की प्रकाशन संस्था की योजना को भी राजा साहब ने स्वीकार कर लिया किन्तु रियासती कारिन्दों की कृपा से यह योजना ठप्प हो गई। वर्माजी के

स्वाभिमानी हृदय को यह स्वीकार न हुआ कि वे बिना काम किए हुए राजा साहब के आश्रय में रहे। वे पुनः इलाहाबाद चले आए। इसी समय नियति ने वर्माजी पर फिर एक क्रूर प्रहार किया। १९३३ में उनकी पत्नी चल बसी। आर्थिक संकट के उपरांत भी प्रकाशन की योजना को उन्होंने बढ़ाया। १९३४ मे उनका दूसरा विवाह हुआ। कविताओं के साथ-साथ कहानी लिखना भी चलता रहा। १९३५ में वे हिन्दी साहित्य सम्मेलन मे साहित्य मंत्री निर्वाचित हुए। इस के बाद ही कलकत्ता फिल्म कारपोरेशन ने उन्हें कलकत्ता आमंत्रित किया। वर्मा जी वहां अधिक दिनो तक न रह सके और प्रयाग लौटकर फिर अपनी प्रकाशन-योजना में उलझ गए।

१९३९ मे वे त्रिपुरी कांग्रेस अधिवेशन में सम्मिलित होने गए थे पर कुछ ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न हो गईं कि वहां से वे कलकत्ता चले गए। उन दिनों कलकत्ते से 'विचार' नामक साप्ताहिक पत्र निकल रहा था। वर्माजी का सहयोग पाकर यह पत्र चमक गया किन्तु वर्माजी के भाग्य में एक स्थान पर रहना नहीं वदा था। वे वहां भी अधिक दिनों तक नही रह सके १९४० मे हिन्दी साहित्य सम्मेलन के काशी अधिवेशन मे वे तरुण साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष बनाए गए। उसी वर्ष फिल्म निर्देशक केदार शर्मा ने 'चित्रलेखा' उपन्यास पर फिल्म बनाना प्रारम्भ किया। १९४२ मे बाम्बे टाकीज ने उन्हें सीनेरियो लेखक की हैसियत से आमंत्रित किया। इस तरह वर्माजी ने बम्बई के फिल्म-जगत में प्रवेश किया। वहां उन्होंने अपनी मनमानी शर्त पर काम करना स्वीकार कर लिया।

१९४२ से लेकर १९४७ तक वे बम्बई की फिल्मी दुनिया में रहे। इसी बीच उन्होने अपना महत्त्वपूर्ण उपन्यास 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' लिखा। भारत स्वतंत्र हो चुका था और वर्माजी का मन भी फिल्मी दुनिया के खोखलेपन से ऊबने लगा था। इसी समय लखनऊ से प्रकाशित होने वाले 'दैनिक नवजीवन' ने उन्हें प्रधान सम्पादक के पद पर बुलाया। वे लखनऊ चले गए किन्तु शीघ्र ही वहां की राज-नीति से ऊबकर उन्होने नवम्बर, १९४८ मे प्रधान सम्पादकीय छोड़ दी। १९४९ मे 'आखिरी दांव' उपन्यास समाप्त कर वे उत्तर प्रदेश में जमीदारी उन्मूलन के प्रचार-कार्य मे लग गए। १९५० में वे आकाशवाणी में हिन्दी सलाहकार के रूप में नियुक्त किए गए। सुगम-संगीत तथा साहित्यिक कार्यक्रमों के निर्देशक के पद पर भी कुछ दिनों उन्होने कार्य किया। रेडियो की इस नौकरी के सिलसिले में वे कुछ वर्ष दिल्ली मे रहे। किन्तु भगवतीचरण वर्मा जैसे स्वतत्र प्रवृत्ति के व्यक्ति के लिए नौकरी करना असंभव था। १९५७ में उन्होंने रेडियो की नौकरी छोड़ दी और दिल्ली से लखनऊ वापस चले आए। नौकरी छोड़ने के विषय में उन्होंने स्वयं लिखा है—"इस साहस का एक कारण और था, मेरे पिछले उपन्यासों का उस समय तक काफी प्रचार हो चुका था और मुझे इतनी रायल्टी मिलने लगी थी कि

मैं भूखों न मरने पाऊं।"[1] तब से भगवतीचरण वर्मा स्वतंत्र रूप से साहित्य-सृजन में रत हैं। १९५७ से वे लगातार उपन्यास लिख रहे हैं और आज भी उनकी लेखनी कार्य कर रही है। नौकरी छोड़कर साहित्य-सृजन में रत हो जाने के विषय में अपने पत्र में उन्होंने लिखा, "नौकरियां मैंने की, लेकिन मेरा ऐसा मत रहा है कि जो काम भी किया जाए वह ईमानदारी के साथ किया जाए। और प्रवृत्ति मुझे साहित्य की ही मिली थी इसलिए मैंने यही अनुभव किया कि नौकरी करते समय मुझे कहीं बेईमान बनना पड़ेगा-या तो जिसकी नौकरी करता हूं उसके प्रति या फिर अपने अंदर वाले साहित्यकार के प्रति।" आज भी भगवती बाबू लेखन रत हैं। अपने नवीनतम उपन्यास 'जोंकें' लिखने योजना वे बना रहे है। वस्तुतः वे जन्मजात साहित्यकार हैं। यद्यपि वे स्वयं कहते हैं कि वे अपनी आजीविका के लिए लिखते हैं किन्तु वे यह भी मानते है कि वे अपनी अत.प्रवृत्तियों से परि-चालित होकर लिखते हैं—पहले से योजना बनाकर नहीं। उन्हीके शब्दों में, "लिखने की प्रवृत्ति मिली है और यह प्रवृत्ति ही मुझे लिखने को प्रेरित करती है।"[2]

---

१. 'एक स्वर और' (भगवतीचरण वर्मा) से उद्धृत—चित्रलेखा से सबहिं नचावत राम गुसाईं तक— कुसुम वार्ष्णेय

२. 'भगवतीचरण वर्मा', सारिका, जनवरी, १९६३, पृष्ठ १०

परिशिष्ट-२

भगवतीचरण वर्मा के पत्र

पत्र नं० १

फोन ८१४८२
चित्रलेखा, महानगर
लखनऊ ६............

प्रिय रमाकान्त जी,

आपका दिनांक १२-११-७३ का पत्र मिला।

पत्र न लिख पाने की कमजोरी मेरी बहुत पुरानी है और अब तो वह बहुत अधिक बढ़ गई है। इस कमजोरी के कारण मेरा स्वयं कितना अहित हो चुका है आज तक—यह मैं ही जानता हूं। फिर भी मैं अपने से ही विवश हूं।

जहां तक व्यक्तिवाद और नियतिवाद का प्रश्न है—यह दोनों ही मुझे चेतना के रूप में नहीं प्राप्त हुए हैं, शायद यह प्रवृत्तियां मुझमें जन्मजात हैं। मेरा व्यक्तिवाद जीवन में मेरे कटु अनुभवों की उपज है। अपने अंदर वाले व्यक्ति को दबाकर अथवा फुसलाकर मैं कुछ प्राप्त कर सकता हूं ? मैं तो बड़ा विवश हूं—अपनी प्रवृत्तियों और बहिर् परिस्थितियों से बंधा हुआ। जो नियंता है वही एक सक्षम संज्ञा है। मेरा व्यक्तिवाद विवशता की इसी अनुभूति की उपज है। मेरे अंदर वाला अहं ही मेरे लिए सत्य और नित्य है—प्राकृतिक रूप से इस अहं मे सद् और कल्याण की प्रवृत्तियां है। विशेष फल एवं परिणाम प्राप्त करने के लिए अपने इस अहं को दबाने से कोई लाभ नहीं क्योंकि ऐसी हालत में अपने अंदर वाली सद् और कल्याण की प्रवृत्तियां भी दब जायेंगी। और यहीं मेरा व्यक्तिवाद मेरे नियतिवाद का पूरक अंग बन जाता है।

'सबहिं नचावत राम गुसाईं' एक सामाजिक व्यंग्य है, लेकिन जैसा आपको

अनुभव हुआ होगा इस व्यग्य में आक्रोश नहीं है, कटुता नही है। कटुता और आक्रोश हो तो किसपर हो ? हरेक व्यक्ति विवश है उसके लिए जो वह कर रहा है। क्या दूसरों की बुराइयो पर प्रहार करने से बुराइयां नष्ट हो जाएंगी ? बुराइयां तभी नष्ट हो सकती है जब हमारी चेतना इतनी विकसित हो जाए कि हम बुराइयो का रूप सही ढंग से देख सके। प्रहार के अर्थ होते है आक्रोश और आक्रोश में मानसिक संतुलन विचलित हो जाता है। मानसिक संतुलन कायम रहे और हम विकृतियों का सही रूप देखें तथा हममें उन विकृतियों के प्रति वितृष्णा हो जाए —तो अधिक अच्छा हो।

साहित्य का क्या काम है, क्या उद्देश्य है, इसपर मेरे अपने निजी विचार हैं। मै सृजनात्मक साहित्य को शास्त्रों के अंतर्गत नहीं मानता, सृजनात्मक साहित्य कला है और कला भावना की चीज है न कि बुद्धि की। यह जो प्रहार करता या उपदेश देता है वह समाज शास्त्र अथवा धर्मशास्त्र का अंग भले ही हो, कला के अंतर्गत तो नही आता। सौन्दर्य का सृजन कला का मुख्य उद्देश्य है, हंसाते-रुलाते यदि भावात्मक रूप से मैं पाठक पर बुराइयों के प्रति वितृष्णा तथा सद् के प्रति अनुराग जगा सकू तो मै अपने को सफल समझूंगा। मेरे उपन्यासों को इसी दृष्टि-कोण से देखा जाए तब उनका सौन्दर्य आपको दिख सकेगा, शास्त्रीय विवेचन से तो सही-सही मूल्यांकन नही किया जा सकता उनका। बहुत संक्षेप में मैने अपनी बात कह दी है—शायद वह अधूरी लगे आपको। कभी मिलकर बातें हों तो मै अपने को अधिक स्पष्ट कर सकूगा।

आशा है आप प्रसन्न होंगे।

आपका
भगवतीचरण वर्मा

पत्र नं० २

फोन ८१४८२
चित्रलेखा, महानगर
लखनऊ ६, १-६-७४

प्रिय रमाकान्त जी,

आपका पत्र मुझे कल मिला।

आपके तीन प्रश्नों के उत्तर इस प्रकार हैं :

१—'सामर्थ्य और सीमा' उपन्यास अवश्य है, लेकिन वह काव्य भी है। मेरे दो उपन्यास कवित्वमय शैली मे हैं—एक 'चित्रलेखा' और दूसरा 'सामर्थ्य और सीमा'। जहां 'चित्रलेखा' प्रेम और रोमांच का कवित्व है वहां 'सामर्थ्य और सीमा' मृत्यु और विनाश का कवित्व है। कविता मे कुछ कल्पनाए की जाती हैं जो

यथार्थवाद से मेल नहीं खाती। रोहिणी नदी बदला लेगी—यह नाहर सिंह की कवित्वमय कल्पना है—जो दूसरे ढंग से सिद्ध भी हो जाती है जब पहाड़ तोड़कर रोहिणी विनाश और प्रलय का रूप धारण कर लेती है। कविता की कल्पना किस अंश तक मानव के हृदय और उसकी भावना को छू सकती है—यही देखा जाना चाहिए, उस कल्पना को तर्क की कसौटी पर न कसा जाना चाहिए। जहां तक चेतन और अचेतन का प्रश्न है मनुष्य की सीमित बुद्धि चेतन, अचेतन अथवा अव-चेतन के जो रूप निर्धारित करती है, उनके अलावा और भी रूप हो सकते हैं, इसी लिए उन चीजों पर तर्क अपेक्षित नहीं है, उनकी कल्पना ही की जा सकती है।

२—'सबल निर्बल पर शासन करता है'—यह मैंने समस्या के रूप में नहीं लिखा है यह तो वास्तविकता की अभिव्यक्ति है। साथ ही कानून भी सबल ही बनाता है—यह भी वास्तविकता की अभिव्यक्ति है। मैंने अपने कथन को किसी समस्या के रूप में प्रस्तुत नहीं किया है और इसलिए 'निदान' भी मैं नहीं प्रस्तुत करता हूं। निर्बल की रक्षा की जिम्मेदारी भी सबल पर ही है—इस सबल की चेतना पर, इस सबल की दया, करुणा आदि गुणों पर। यह निर्बल कभी-कभी संगठित होकर और एक सूत्र में बंधकर समूह बन जाता है, और समूह सबल हो जाता है। मैंने तो केवल वह लिखा है जो है, क्या होना चाहिए, इसका उत्तर देना और निदान पाना साहित्य का क्षेत्र नहीं है, क्योंकि साहित्य तो भावनात्मक है, यह क्षेत्र शास्त्रों का है—राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र अथवा धर्मशास्त्र।

३—मनुष्य परिस्थितियों से विवश है, मनुष्य अपनी जन्मजात प्रवृत्तियों से विवश है—इन दो विवशताओं से बंधा हुआ मनुष्य 'कर्ता' भले ही दिखे, वह वास्तव में कर्ता नहीं है। मेरे नियतिवाद की यह स्थापना है। दण्ड-व्यवस्था भी परिस्थिति का ही अंग है। मनुष्य में कभी-कभी एक-दूसरे की विरोधी दो प्रवृत्तियां काम करती हैं, एक वह जो समाज के अनुकूल है, एक जो समाज के प्रतिकूल है। यह दोनों प्रवृतियां मनुष्य में स्वाभाविक रूप से हैं—कौन अच्छी है कौन बुरी है, इसका निर्णय सामाजिक संदर्भ में ही लिया जा सकता है। और समाज मनुष्य की परिस्थिति का अनिवार्य भाग है। जिसे दण्ड-व्यवस्था कहा जाता है, वह भी तो सामाजिक होने के कारण परिस्थिति का भाग है। इस दण्ड-व्यवस्था के भय से भी मनुष्य को दो विरोधी प्रवृत्तियों में एक को चुनने का अवसर मिलता है।

मैंने आपके प्रश्नों का उत्तर दे दिया है। यह उत्तर संक्षेप में ही है, लेकिन पूर्ण है।

आशा है आप प्रसन्न होंगे।

समस्त शुभ कामनाओं के साथ,

आपका

भगवतीचरण वर्मा

पत्र नं० ३

फोन ८१४८२
चित्रलेखा, महानगर
लखनऊ-६ २१-८-७४

प्रिय रमाकान्त,

एक महीने के विलंब के बाद तुम्हारे पत्र का उत्तर दे रहा हूं—अपनी आदतों से मै विवश हूं।

१—मेरा समस्त जीवन ही नियतिवाद के हिलकोरों पर झूलता है यद्यपि (Consciously) नियतिवाद का दर्शन धीरे-धीरे ही विकसित हुआ है। मेरी एक छोटी-सी कविता है, जिसकी कुछ पंक्तियों के आधार पर 'सामर्थ्य और सीमा' उपन्यास आधारित है। वैसे 'चित्रलेखा' मे नियतिवाद के दर्शन के बीज मिलते हैं—उस उपन्यास के उपसंहार मे जब रत्नाकर कहते हैं—हम वह करते हैं जो हमें करना पडता है।

२—नौकरियां मैंने की, लेकिन मेरा ऐसा मत रहा है कि जो काम भी किया जाए वह ईमानदारीं के साथ किया जाए। और प्रवृत्ति मुझे साहित्य की ही मिली थी इसलिए मैंने यही अनुभव किया कि नौकरी करते समय मुझे कही बेईमान बनना पड़ेगा, या तो जिसकी नौकरी करता हूं उसके प्रति या फिरअपने अंदर वाले साहित्यकार के प्रति। लेकिन आजीविका का प्रश्न भी तो मनुष्य के जीवन के साथ अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ है। वैसे कभी-कभी मुझे यह भी अनुभव हुआ कि नौकरी करने से अहं कुंठित हो जाता है—और साहित्यकार के पास केवल एक निधि होती है—उसका अह।

३—आधुनिक लेखन को कई भागों में विभक्त किया जाता है। अधिकांश तो फैशन के लिए है जहां सतही बातों को उभारा जाता है। यह मृत्यु-बोध, संत्रास, अजनवीपन जो आधुनिक साहित्य में दिखता है केवल सतही अभिव्यंजना है। वैसे जीवन में यह सब कुछ है, लेकिन इनमे ग्रस्त व्यक्ति लेखक नहीं बनता, वह पागल या अकर्मण्य बन जाता है। यह जो लघु मानव की कल्पना की गई है यह उसी कुंठा और संत्रास की प्रतिक्रिया-भर है जो समय-समय पर हरेक मनुष्य के सामने आते हैं, लेकिन कुछेक क्षणों के लिए ही, जिनका कोई स्थायी महत्त्व नहीं होता। यह नियतिवाद भी तो इसी सबका एक अंग माना जा सकता है, लेकिन यह नियतिवाद फैशन के रूप में नहीं है, गहरी अनुभूति के रूप में है।

आज के वास्तविक साहित्य के अन्य रूप भी हैं जो इन सब विकृतियों से मुक्त हैं। वैसे यह चेतना का युग है—इस चेतन मानव में स्वभावतः निराशा और घुटन रहती है। और साहित्य युग-प्रतिनिधित्व करता है। यह जो आज के युग की प्रतिक्रिया लेखक पर पड़ रही है उसका एक स्वस्थ रूप व्यंग्य हो सकता है। दूसरा स्वस्थ रूप दर्शन हो सकता है। यह भी तो आज के साहित्य में मिलते है।

४—लम्बे उपन्यास के लेखन से बेतरह थक गया हूं, इसीलिए सारिका में लगातार कहानियां लिख रहा हूं। लेकिन एक उपन्यास की योजना तो बनाई है, उसे कार्यान्वित करने की हिम्मत नहीं पड़ रही है। उपन्यास का शीर्षक होगा—'जोंकें'। आज के युग में हर तरफ Parasites ही नजर आते हैं—विधायक, उनके दलाल, ग्रामों में पंचायतों के लोग, राजनीतिक नेता, लेबर लीडर्स—हर तरह जोकें दिख रही हैं जो फलती-फूलती हैं—ऐश करती हैं। वास्तविक उत्पादक, मेहनतकश, बुद्धिजीवी फाके कर रहा है। भगवान से प्रार्थना करो कि वह मुझे इतना साहस दें और इतनी शक्ति दें कि यह उपन्यास मैं लिख सकू।

आशा है आप सानन्द होंगे।

आपका
भगवतीचरण वर्मा

परिशिष्ट-३

भगवतीचरण वर्मा से साक्षात्कार

प्र० : आपने अपने लेखन के माध्यम से इस बात को सिद्ध करने का प्रयास किया है कि मनुष्य भावना से प्रेरित होकर कार्य करता है। भावना ही सत्य है और नित्य है। यदि भावना-प्रसूत कार्यों को छूट दे दी जाए तो क्या अराजकता पैदा नहीं होगी ?

उ० : हां, मैंने यह लिखा है कि भावना ही मनुष्य की प्रेरणा है लेकिन मैं मानता हूं कि विशुद्ध भावना को लेकर मनुष्य सामाजिक प्राणी नही बन सकता। मनुष्य को बुद्धि नामक वस्तु भी मिली है जो समाज की स्थापना का आधार है। यदि मनुष्य शुद्ध भावनात्मक स्तर पर जीवित रहे तो वह पशु की कोटि में आ जाएगा। बुद्धि तो उसका तत्त्व है ही किन्तु बुद्धि प्रेरक तत्त्व नहीं है। वह ऐसा तत्त्व है जो मनुष्य की भावना को संचालित करता है, परिष्कृत करता है और सामाजिक बनाता है। क्योंकि मनुष्य की बुद्धि हमेशा उसकी भावना के साथ मौजूद है अतः अराजकता का प्रश्न ही नहीं उठता।

प्र० : भावना और कर्तव्य की सगति में क्या मात्र बुद्धि सहायक हो सकती है ?

उ० : मेरा यही विचार है। मनुष्य में भावना है और भावना में सत् और असत् दोनों ही हैं। सत्-असत् का आधार सामाजिक मापदंड पर निर्भर है। क्रोध और घृणा को असत् माना गया है किन्तु समाज के गलत कार्यों के प्रति क्रोध और गलत आदमियों के प्रति घृणा हो सकती है और ऐसे क्रोध और घृणा के आधार पर सामाजिक परिष्कार संभव है। समाज के दृष्टिकोण से भावना सत्-असत् होती है। भावना स्वयं में न सत् है और न ही असत्।

प्र० : आप मानते हैं कि मनुष्य कुछ प्रवृत्तियां लेकर पैदा होता है और परिस्थितियां उसे संचालित करती है। इस सिद्धांत के आधार पर तो मनुष्य का

कर्म समाज-निरपेक्ष हो जाएगा ऐसी स्थिति में समूह के रूप में उसकी कर्तव्य-निष्ठा किस तरह तय होगी ?

उ० : जब प्रवृत्तियों की बात मै कहता हूं तो यह मानता हूं कि प्रवृत्तियों मे केवल भावना नही है बल्कि उसमे बुद्धि का भी स्थान है। मनुष्य लौकिक प्राणी है और मनुष्य की हर भावना बुद्धि से परिचालित होती है। जब मैं कहता हूं कि मनुष्य प्रवृत्तियां लेकर पैदा होता है तो इसका अर्थ है उसमें भावना और बुद्धि दोनों ही विद्यमान हैं। वह परिस्थितियां लेकर पैदा होता है, परिस्थितियों में पैदा होता है और ऐसी हालत में, मेरा कहना है कि वह कर्म करने को स्वतंत्र नही है। बल्कि वह प्रवृत्तियों और परिस्थितियों की उपज है।

प्र० : आपके कहने का अर्थ यह माना जाए कि मनुष्य परिस्थितियों को संचालित कर ही नही सकता परतु इतिहास में कभी-कभी ऐसी घटनाओं के दर्शन होते है जहा मनुष्य ने परिस्थितियो को बदला है।

उ० : परिस्थितियां बदलती है यह मैं मानता हूं लेकिन वे मनुष्य के प्रयत्नों से बदलती हैं, मैं यह मानने को तैयार नहीं हूं। मनुष्य की प्रवृत्तियों और परिस्थितियो के योग का नाम जीवन है। जब हम कहते है कि मनुष्य परिस्थितियो को बदल रहा है तब वह वास्तव मे परिस्थितियों को अपनी प्रवृत्तियो के द्वारा निर्धारित कर देता है। परिस्थितियो के रूप भले ही बदल जाए लेकिन मनुष्य परिस्थितियों से जकड़ा ही रहता है।

प्र० : जब आप कहते हैं कि मनुष्य के हर कार्य नियति द्वारा संचालित है तब सामाजिक अपराधों की जिम्मेदारी आप किसपर समझते है ?

उ० : नियतिवाद मेरा एक दर्शन है जो कि आतंरिक है। अपने साहित्य में सामाजिक अपराधों को मै हमेशा निकृष्ट सिद्ध करता हूं क्योकि उदात्त भावना ही समाज को निर्मित कर सकती है। साहित्य का उद्देश्य भावना का उदात्तीकरण है। फिर भी मैं अपने साहित्य में संवेदना लेकर आगे बढ़ता हूं। मैं समझता हूं कि मनुष्य स्वय विकृति से दूर रहे और विकृतिग्रस्त प्राणियों के प्रति घृणा, क्रोध, हिसा के स्थान पर संवेदना का प्रयोग करे तो अधिक कल्याणकारी होगा। सवेदना का असर दूसरों पर पड सकता है। जहां तक जीवन-दर्शन का सवाल है, सामाजिक व्यवस्था का सवाल है, वहां भावना का उदात्तीकरण मैं आवश्यक समझता हूं। नियतिवाद तो केवल मेरे दृष्टिकोण को सचालित करता है कि मैं क्रोध, हिसा के स्थान पर सवेदना और प्रेम का महत्त्व दिखलाऊ।

प्र० : नैतिक रूप से गिरे हुए तथा सामाजिक अपराधों में प्रवृत्त लोगों के प्रति आक्रोश का भाव आपके साहित्य में दिखलाई नही पड़ता। कारण शायद यह

है कि उनके कृत्यों को आप नियति द्वारा परिचालित मानते है; ऐसी दशा में मौजूदा न्याय-व्यवस्था मे क्या किसी परिवर्तन की कल्पना आप करते है ?

उ० : देखिए, मै समाजशास्त्री नही हू। मै व्यवस्था को बदलने वाला व्यक्ति नहीं हूं। मैं तो मनुष्य की भावना को जगाने वाला हू। कोमलता, सवेदना और करुणा को उत्पन्न करने का अपने को माध्यम समझता हू। न्याय-व्यवस्था और दड-व्यवस्था तो अपने ढंग से चलती रहती है। उनमे हस्तक्षेप करना मेरा काम नही है। वास्तव मे मेरा क्षेत्र तो बहुत सीमित है—मनुष्य की भावना को उदात्त बनाऊं, उसका मनोरंजन करू और उसे सुख पहुंचाऊं। दिन-भर श्रम में जुता हुआ, कुंठाओं और कटुताओं मे फंसा मनुष्य कुछ क्षण मानसिक शाति, सुख और मन-बहलाव चाहता है। मैं मानता हूं कि साहित्य ही नही बल्कि सभी कलाओं का उद्देश्य आनन्द का सृजन है। मनुष्य का जीवन आपाधापी, छीना-झपटी, सघर्षो के कारण कुंठा और कटुता से भर गया है। साहित्यकार यदि अपनी कल्पना और सृजन के द्वारा मनुष्य को थोडा सुख दे सके तो उसके जीवन को वह थोड़ा आसान और अच्छा बना-एगा। देखिए, ब्रह्म की कल्पना मे भी तो सत्य और चेतना के साथ आनन्द को प्रधानता दी गई है। मनुष्य तो आनन्द के प्रति पागल हो उठता है। तो मैं समझता हूं कि कला का उद्देश्य मनुष्य को आनन्द प्रदान करना है—समाज का निर्माण नही। हां, यदि उस आनन्द से समाज का कल्याण भी हो जाए तो अच्छा है।

प्र० : आज की सर्वाधिक प्रचलित विधा व्यंग्य का उद्देश्य बुराइयों पर प्रहार करना माना जाता है। व्यंग्य पढ़कर आनन्द से अधिक कचोट का भाव उठता है। पर आपका व्यंग्य लेखन प्रहारात्मक नहीं है बल्कि गुदगुदाने वाला है। क्या ऐसा होने के पीछे आपकी यही विचारधारा है ?

उ० : मैने इसपर बहुत अधिक ध्यान नही दिया पर हो सकता है कि यही कारण हो। समाज की विकृतियों पर हम क्रोधित हो सकते हैं, कटु हो सकते हैं और हंस भी सकते हैं। मैं समझता हूं कि हम दूसरों को सुधारने के बदले अपने को सुधारें तो कल्याणकारी होगा। अपने अदर की प्रवृत्तियों को तो मनुष्य वैसी ही रखना चाहता है पर जब दूसरों में वह वही प्रवृत्तियां देखता है और उसके स्वार्थों पर आघात पहुंचता है तो वह क्रोधित हो जाता है। यदि हर व्यक्ति यह सोच ले कि उसे अच्छा बनना है तो समाज का रूप स्वत: ही बदल जाएगा। मेरे व्यंग्य का उद्देश्य है कि पाठक बुराइयों का रूप देखे लेकिन बुराई करने वाले पर न हंसकर उन परिस्थितियों पर हंसे जिनसे बुराई उत्पन्न होती है। बुराइयों पर नाराज होने और चिल्लाने के बजाय आदमी हंस दे कि कैसे भूले हुए, भ्रमे हुए लोग हैं तो अच्छा है। मेरे साहित्य

को पढ़कर आक्रोश भले ही न उमड़े पर बुराइयों के प्रति वितृष्णा तो उत्पन्न होगी ही और मैं समझता हूं कि साहित्य का यही उद्देश्य है।

प्र० : आपने यह माना है कि सामाजिक बुराइयां तभी दूर हो सकती हैं जब मनुष्य की चेतना विकसित हो। चेतना किस तरह विकसित हो सकती है ?

उ० : मैंने पहले ही कहा है कि बौद्धिकता को मै जीवन का आधार न मानकर उपकरण मानता हूं। जब बातों को हम भावनात्मक स्तर पर ग्रहण करे तब वे जीवन के लिए उपयोगी है। तब वे जीवन का मूल स्रोत हो जाती हैं। इसीलिए मैं श्रेष्ठ साहित्य की कसौटी यह मानता हूं कि वह बुद्धि की सहायता से भावना को उदात्त बनाए।

प्र० : नियतिवादी दर्शन के आधार पर नैतिकता का मूल्यांकन किस प्रकार हो सकता है ?

उ० : यहां कभी-कभी मैं भी बड़े चक्कर में पड़ जाता हूं कि क्या नैतिकता नाम की कोई चीज है भी ? नैतिकता को मैं सामाजिक तत्त्व मानता हूं, वैयक्तिक नहीं। हम सामाजिक प्राणी है और समाज में रहते है। जब समाज से मैं सुख-सुविधाओं की अपेक्षा करता हूं तो ऐसी हालत मे मेरा धर्म हो जाता है कि समाज को मैं कमजोर न बनाऊं। मै नैतिकता को उस हद तक ठीक समझता हूं जहां तक वह समाज को कायम रखने में सहायक सिद्ध हो। नैतिकता शुद्ध रूप से कोई अलग चीज है—ऐसा मुझे नहीं लगता। कुछ तथाकथित नैतिक नियम जो आज बड़े ऊंचे समझे जाते है, पांच वर्षो के बाद ही शायद उसका कोई मूल्य नहीं होगा। विवाह की व्यवस्था, फेमिली-प्लानिंग और भी न जाने कितनी मान्यताए, जो कि आज से पचास वर्ष पूर्व अजीब-से नैतिक मूल्यों से जकड़ी हुई थी; आज उनका रूप बदल गया है। ये सारी व्यवस्थाएं समाज के साथ-साथ बदलती हैं—ऐसी स्थिति में नैतिकता को हम कोई खास चीज नही कह सकते।

प्र० : 'रेखा' उपन्यास की नायिका रेखा के सारे शारीरिक संबंधों को नियति का खेल बतलाया गया है। ऐसा क्यों ?

उ० : रेखा पर ऐसे प्रश्न बहुत उठाए गए हैं। दरअसल रेखा एक मनोवैज्ञानिक उपन्यास है जो कि रेखा के जीवन की एक ट्रेजेडी पर आधारित है। वह प्रेम के स्वरूप को समझ नहीं पाती। वह अपने प्रोफेसर से इतनी प्रभावित हो जाती है कि इस सत्य को भूल जाती है कि शारीरिक भूख नाम की भी कोई चीज होती है। बाद में वह समझौता करना चाहती है कि शरीर और आत्मा को अलग-अलग रख सके पर इसमे वह असफल हो जाती है। उपन्यास का आधार यही ट्रेजेडी है।

प्र० : आपकी राय में साहित्यकार की प्रतिबद्धता किससे होनी चाहिए ?

उ० : प्रतिबद्धता के तीन रूप मुझे दिखलाई पड़ते है। सबसे पहले तो साहित्यकार की प्रतिबद्धता अपने ही लिए होनी चाहिए। साहित्यकार अपने अंदर की चीज लिखता है। उधार का लिया हुआ सत्य प्राणहीन होता है। जब अपने अदर की चीज लिखी जाएगी तभी रचना प्राणवान होगी। मेरे विचार से दूसरी प्रतिबद्धता पाठक से होनी चाहिए। हम पाठक को कोई चीज देते हैं तो इसलिए कि वह पाठक का मनोरंजन करे और उसकी भावना को उदात्त बनाए। अब, यदि साहित्य मे हम दर्शन दे दे तो वह नीरस हो जाएगा। पाठक कौतूहल और जिज्ञासा के सहारे उसे ग्रहण करता है। पाठक जब पुस्तक खरीदता है तो उसके द्वारा वह मनोरजन और सुख चाहता है। यदि पाठक किसी पुस्तक का बडा नाम सुनकर उसे ले जाए और वह उसे नीरस लगे तो मै समझता हूं कि मैने उसके प्रति न्याय नही किया। जिस तरह अन्य क्षेत्रों में मुनाफाखोरों को हम बुरा कहते हैं उसी प्रकार साहित्य के क्षेत्र में भी मुनाफाखोरी ठीक नही है। लेखन का भी आर्थिक पक्ष—आजीविका का पक्ष होता है। पाठक को हम अपनी चीज देते है तो उसकी रुचि का भी हमें ध्यान रखना चाहिए। लेखक की तीसरी प्रतिबद्धता समाज के प्रति है। यानी वह अपने लेखन के द्वारा समाज को निर्बल न बनाए।

प्र० : जैसा आप कह रहे हैं—यदि लेखक पाठक के मनोरंजन का ध्यान प्रमुख रूप से रखे तो सस्ते साहित्य और गभीर साहित्य मे क्या अतर रहेगा ?

उ० : सस्ता साहित्य ही रुचिकर होता हो यह जरूरी नहीं। मेरा अर्थ है कि गंभीर से गंभीर साहित्य को भी रुचिकर होना चाहिए। यदि मैं अपने प्रति जिम्मेदार हूं तो सस्ते साहित्य का सृजन मैं कैसे कर सकता हूं ? महज पैसे के लिए कोई चीज लिखना मुझे गवारा नहीं। और यदि मै उसमें गिरा तो मेरा साहित्य नष्ट हो जाएगा क्योंकि वह मेरे अंदर की चीज नहीं है।

प्र० : दर्शकों की रुचि के संस्कार के लिए जिस तरह फिल्मों पर कुछ प्रतिबंध है क्या उसी तरह के प्रतिबंध साहित्य पर आप उचित समझते हैं ?

उ० : मैं समझता हूं कि ऐसा प्रतिबध पहले था और आज भी अश्लील साहित्य प्रतिबंधित है।

प्र० : साहित्य और राजनीति का कितना संबंध आप समझते हैं ? किसी सामाजिक आंदोलन या क्रांति से तटस्थ रहकर साहित्यकार 'जग का मुजरा देख' की मुद्रा बनाए रखे—क्या यह उचित है ?

उ० : मैं इसके साथ स्वयं कुछ प्रयोग करता रहा हूं। राजनीति में हमेशा एक विरोधी दल सामने होता है। जहां विरोधी दल है वहां आक्रोश, घृणा आदि भावनाएं होती है। मै समझता हूं कि साहित्य को उससे मुक्त रखा जा सकता है। अपने लेखन में मैं किसी राजनैतिक दल के सिद्धांतों की वकालत नहीं

करता। कुछ लोग करते हैं। अपने प्रारभिक उपन्यासो मे मैने अहिंसावादी दर्शन का समर्थन किया—जैसे 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' मे। बाद मे मुझे अनुभव हुआ कि यह मेरी अपरिपक्वता है। लेकिन आपने ध्यान दिया होगा कि 'टेढ़े-मेढे रास्ते' मे भी, गाधी की अहिंसा से प्रभावित होने के बाद भी, गाधीवाद की कमजोरियों को मैने दिखलाया है। पर आज जीवन इतना काम्प्लेक्स हो गया है कि साहित्य को राजनीति से पूरी तरह अलग करना बहुत कठिन काम है।

प्र० : 'कमल तलवार से अधिक शक्तिशाली होती है' इस उक्ति को आप तथ्य-पूर्ण मानते है या केवल मुहावरा ?

उ० : मैं इसे मुहावरा मानता हूं। जिसके हाथ मे कलम है साहब, वह भले ही ऐसा लिख दे किन्तु इतिहास तो यह बतलाता है कि तलवार के आगे कलम हमेशा ही झुकती रही है। बड़े-बड़े राजाओ की प्रशस्ति का गायन करते रहे है ये कलमधारी। पुराने जमाने में कवि राज्याश्रय में रहते थे। यूरोप में भी नजाने कितना साहित्य राज्याश्रय में ही रचा गया। मैं समझता हूं राजा तो शक्ति का ही यानी तलवार का ही वहन करता है। हां, बुद्धि मनुष्य की भावना को बदल सकती है और कलम बुद्धि का प्रतीक है। तो जहां तक इस प्रतीक के रूप में बात कही जाती है वहां वह पूरी तरह गलत नही है पर जिस रूप मे इस मुहावरे का प्रयोग किया जाता है उससे मै सहमत नही हूं।

प्र० : 'सीधी-सच्ची बातें' उपन्यास मे जसवत कपूर कहता है, "हमारे समाज का एक छोटा-सा वर्ग ही निरामिषभोजी है, लेकिन यही छोटा-सा वर्ग हमारा बौद्धिक नेतृत्व करता है। हमारे समाज का बौद्धिक नेतृत्व ब्राह्मणों के हाथ मे है और वह निरामिष भोजी है। हमारा आर्थिक नेतृत्व बनिये के हाथ में है और वह भी निरामिष भोजी है। ब्राह्मण और बनिये की यह अहिसा एक ऐसी भयानक हिंसा में बदल गई है जिसकी मिसाल दुनिया मे नही मिलेगी।" क्या निरामिष और सामिष भोजन को हमारी जीवन-पद्धति से इस हद तक जोड़ा जा सकता है ?

उ० : जसवत कपूर एक दृष्टिकोण सामने रखता है। जरूरी नहीं कि वह पूरी तरह मेरा दृष्टिकोण हो। आज के विश्व मे जहा एक ओर मनुष्य मे अहिंसा आई है वहीं दूसरी ओर रिएक्शन के रूप मे हिसा उभरी है। यह भी तय है कि जितनी हिसा आधुनिक महाजनी सभ्यता मे उभरी, उतनी पहले कभी नहीं थी। बनिया उसका प्रतीक है। दूसरी ओर अहिंसक ब्राह्मण की व्यवस्था ने शूद्रों को कहां पहुंचा दिया ? उसे पशु से भी गया-गुजरा बना दिया। जसवंत कपूर हमें एक विचार-बिन्दु देता है—बाकी, मैं तो कहानी कह रहा हूं जिसमें पात्र कई मसलों पर अपने ढग से सोचते, बोलते हैं।

प्र० : आपने लिखा है—'जनता भुलावो मे भटकने वाला एक समूह है।' क्या जनता की शक्ति और समझदारी पर आपको विश्वास नही है ?

उ० : 'जनता' शब्द का जब हम प्रयोग करते है तो अपने देश मे आम तौर पर उसका अर्थ उस वर्ग से लिया जाता है जो अशिक्षित है। यह वर्ग अपनी भावना से प्रेरित होकर ही सारे कार्य करता है। उसमे न तो बुद्धिसंगत तर्क-क्षमता है और न ही राजनैतिक चेतना। मैंने अपनी कविताओं मे भी कई जगह यह बात कही है जो कि उसी वर्ग से सबधित है। बाकी, यह जो प्रजातंत्र का नारा है, यह विकसित देशों के लिए ठीक है। मैं समझता हू कि अपने हित और अनहित को समझने वाले लोगों की हमारे यहा अभी भी भीषण कमी है।

प्र० : ऐसी घटनाओं की ओर मैं आपका ध्यान आर्कपित करना चाहता हू जहां जनता की शक्ति ने इतिहास को मोड़ा है। वियतनाम या अंगोला के संघर्ष को नियतिवादी दर्शन पर आप किस तरह तौल सकते हैं ?

उ० : आप जिन संघर्षों की बात कह रहे है वे ऐसे ही हैं जैसे हमारा स्वाधीनता-आंदोलन। मै समझता हूं कि नियति के चक्र के ये रूप हैं। आज इनके महत्त्व को हम स्वीकार कर लेते है पर पचास वर्ष के बाद इनका स्वरूप कैसा होगा—यह नहीं कहा जा सकता। हमने अपने यहा देखा कि आंदोलन के समय हमारी नैतिकता जाने कितनी ऊंची थी पर आजादी के बाद हम कितना गिरे—यह तो सामने है। तो, यह निश्चित तौर पर कहना कठिन है कि ऐसे आंदोलन हमारे समाज के रूप को बदल देते हैं। क्षणिक भावना से चीजे बदलती हैं और फिर हम वही आ जाते हैं।

परिशिष्ट-४

मोर्चाबंदी : एक दृष्टि

मोर्चाबंदी १९७६ में प्रकाशित भगवती बाबू का कहानी संकलन है जिसमें उनकी वे कहानियां संकलित हैं जो उन्होंने विशेष तौर पर 'सारिका' के लिए लिखी थीं। अपने काफी लबे सृजन-काल में भगवती बाबू विगत कई वर्षो से उपन्यास लेखन में जुटे हुए थे। यूं, हिन्दी का पाठक उनकी सदाबहार कहानियां 'दो बाके' और 'मुगलो ने सल्तनत बख्श दी' भूला नही है। मोर्चाबंदी की कहानियां पढ़कर यह आभास होता है कि भगवती बाबू का अंदाजे-बयां अभी भी वैसा ही है।

संग्रह मे बारह कहानियां हैं। ये सारी कहानियां आधुनिक भारत में पनपने वाले भ्रष्टाचार, रिश्वत-खोरी और राजनैतिक तिकड़मबाजी का दस्तावेज कही जा सकती हैं। भगवती बाबू ने अपने उपन्यासों की ही तरह इन कहानियों मे भी उच्चवर्ग तथा उच्च मध्यवर्ग को ही अपना निशाना बनाया है। इन कहानियों में निम्न वर्ग के लोगों की व्यथा अथवा भारत के आम आदमी के जीवन की पीड़ा नहीं है किन्तु भारत के आम आदमी के दर्द के लिए लेखक जिन्हें जिम्मेदार समझता है उनके नकाब उसने अवश्य नोचे हैं।

इन कहानियों में भगवती बाबू अपनी पुरानी यानी 'जग का मुजरा देख' की मुद्रा में हैं। अपने लहजे के कारण ये कहानियां अपनी समकालीन कहानियों से भिन्न दिखलाई पड़ती हैं किन्तु ये गुजरे वक्त की भी नहीं मालूम पड़तीं। भगवती बाबू के व्यक्तित्व में दो-तीन पीढ़ियों की विशेषताएं घुली-मिली हैं। अपनी अगली पीढी की विशिष्टताओं को आत्मसात् करके भी भगवती बाबू के अंदर का किस्सागो इस संकलन में भी उपस्थित है। 'सौदा निकल गया', 'मोर्चाबदी', 'गुन न हिरानो गुन गाहक हिरानो है' जैमी कहानियां इसका प्रमाण हैं। भगवती बाबू कहानी में अवसर निकालते है और फिर किसी बुजुर्ग की तरह पात्रों की

पिछली दास्तान सुनाते हैं।

आधुनिक युग पर अर्थसत्ता और राजनैतिक सत्ता का जो भयंकर दबाव पड रहा है उसने सभ्यता-सस्कृति, मानवीय रिश्ते और जीवन-मूल्यों मे अरुचि और अनास्था उत्पन्न कर दी है। भारत में भ्रष्ट राजनीति और बेईमान अर्थ-व्यवस्था इतनी स्पष्ट दिखलाई पड़ती है कि आज का कोई भी साहित्यकार उसे अनदेखा नहीं कर सकता। साहित्यकार को इसे अनदेखा करना भी नही चाहिए। सकलन की कहानिया—रगीले लाल तीर्थयात्री, खानदानी हरामजादे, गनेसीलाल का रामराज हमारे इसी बदले हुए परिवेश की कहानियां हैं जहां ईमानदार आदमी अपने को अजनबी अनुभव करता है। भगवती बाबू ने हमेशा ही राजनीति को मक्कारों का धंधा माना है। खानदानी हरामजादे मे संजीवन पाण्डे की सफलता का यही रहस्य है। जब उजड्ड और अवसरवादी संजीवन का पिता गोबरधन उसकी शिकायत कांग्रेसाध्यक्ष शोभालाल यादव से करता है तो शोभालाल यादव संजीवन को शाबाशी देते है—"बहुत ठीक किया तुमने। देश को तुम्हारे ऐसे साहसी और चरित्रवान नवयुवकों की आवश्यकता है।" फिर उन्होने गोबरधन को डांटा—"तुम्हें शर्म नहीं आती! यह तुम्हारा पुत्र गुदड़ी का लाल है! यह किसी दिन तुम्हारे कुल को उजागर करेगा।"

संकलन की कुछ कहानियां केवल मनोरजनार्थ लिखी गई है। इनके माध्यम से लेखक कुछ विशिष्ट नही कहना चाहता। वह मौज मे है और तकरीबन गप्पाष्टक बैठक मे सुनाई गई किसी घटना की तरह ही कुछ सुना रहा है। सौदा निकल गया, संकट, वसीयत, समझौता, मोर्चाबंदी कहानियां प्रहसननुमा हैं। हां, इनमें आधुनिक युग मे पनपने वाले चरित्र के सकट और मतलबपरस्ती को अवश्य सामने रखा गया है। कही-कहीं प्रहसन की प्रवृत्ति अधिक खिच गई है जैसे गनेसीलाल का रामराज में। हास्य-व्यग्य में इतने अधिक स्पष्ट होने की आवश्यकता होती भी नही है। वस्तुत: भगवती बाबू जहां मौज मे आते हैं वही कहानी पर से उनकी पकड़ ढीली पड़ने लगती है। उनका कथा-साहित्य बहुधा ही उस कल्पनाजन्य उन्मुक्तता का शिकार बना है जो उनकी मस्ती-भरी तबियत से पैदा होती है। जहां ऐसा नहीं होता वहा भगवती बाबू का हास्यकार सपाट बयानी में भी ऐसा जानदार वर्णन करता है कि पाठक हसे बिना नहीं रह सकता। बेसुरे भक्तों की ओम जय जगदीश हरे आरती-गायन का वर्णन मोर्चाबंदी में दर्शनीय है :

"और तभी लाल संजीवन सिंह को अनुभव हुआ कि वह किसी ऐसे माहौल मे आ फंसे हों जहां हरेक व्यक्ति चीख रहा था, चाहे वह स्त्री हो, चाहे पुरुप हो। कहीं भैंस रंभा रही थी, कहीं कौवा-कांव कांव कर रहा था, कहीं गधा रेंक रहा था, कहीं बकरी मिमिया रही थी। उन्हें लगा कि उनके कान के परदे छिलने

लगे है और जल्दी ही ये परदे फट भी जायेंगे। घबराकर उन्होंने इधर-उधर देखा और फिर घूमकर वह तेजी के साथ वहां से भागे।"

भगवती बाबू अपनी पुरानी कहानियों में भी प्रमुखतः व्यंग्य का तेवर लेकर आए थे। उन्होने सबहिं नचावत राम गुसाईं जैसा व्यग्य-उपन्यास भी लिखा। भूले-बिसरे चित्र, टेढ़े-मेढ़े रास्ते और प्रश्न और मरीचिका जैसे गंभीर उपन्यासों में भी जीवन और व्यक्ति-चरित्र की विसंगतियों को पकड़ने की क्षमता रखने वाला उनका व्यग्य-बोध उभरता रहा है। इस संकलन की कहानियों में भी वे व्यंग्य की सूक्ष्म मार कर सके हैं। रंगीलेलाल तीर्थयात्री में सेठ बनवारीलाल ने अपने तीसरे लड़के को फर्म पर छापा पड़ने पर, बेईमानी के आरोप में, जेल जाने के लिए नियुक्त किया है। राष्ट्रीय नेताओं ने स्वाधीनता-आंदोलन के समय जेलों को तीर्थ की सज्ञा दी थी—इसी आधार पर रंगीलेलाल अपना उपनाम 'तीर्थ-यात्री' रखता है। बनवारीलाल का तर्क है—"हरेक आदमी को स्वततत्रापूर्वक अपनी जिन्दगी जीने का अधिकार है। तो सरकार ने हमारी व्यक्तिगत स्वतंत्रता छीन ली है। जहां देखो कोटा-परमिट, लिखा-पढ़ी, खाना-पूरी···जिन्दगी हराम कर दी इन ससुरों ने। अब तुम्ही बताओ हम व्यक्तिगत स्वतंत्रता की कैसे रक्षा करें ?"

मोर्चाबंदी कहानी में मंदिर के जीर्णोद्धार के बाद प्रतिमा की प्रतिष्ठा इस प्रकार होती है—"इस बीच लखनऊ म्यूजियम के दरबान को दस रुपया देकर चंद्रिका महाराज वहां विष्णु भगवान की एक पत्थर की मूर्ति उठा लाए, एक कुम्हार से उन्होंने उसे इस तरह रंगाया कि कोई उसे म्यूजियम वाली मूर्ति पहचान न सके।"

समाज की बुराइयों, मनुष्य की कमजोरियों, चरित्र के विरोधाभासों और स्थिति की विसगतियों को भगवती बाबू बड़े ही मामूम अंदाज में सामने रखते हैं। खानदानी हरामजादे में संजीवन द्वारा आम की चोरी द्रष्टव्य है—"गुरु का आदेश ! एक हजार लंगड़ा आम शाम तक सुमेर मिसिर के यहां हाजिर कर दिए गए। तो सुमेर मिसिर ने पचास-साठ आम तो लौडो को बांटे, बाकी बस्ती में बेच आए जाकर। सजीवन को यह हरकत पसंद नही आई। गन्नू बाबू के बाग से आम तोड़ लाना तो हंसी-खेल था, लेकिन उन आमो का बस्ती मे बेचना चोरी थी।" भगवती बाबू का व्यग्य सार्थक है और ध्यान भी आकृष्ट करता है पर उसमें तीखापन नही है। उनका व्यंग्य आक्रोशहीन है। इसे हम उनकी लेखन-शैली भी मान सकते हैं। इसी बिन्दु पर यह स्वीकार करना होगा कि लेखक का जीवन-दर्शन उसकी शैली को भी प्रभावित करता है। भगवती बाबू मानते हैं कि लेखक की पाठक से प्रतिबद्धता इसी माने में है कि वह पाठक को मनोरंजन प्रदान करे। उनका ऐसा मानना उनके व्यग्य को हास्य और हास्य को प्रहसन बना देता है।

यही कारण है कि गनेसीलाल का रामराज और वमीयत जैसी प्रखर 'थीम' की कहानिया मात्र हंसने-हसाने का साधन बन गई हैं। अपनी बात को प्रस्तुत करने के लिए भगवती बाबू कल्पना की उड़ान का सहारा लेते हैं। कल्पना की उड़ान उनकी कहानियों को अति घटना-बहुल बना देती है।

भगवती बाबू इस बेईमान व्यवस्था पर प्रहारात्मक व्यंग्य करने और उससे विद्रोह करने में सार नहीं देखते। वे इसे समय का चक्र या नियति का खेल मानते हैं और इस चक्र में किसी तरह अपने को फिट करके भूले और भ्रमे हुए लोगों को हंसाना भर चाहते हैं। (देखिए साक्षात्कार) उनकी इस विचारधारा के कारण ही 'क्षमा याचना' के रविप्रकाश, 'रंगीलेलाल तीर्थयात्री' के अविनाश चंद्र और 'गनेसीलाल का रामराज' के त्यागीजी इस गलत व्यवस्था से अपनी सक्रिय असहमति भी व्यक्त नहीं करते।

संदर्भ-ग्रंथ सूची

संस्कृत के संदर्भ-ग्रंथ

१. अमरकोश
२. शब्द कल्पद्रुम
३. माघकृत शिशुपाल वध
४. ब्रह्मवैवर्त पुराण
५. योगवाशिष्ठ
६. श्री हर्षकृत नैषधकाव्य
७. मार्कण्डेय पुराण
८. श्री मद्भागवत
९. मनुस्मृति
१०. वाल्मीकि रामायण
११. कठोपनिषद्
१२. भर्तृहरिकृत नीतिशतक
१३. ईश्वरकृष्णकृत सांख्याकारिका
१४. कालिदासकृत आभिज्ञानशाकुन्तलम्

हिन्दी के संदर्भ-ग्रंथ

१५. अस्तित्ववाद और नई कविता—प्रकाश दीक्षित
१६. मार्क्सवादी साहित्य चिंतन—डॉ० शिवकुमार मिश्र
१७. हिन्दी काव्य में नियतिवाद—डॉ० रामगोपाल शर्मा
१८. अंग्रेजी साहित्य का इतिहास—डॉ० एस० पी० खत्री

१९. हिन्दी उपन्यासों में नायिका की परिकल्पना—डॉ० सुरेश सिन्हा
२०. नया साहित्य—नये प्रश्न—आचार्य नंददुलारे वाजपेयी
२१. हिन्दी उपन्यास—डॉ० रामदरश मिश्र
२२. हिन्दी उपन्यास—डॉ० सुरेश सिन्हा
२३. प्रेमचंद साहित्य में व्यक्ति और समाज—डॉ० रक्षा पुरी
२४. हिन्दी और मराठी के सामाजिक उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन —डॉ० चंद्रकांत महादेव बांदिवदेकर
२५. हिन्दी के स्वच्छंदतावादी उपन्यास—डॉ० कमल कुमारी जौहरी
२६. आधुनिक साहित्य की व्यक्तिवादी भूमिका—डॉ० बलभद्र तिवारी
२७. हिन्दी उपन्यास : एक अंतर्यात्रा—डॉ० रामदरश मिश्र
२८. हिन्दी उपन्यासों में कल्पना के बदलते हुए प्रतिरूप —डॉ० शील कुमारी अग्रवाल
२९. विविध प्रसंग—भाग ३—अमृतलाल
३०. साहित्य-चिंतन—डॉ० देवराज
३१. हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन—डॉ० गणेशन
३२. हिन्दी उपन्यास का विकास और नैतिकता —डॉ० सुखदेव शुक्ल
३३. आत्मचिंतन—अज्ञेय
३४. विचार और अनुभूति—डॉ० नगेन्द्र
३५. आधुनिक साहित्य—आचार्य नंददुलारे वाजपेयी
३६. हिन्दी उपन्यास का परिचयात्मक इतिहास —डॉ० प्रतापनारायण टंडन
३७. भगवती चरण वर्मा—'चित्रलेखा' से 'सबहि नचावत रामगुसाईं' तक —डॉ० कुसुम वार्ष्णेय
३८. हिन्दी उपन्यास : महाकाव्य के स्वर—डॉ० शांतिस्वरूप गुप्त
३९. अधूरे साक्षात्कार—नेमिचंद्र जैन
४०. हिन्दी उपन्यास साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन—डॉ० रमेश तिवारी
४१. हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद—डॉ० बच्चन सिंह
४२. उपन्यासकार भगवती चरण वर्मा—ब्रजनारायण सिंह
४३. प्रेमचंदोत्तर काल—नये धरातल—लक्ष्मीकान्त वर्मा
४४. हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव—भारतभूषण अग्रवाल
४५. हिन्दी उपन्यास—(संपादक) सुषमा प्रियदर्शनी
४६. हिन्दी उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक मूल्यांकन —आचार्य ब्रह्मनारायण शर्मा
४७. हिन्दी उपन्यास में कथाशिल्प का विकास—डॉ० प्रताप नारायण टंडन

४८. हिन्दी उपन्यास साहित्य में आदर्शवाद—सर्वजीत राय
४९. भारत में अंग्रेजी राज्य के दो सौ वर्ष—केशवकुमार ठाकुर
५०. कांग्रेस का इतिहास—पट्टाभिसीतारामय्या
५१. आत्मकथा—डॉ० राजेन्द्र प्रसाद
५२. भारत मे सशस्त्र क्रांति चेष्टा का रोमांचकारी इतिहास—मन्मनाथ गुप्त
५३. आधुनिक भारत—आचार्य जावडेकर, अनु० हरिभाऊ उपाध्याय
५४. राष्ट्रीयता और समाजवाद—आचार्य नरेन्द्र देव
५५. मेरी कहानी—पडित जवाहर लाल नेहरू अनु० हरिभाऊ उपाध्याय
५६. हिन्दी उपन्यास : समाजशास्त्रीय अध्ययन—डॉ० चंडीप्रसाद जोशी
५७. उत्तरयोगी अरविंद—डॉ० शिवप्रसाद सिंह
५८. स्वाधीनता की चुनौती—शांतिप्रसाद शर्मा
५९. विचार और विश्लेषण—डॉ० नगेन्द्र
६०. कहानी में औत्सुक्य का अनुतत्त्व—रमेश बक्षी
६१. हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास
—डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल
६२. हिन्दी कहानी-शिल्प इतिहास—डॉ० अष्टभुजा पाण्डेय
६३. प्रसादोत्तर नाट्य साहित्य—डॉ० विजय बापट
६४. आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में प्रेम की परिकल्पना
—डॉ० विजयमोहन सिंह
६५. उपन्यास शिल्प और प्रवृत्तियां—डॉ० सुरेश सिन्हा
६६. हिन्दी के सात युगान्तरकारी उपन्यास—रामप्रकाश कपूर
६७. हिन्दी उपन्यास शिल्प और प्रयोग—डॉ० त्रिभुवन सिंह
६८. उपन्यास तत्व एवं रूप विधान—श्रीनारायण अग्निहोत्री
६९. हिन्दी उपन्यास मे चरित्र चित्रण का विकास—डॉ० रणवीर रांग्रा
७०. कुछ विचार—प्रेमचंद
७१. प्रेमचंद : एक विवेचना—डॉ० इन्द्रनाथ मदान
७२. टेढे-मेढे रास्ते : एक समीक्षा—डॉ० देवराज उपाध्याय
७३. हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद—डॉ० त्रिभुवन सिंह
७४. अज्ञेय का कथा साहित्य—ओम प्रभाकर
७५. अंग्रेजी उपन्यास का विकास—श्रीनारायण मिश्र
७६. साहित्य दर्शन—शचो रानी गुर्टू
७७. आधुनिकता बोध और आधुनिकीकरण—डॉ० रमेशकुन्तल मेघ
७८. अत्याधुनिक हिन्दी साहित्य—डॉ० कुमार विमल
७९. प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों की शिल्प विधि—डॉ० सत्यपाल चुघ

८०. हिन्दी उपन्यास : सिद्धांत और समीक्षा—डॉ० मक्खनलाल शर्मा
८१. हिन्दी उपन्यास : उपलब्धियां—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
८२. समकालीन हिन्दी साहित्य—वेद प्रकाश शर्मा
८३. द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास
—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
८४. गोदान—प्रेमचंद
८५. तितली—जयशंकर प्रसाद
८६. सुनीता—जैनेन्द्र कुमार
८७. प्रेत और छाया—इलाचंद्र जोशी
८८. आदर्श हिन्दू—लज्जाराम शर्मा
८९. मदन मोहिनी—किशोरी लाल गोस्वामी
९०. कंकाल—जयशंकर प्रसाद
९१. विवर्त—जैनेन्द्र कुमार
९२. शेखर : एक जीवनी—अज्ञेय
९३. श्रीकान्त—शरतचंद्र
९४. सेवा सदन—प्रेमचंद
९५. झूठा-सच—यशपाल
९६. बूंद और समुद्र—अमृतलाल नागर
९७. अंधेरे बंद कमरे—मोहन राकेश
९८. टोपी शुक्ला—राही मासूम रजा
९९. अलग-अलग वैतरणी—शिवप्रसाद सिंह
१००. राम दरबारी—श्री लाल शुक्ल

अंग्रेजी के संदर्भ-ग्रंथ

१०१. एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका—खण्ड ७,९,१२,१८
१०२. द डिक्शनरी आफ फिलासफी
१०३. शॉर्ट हिस्ट्री आफ द फ्रेंच रिवोल्यूशन—ई० डी० ब्रिडी
१०४. द ग्लिम्प्सेज आफ वर्ल्ड हिस्ट्री—जवाहर लाल नेहरू
१०५. द इगो एण्ड हिज ओन—मेक्स स्टिर्नर
१०६. इण्डिवीजुअलिज्म : मार्डन पोलिटिकल थ्योरी—जोड
१०७. इण्डिवीजुअलिज्म ओल्ड एण्ड न्यू—जान ड्यू
१०८. द इण्डिवीजुअल एण्ड सोसाइटी—बी० बाइखोवस्की
१०९. ए हिस्ट्री आफ फिलासफी—फ्रेंक थिली
११०. एक्जिस्टेन्शियलिज्म वदिन—ई० एल० एलेन

१११. ग्रेट वायस आफ द रिफार्मेशन—हैरी एमरसन
११२. द स्टोरी आफ द रिफार्मेशन—विलियम स्टीवेन्सन
११३. सिस्टेमेटिक थियोलाजी—खण्ड १
११४. लेक्चर्स बाई विवेकानंद डिलीवर्ड इन डिट्रायट
११५. द कम्प्लीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानंद—खण्ड ३
११६. द हिस्ट्री आफ द इंग्लिश नावेल—खण्ड १०—बेकर
११७. डिटरमिनिज्म, फ्री विल एण्ड मारल रिस्पांसिबिलिटी —गेराल्ड ड्वार्किन
११८. द लाइफ आफ ग्रीस—डब्ल्यू० ड्वीण्ट
११९. द नावेल एण्ड द पीपुल—राल्फ फॉक्स
१२०. स्ट्रगल फार फ्रीडम—के० एम० मुंशी
१२१. हिस्टोरिकल डेवलपमेंट आफ कम्यूनिस्ट मूवमेंट इन इण्डिया —सोमेन्द्रनाथ टैगोर
१२२. डिस्कवरी आफ इण्डिया—जवाहरलाल नेहरू
१२३. यंग इण्डिया—महात्मा गांधी
१२४. ह्वीदर वुमन—वाय० एम० रीग
१२५. द सोशियोलाजी आफ लिटरेरी टेस्ट—के० एल० शुकिंग
१२६. द इम्पेक्ट आफ साइंस आन सोसाइटी—बर्ट्रेण्ड रसेल
१२७. डिटरमिनिज्म एण्ड फ्रीडम इन द एज आफ माडर्न साइंसेज —सिडनी हुक
१२८. द मदर्स—आर० ब्रिक्फाल्ट
१२९. स्टडीज इन द डाइंग कल्चर—क्रिस्टोफर काडवेल
१३०. आस्पेक्ट्स आफ द नावेल—ई० एम० फार्स्टर
१३१. द नावेल एण्ड द आथर—सामरसेट माम
१३२. द ट्वेंटियथ सेंचुरी नावेल—जोसेफ वारेन बीच
१३३. एन इंट्रोडक्शन टू द स्टडी आफ लिटरेचर—हडसन
१३४. द क्राफ्ट आफ फिक्शन—लब्बक
१३५. द टेक्नीक आफ नावेल राइटिंग—होगार्थ
१३६. ए ट्रीटाइज आन द नावेल—राबर्ट लिडेल
१३७. वुमन एण्ड न्यू रेस—मार्गरेट सैंजर
१३८. हार्डी : द नावेलिस्ट—डेविड सेमिल
१३९. हार्डी : कलेक्शन आफ क्रिटिकल एसेज—अल्बर्ट जे० के० गेराल्ड
१४०. नावेलिस्ट्स आन द नावेल—एलाट मिरियम
१४१. टाइम एण्ड नावेल—चार्ल्स लैम्ब

१४२. टेस—थामस हार्डी
१४३. हैमलेट—शेक्सपियर

पत्र-पत्रिकाएं

धर्मयुग, आलोचना (उपन्यास अंक), कादम्बिनी, साप्ताहिक हिन्दुस्तान सारिका।

भगवतीचरण वर्मा की कृतियां

१. मधुकण
२. प्रेम संगीत
३. मानव
४. एक दिन
५. त्रिपथगा
६. रंगों से मोह
७. इंस्टालमेंट
८. दो बांके
९. राख और चिंगारी
१०. बुझता दीपक
११. रुपया तुम्हें खा गया
१२. साहित्य की मान्यताएं
१३. हमारी उलझन
१४. वासवदत्ता
१५. पतन
१६. चित्रलेखा
१७. तीन वर्ष
१८. टेढ़े-मेढ़े रास्ते
१९. आखिरी दाव
२०. अपने खिलौने
२१ भूले-बिसरे चित्र